उत्तर भारत में जैन धर्म

(ई पू 800 से ई प 526)

•

अंग्रेजी में लेखक

चिमनलाल जसिंह शाह, एम ए,

•

आमुख लेखक :

पादरी एच हेरास, एस जे

डाइरेक्टर, इण्डियन हिस्टोरिकल रिसर्च
इंस्टीट्यूट, सेंट जेवियर्स कालेज बम्बई

•

हिन्दी अनुवादक

कस्तूरमल बांठिया

यमुना नगर (पंजाब)
तारीख 9-6-59

प्रकाशक | सेवा मन्दिर रावटी जोधपुर. 342 024

सम्करण | प्रथम प्रवेश

वर्ष | विक्रम सवत 2047 वीर सवत् 2516 शक सवत् 1912, ईस्वी सन् 1990

प्रति | 1000

पृष्ठ | 240

आकार | रॉयल आक्टेव (20 × 30 आठ पेजी)

आर्थिक सौजन्य | श्री नौरत्नमलजी सरदारमलजी मुनोत रियावाले रुपये 15000

मूल्य

	रु.
कागज (20 × 30 क्रीम वोव) 31 रीम	6200 00
छपाई व प्रूफ रीडिंग 30 फर्मे × 170	5100 00
जिल्द बधाई व भाडा इत्यादि अन्य व्यय	5700 00
कुल व्यय	17000 00
बाद अनुदान	— 15000 00
लागत	2000 00
एक प्रति का विक्रय मूल्य	2 00

(पुस्तक विक्रेता अपना नफा खर्चा अतिरिक्त लेगा)

वितरक | सत्साहित्य वितरण केन्द्र सेवा मन्दिर रावटी जोधपुर, 342 024

मुद्रक | श्याम प्रिन्टिग प्रेस त्रिपोलिया स्ट्रीट, घासमण्डी रोड, जोधपुर

आर्थिक सहयोगी



सेठ श्री सरदारमलजी मुनोत रियावाला

कुचामन सिटी (राजस्थान)

- सक्षिप्त परिचय -

आपका जन्म राजस्थान में नागौर जिले के अन्तर्गत कुचामन सिटी में 75 वर्ष पूर्व हुआ। आप श्रीमान् सेठ श्री तेजमलजी मुनोत के द्वितीय सुपुत्र हैं। आप बहुत ही सरल प्रकृति शान्त स्वभावी हसमुख व्यक्ति हैं। सभी सत सतियों के प्रति आपकी गहरी श्रद्धा है। समाज के हर कार्य में आप व आपका परिवार हमेशा अग्रसर रहते है। आपके पाच सुपुत्र दो सुपुत्री एव दस पौत्रो का हराभरा सुखी परिवार है।

आप एव आपके परिवार के सदस्य कोई भी सामाजिक शैक्षणिक स्वास्थिक कार्य के आयोजन मे हमेशा बडी दिलचस्पी से तन, मन व धन से पूरा करके ही बडा सन्तोष अनुभव करते हैं। आपका परिवार समाज की कई सस्थाओं से जुडा हुआ है। आप अपने व्रत प्रत्याख्यान के पक्के दृढ श्रावक हैं। आपके पाचो सुपुत्र बम्बई मे बिल्डिंग कन्स्ट्रक्सन (भवन निर्माण) का व्यापार करते हैं। आप व आपके सुपुत्र अनेक समाज सेवी सस्थाओं को मुक्त हस्त से दान देते है।

आप मारवाड के अढाई घरो में से एक घर कहलाने वाले रिया वाले सेठो के परिवार में जन्म लेने वाले एक पारिवारिक सदस्य हैं। इस परिवार ने जोधपुर एव जयपुर राज घरानो को आर्थिक सहायता काफी मात्रा में की है और इसीलिए इस परिवार को सेठो की पदवी से सुशोभित किया था। और दरबार में हमेशा इस परिवार का सम्मान से देखा जाता था। भारत जैन महामण्डल का तीन वर्ष पूर्व बम्बई का अधिवेशन सफल बनाने में आपका पूर्ण योगदान रहा।

आमुख

श्री चिमनलाल जैसिह शाह 'इण्डियन हिस्टोरिकल रिसर्च इस्टीट्यूट' के अग्रगण्य विद्यार्थियो मे से एक हैं और उनका यह ग्रन्थ उनकी इस महान् सस्था की प्रतिष्ठा रूप ही सिद्ध होगा। श्री शाह धर्म से जैन है और उन्होने अपनी गवेषणा का विषय जैन धर्म का प्राचीन इतिहास पसन्द किया, जिसके अध्ययन के परिपाक रूप मे इस ग्रन्थ की रचना हुई है।

भारतवर्ष के सब महान् धर्मो के अवलोकन मे जैन धर्म की अधिक उपेक्षा की गई है। इस ग्रन्थ मे जैन धर्म के प्राचीन इतिहास मे जो-जो ऐतिहासिक एवम् दतकथा रूप मे है वही सब नही दिखाया गया है, अपितु इस महान् धर्म के सस्थापक के सिद्धात उनके शिष्यो के बीच हुए मतभेद और उसके फलस्वरूप नए नए सम्प्रदायो के उद्भव, और उस बौद्ध-बधुधर्म के साथ हुए सतत् सघर्ष का विवेचन भी इसमे किया गया है कि जिसके साथ इस देश मे जन्म लेते हुए भी यह तो आज तक जीवित और टिका हुआ है और बौद्ध-धर्म का प्राय. नाम शेष ही हो गया है।

श्री शाह के जैन धर्म के इस इतिहास मे दो सीमाए देखने मे आयेंगी—एक तो भौगोलिक और दूसरी कालक्रम की। दक्षिण-भारत मे सर्वत्र जैन धर्म बहुत शीघ्र ही फैल गया था और वहा उसने ऐसे नए समाज की स्थापना कर ली थी कि जिसके न केवल गुरू ही दूसरे थे अपितु व्यवहार और विधि-विधान एवम् आचार-विचार भी भिन्न हो गए थे। संक्षेप मे दक्षिण-भारत के जैन धर्म का इतिहास उत्तर-भारत के जैनधर्म के इतिहास से एक दम ही भिन्न है और वह अपनी भिन्न ऐतिहासिक इकाई बनाता है। इसीलिए श्री शाह ने अपने इस ग्रन्थ की भौगोलिक सीमा आर्यावर्त याने उत्तर-भारत ही रखी है।

श्री शाह की दूसरी सीमा काल सम्बन्धी है। उनका यह इतिहास ई सन् 526 मे समाप्त हो जाता है जब कि वल्लभी की सभा या परिषद मे जैन धर्म के सिद्धात का अन्तिम रूप निश्चय और स्थिर किया गया था। जैन धर्म के इतिहास मे यह प्रसग अत्यन्त महत्व का अवस्थान्तर निर्देशक था। इसके पूर्व जैनधर्म प्राथमिक सरल दशा मे ही था। परन्तु वह दशा सिद्धान्त के सहिता-बद्ध किए जाने के पश्चात् एक दम ही विलय हो गई। इस काल के पश्चात् जैनधर्म नियत एव स्थायी भाव धारण करता हुआ दीख पडता है और उसकी वास्तविकता एवम् सत्यप्रियता भी वह गुमाता जाता है। फिर भी श्री शाह ने गवेषणा के लिए प्राचीन समय ही पसन्द किया है क्योकि वह इतिहास अति रोचक और सस्कृति की दृष्टि से बहुत ही महत्व का है।

आशा है कि इस ग्रन्थ की पद्धति के विषय मे अत्यन्त सूक्ष्मदर्शी इतिहासवेत्ता को भी कुछ विशेष आपत्ति-जनक बात मालूम नही होगी क्योकि एक तो मनुष्य-कृति सम्पूर्णतया दोष रहित तो हो ही नही सकती है और दूसरे श्री शाह की यह प्रथम रचना है इन दोनो ही दृष्टि से यह सम्पूर्ण ग्रन्थ पाठको और समालोचको की उदारता का पर्याप्त पात्र होगा यह आशा है। फिर भी यह कहना आवश्यक है कि श्री शाह ने दूसरे विद्वानो का कहा अथवा प्रतिपादन किया हुआ देख कर ही सतोष नही कर लिया है क्योकि तब तो वह स्वतन्त्र गवेषणा नही अपितु सग्रह मात्र ही हो या रह जाता। उन्होने इस ऐतिहासिक ग्रन्थ की रचना करने मे प्रत्येक मूल वस्तु का अध्ययन और मनन स्वयम् किया है, मतमतातरो के गुण-दोषो का विवेचन किया है, मूल वस्तु की मूल वस्तु के साथ तुलना की है, और इस प्रकार अथक परिश्रम ले कर एक ऐतिहासिक की उचित निष्पक्ष दृष्टि से

समालोचना करते हुए भारतवष के इतिहास के एक अत्यन्त अ धकाराविष्ट युग पर अत्यन्त सुन्दर रीति से प्रकाश डाला है।

श्री शाह का यह ग्रन्थ इण्डियन हिस्टोरिकल रिसच इन्स्टीटयूट के भारतीय इतिहास का अभ्यास का छठा ग्रन्थ है। यह प्रकाशन उनके अनुगामियो सस्था के हाल के शोधस्नातको को नवीन प्रोत्साहन देगा यही आशा की जाती है। भारतवष के भूतकाल मे अभी भी बहुत से अगम्य तत्व पडे हैं जो कि भविष्य की प्रजा के कल्याण के लिए भारतवष के भावी इतिहासकारो से अविरत परिश्रम की अपेक्षा रखते हैं। इतिहासवक्ता का काय सत्य की खोज करना ही है। यदि हम उसको एकाग्र, विशुद्ध और निष्पक्ष दृष्टि से अवलोकन या निरीक्षण करें तो सत्य स्वत ही सदा प्रकट हो उठेगा और फिर वह सत्य स्वयम् हमारे प्रयासो की विजय गाथा बन जाएगा।

एच हेरास, एस जे
डाईरेक्टर इण्डियन हिस्टोरिकल रिसच इन्स्टीटयूट
सेंट जेवियस कालेज बम्बई

तारीख 15 जनवरी 1931।

उत्तर भारत मे जैन धर्म

-: विषय सूची :-

पहला अध्याय - महावीर पूर्वोत्तर जैन धर्म

दूसरा अध्याय—महावीर और उनका समय

(1)

(2)

(3)

(4)

तीसरा अध्याय राज्यवंशी कुटुम्बो मे जैन धम
(ई. पू. 800 से ई. पू. 200 तक)

(1)

(2)

चौथा अध्याय— कलिंग–देश में जैन धर्म

पांचवां अध्याय—मथुरा के शिलालेख

छठा अध्याय—गुप्तकाल में जैन धर्म की स्थिति

सातवां अध्याय—उत्तर का जैन साहित्य

आठवां अध्याय—उत्तर मे जैन कला

*

:: मूलग्रन्थ की चित्र सूची .

233 [illegible] 12[illegible] [illegible] 1932 [illegible] 1917 [illegible]

: संकेत सूची :

आहिप्रार	—	आध्र हिस्टोरिकल रिसर्च सोसाइटी ।
एरि	—	एशियाटिक रिसर्चेज ।
आसइ	—	आर्कियालोजिकल सर्वे आफ इण्डिया (एन्युअल रिपोर्टस) ।
आसरि	—	रिपोर्टस आफ दी आर्कियालोजिकल सर्वे आफ इण्डिया (कनिंघम) ।
आसव्यैइ	—	आर्कियालोजिकल सर्वे आफ व्यैस्टर्न इण्डिया ।
इण्डि-एण्टी	—	इण्डियन एण्टीपक्वेरी ।
इण्डि हिक्वा	—	इण्डियन हिस्टोरीकल क्वार्टर्ली ।
एसा. बि	—	एसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका ।
एपी इण्डि.	—	एपीग्राफिका इण्डिका ।
एपी. कर्णा	—	एपीग्राफिका कर्णाटिका ।
एरिए	—	एसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स ।
कैहिइ	—	कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया ।
काइइ	—	कारपस इस्क्रिप्शनम इण्डिकारम ।
अप्रापत्रिका	—	अमेरिकन ओरियटल रिसर्च सोसाइटी पत्रिका ।
बएसो पत्रिका	—	एशियाटिक सोसाइटी आफ बगाल, पत्रिका ।
बशाएसो पत्रिका	—	रायल एशियाटिक सोसाइटी, बबई शाखा, पत्रिका ।
बिउप्रा पत्रिका	—	बिहार एण्ड उडीसा रिसर्च सोसाइटी पत्रिका ।
जेडीएल	—	जरनल आफ दी डिपार्टमेट आफ स्पेटर्स ।
जैग	—	जैन गजट ।
बएसो कार्य पत्रिका	—	जरनल एण्ड प्रोसीडिंग्ज आफ दी एशियाटिक सोसाइटी आफ बगाल ।
राएसो पत्रिका	—	जरनल आफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी ।
जैसास	—	जैनसाहित्य सशोधक ।
मैआस	—	मैसूर आर्कियालोजिकल सर्वे रिपोर्ट ।
मवि	—	मराठी विश्वकोश (एसाइक्लोपीडिया)
सेबुबु	—	सेक्रेड बुक्स आफ दी बुद्धीस्ट्स ।
सेबुई	—	सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट ।
सेबु जै	—	सेक्रेड बुक्स आफ दी जैनाज ।
जेडडी एमजी	—	जैयटशिफट् डेर डायशन मोरगनलाण्डिशन गैसेलशाफ्ट ।

*

लेखक का प्राक्कथन

यह दुर्भाग्य की ही बात है कि भारतीय पुरातत्व के अभ्यास स जनधम के विषय म आज तक जितना भी कहा गया है वह उसकी तुलना मे नगण्य है कि जो कहा जाने का शेष है। अनेक प्रमाणो से यह सिद्ध किया जा सकता है कि यद्यपि जनधम का समकालीन बधुधम, बौद्धधम भारतवष की सीमा मे से लगभग अदश्य हो गया था फिर भी विद्वानो से उसको आवश्यक याय प्राप्त हुआ है। परन्तु जनधम को जो कि देश म आज तक भी टिका हुआ है और जिसने इस विशाल देश की सस्कृति एव उसकी राजकीय और आर्थिक घटनाओ पर भी भारी प्रभाव डाला है, विद्वानो स आवश्यक याय प्राप्त नही हुआ और न आज भी प्राप्त हो रहा है यह महा सत्य की जान है।[1] श्रीमती स्टीव मन लिखती है कि यद्यपि जनधम किसी भी रीति से कही भी राजधम नही है फिर भी आज जो प्रभाव उसका देखा जाता है वह भारी है। उसके साहूकारो और सराफो का धन वभव ऋणदाताओ व साहूकारो का सर्वोपरि महान् धम होने की उसकी स्थिति से इसका राजकाज पर प्रभाव विशेष रूप से देशी राज्यो म सदा ही रहा है। यदि कोइ इसके इस प्रभाव म शका करता हो तो उसे देशी राज्यो की ओर से प्रकाशित जना के पवित्र धार्मिक दिवसो म जीवहिंसा बन्द रखने सबधी आज्ञापत्रो की सख्या भर देख लेना चाहिए।[2] भारतवष की जनसख्या के जन नि सदेह एक महान् और जाहोजलाली एव सत्ता की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग है।[3]

हटल नि सन्देह सत्य कहता है कि भारत की सस्कृति पर और विशेषतया भारत के धम और नीति कला और विद्या साहित्य और भाषा पर जनो ने प्राचीन काल म जो प्रभाव डाला था और आज भी जो वे डालते जा रहे हैं उस सब को समझने और जनधम की उपयोगिता को स्वीकार करने वाले पाश्चात्य विद्वान बहुत ही कम है।[4] श्री जनी, श्री जायसवाल श्री घोषाल आदि कतिपय प्रसिद्ध विद्वानो के सिवा किसी भारतीय विद्वान ने इस दिशा म सतोषप्रद कोई काय नही किया है। बौद्धधम के प्रति विद्वानो का पक्षपात अकारण नही है क्योकि वह धम एक समय इतना विशाल व्याप्त था कि उसे एशिया महाद्वीप का धम कहना भी अतिशयोक्तिपूर्ण नही था। पक्षा तर मे जनधम यद्यपि मर्यादित क्षत्र मे ही रहा था फिर भी श्री नानालाल चि महता के अनुसार चीनी तुर्कस्तान के गुहा मदिरो म उसके प्रासगिक चित्र भी देखने को हम मिल जाते है।[5]

जनधम के तुलनात्मक अभ्यास के लिए प्रामाणिक साधन नही मिलने एव बौद्धधम के प्रति पक्षपात के कारण इसके विषय म भुलावे म डालने वाले अनुमान कितने ही पाश्चात्य प्रसिद्ध विद्वानो को करने पड थे क्योकि इन दोनो बधुधर्मो का प्राचीन इतिहास एकसा ही उनके देखने मे आया था। सौभाग्य से पिछले कुछ वर्षो म ये विचित्र अनुमान पाश्चात्य एव पौर्वात्य विद्वानो द्वारा यद्यपि सशोधित हो गए हैं फिर भी इन भ्रामक और असत्य अनुमानो के कुछ उदाहरण यहा देना अप्रासगिक नही होगा। श्री ड ल्यू एम लिले कहता है कि 'बौद्धधम अपनी जन्मभूमि मे जनधम के रूप मे टिका हुआ है। यह निश्चित बात है कि जब भारतवष से बुद्धधम अदश्य हो गया जनधम दिखलाई पड़ा था।'[6] श्री विरसन कहता है कि सब

---

1 जनी आउटलाइन्स आफ जनीज्म प 03।

2 स्टीव मन श्रीमती) दी हाट आफ जनीज्म प 19।

3 विरसन ग्रथावली भाग 1 प 347।

4 हटल ओन दी लिटरेचर आफ दी श्वेताम्बराज आफ गुजरात, प 1।

5 मेहता, स्टडीज इन इण्डियन पेंटिंग प 2। हेमचन्द्र और अन्य परम्परा के अनुसार भी जनधम आज के भारतवष की सीमा म ही परिसीमित नही था। देखो हेमचन्द्र परिशिष्टपर्वन् याकोबी सम्पादित, प 69 282। देखो मराठी विश्वकोश भाग 14 प 144।

6 लिले इण्डिया एण्ड इट्स प्राब्लम्स प 141।

विश्वस्त प्रमाणों से भी यह अनुमान दूर नही किया जा सकता है कि जैनजाति एक नवीन संस्था है और ऐसा लगता है कि वह सर्व प्रथम आठवी और नवी सदी ईसवी मे वैभव और सत्ता मे आई थी। इससे पूर्व बौद्धधर्म की शाखा रूप मे वह कदाचित् अस्तित्व मे रही हो, और इस जाति की उन्नति उस धर्म के दब जाने के बाद से ही होने लगी हो कि जिसको स्वरूप देने मे इसका भी हाथ था।'[1]

श्री कोलब्रुक जैसे लेखको ने गौतम-बुद्ध को महावीर का शिष्य मान लेने की भूल की थी क्योकि महावीर का एक शिष्य इन्द्रभूति भी गौतमस्वामी या गौतम कहलाता था।[2] एड्वर्ड टामस कहता है कि 'महावीर के पश्चात् इसके धर्म मे दो दल हो गए थे। बुद्ध के समानार्थी नामवाले इन्द्रभूति को पूज्य पुरुष का स्थान दिया गया क्योकि बौद्ध और जैनशास्त्रानुसार 'जिन' और 'बुद्ध' का अर्थ एक ही होता है।'[3] परन्तु यह सत्य नही है क्योकि 'जिन' का अर्थ 'जेता' और 'बुद्ध' का अर्थ 'ज्ञाता' होता है।

रायल एशियाटिक सोसाईटी की सार्वजनिक सभा मे पढे गए निवन्ध मे कोलब्रुक ने कहा था कि 'जैसे डॉ एमिल्टन और मेजर डीलामेने कहते है, जैनो और बौद्धो का गौतम एक ही व्यक्ति है और इससे एक दूसरा विचार भी उद्भवित होता है और वह यह कि ये दोनो धर्म एक ही वृक्ष की शाखाए हो। जैनो के कथनानुसार महावीर के ग्यारह शिष्यो मे से एक ने ही अपने पीछे आध्यात्मिक उत्तराधिकारी छोडे थे, अर्थात जैनाचार्यो का उत्तराधिकारी मात्र सुधर्मा स्वामी से ही चल रहा है। ग्यारह शिष्यो मे से मात्र इन्द्रभूति और सुधर्मा दो ही महावीर के बाद विद्यमान रहे थे। पहला शिष्य गौतमस्वामी नाम से प्रसिद्ध था और उसका कोई भी उत्तराधिकारी नही था। इससे यथार्थ निष्कर्ष यह मालूम होता है कि इस जीवित शिष्य के कोई भी अनुयायी नही था ऐसा नही अपितु यह कि वे जैनधर्मी नही थे। इस गौतम के अनुयायियो का ही बौद्ध धर्म बना जिसके कि सिद्धान्त बहुताश मे जैनधर्म के जैसे ही है। पक्षान्तर मे सुधर्मास्वामी के अनुयायी जैन है। तीर्थंकरो का इतिहास, कथानक और पुराण दोनो ही के एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न है।'[4]

कितने ही नामो और नियमो की ऐसी आकस्मिक समानता पर से रचित दोनो ओर के इन शीघ्र अनुमानो और प्रमाणो को जैसे किसी भी प्रकार से ऐतिहासिक नही कहा जा सकता है, वैसे ही उन्हे न्यायसंगत भी नही कहा जा सकता है। डॉ याकोबी के शब्दो मे यदि कहे तो 'ऐसी साम्यता फल्यूलेन के ऐसे न्याय सिद्धात पर ही टिकी रह सकती है कि मैसीडोन मे एक नदी है और मान्मथ (Monmouth) मे भी एक नदी है। मान्मथ की नदी को वाई कहते हैं। परन्तु दूसरी नदी का वास्तविक नाम अब क्या है यह मुझे स्मरण नही है। परन्तु वह सब एक ही है। जैसे मेरी अगुलियाँ एक दूसरे से मिलती हैं वैसी ही वे भी है और दोनो मे ही सालमन जाति की मछलिया है।'[5]

डॉ हापकिंस जैसे सुप्रसिद्ध विद्वान ने भी 'मूर्तिपूजा, देवपूजा और मनुष्यपूजा' को महावीर के साथ एकान्त रूप से जोड दिया है। वह जैनधर्म के संबंध मे कहता है कि 'भारत के सब महान् धर्मो मे से नातपुत्त का धर्म ही न्यूनतम रोचक है और प्रत्यक्षत जीवित रहने का वह न्यूनतम अधिकारी है।'[6] उसका इस सम्बन्ध का एक पक्षीय विचार अथवा उसका अज्ञान इतना गहरा जान पडता है कि अपने अतिम निवेदन मे भी इसी प्रकार के विचार वह दोहराए विना नही रह सका था क्योकि वह अन्त मे लिखता है कि 'जो धर्म मुख्य सिद्धात रूप से ईश्वर को नही मानना, मनुष्य पूजा करना और कीडी-मकोडी की रक्षा-पोषण करना सिखाता है, उसको वस्तुत जीवित रहने का ही न तो अधिकार है और न उसका विचार-तत्वज्ञान के इतिहास मे ही एक दर्शनरूप से कोई अधिक प्रभाव ही कभी रहा है।'[7] डा हापकिंस के ये अनुमान इतने बहिर्मार्गी हैं कि उन्हे कपोलकल्पित और अपक्वनिर्णयो के रूप मे निषेध करके ही हम सत्य के अधिक समीप पहुँच सकते है। क्योकि 'अनेक पदार्थों की ही भाति जिसे

---

1 विल्सन, वही, पृ 334।
2 याकोबी, कल्पसूत्र पृ 1।
3 टामस (एड्वर्ड), जैनीज्म ऑर दी अर्ली फेथ ऑफ अशोक, पृ 6।
4 कोलब्रुक, मिसलेनियस एसेज, भाग 2, पृ 315, 316।
5 याकोबी, इण्डि एण्टी, पुस्त 9, पृ 162।
हापकिंस रिलीजन्स ऑफ इण्डिया, पृ 296।
ो, पृ 297।

उसके कथनानुसार जीवित रहन का कोई अधिकार नहीं है वह जनधम दो हजार से अधिक वर्षों म भी जीवित है इतना ही नही अपितु उसने साधुओं एव गहस्था म अनक उत्तम कोटी के पुरुष भी उत्पन्न किए हैं और अत्यन्त श्रद्धालु और सत्य माग शोधक अनक उपासको और भक्तो को माग दशन कराकर वास्तविक शाति भी प्रदान की है ।[1]

परन्तु ऐसे विचार के व्यक्ति डा हार्पकिस ही अकेले नहा है । परन्तु ऐसे दूसरे विद्वानो से हमे उसका पथक करना ही होगा क्योकि वह ऐसा बबुनियाद अपने निष्कर्षो को भ्रम निवारण किए जाने पर विरेचन नही करने जसा दुराग्रही और सत्यविमुख नही था । श्री विजयन्द्रसूरिजी को एक पत्र म उसन लिखा था कि मुझ अब एकदम पता लग गया है कि जना का व्यवहारी घम प्रत्येक रीति स प्रशसापात्र है । तब मैं निश्चय ही दुखी हू कि लोगो के चारित्र और नतिकता पर इस धम ने जो आश्चय जनक प्रभाव डाला उसकी ओर ध्यान दिए बिना ही ईश्वर को नही मानने केवल मनुष्य पूजा करन और कोडी मकोडी की रक्षा पोषण करने वाले के रूप म जनधम की मैंने निंदा की । परन्तु जसा कि बारबार बना करता है धम के साथ गाढ सम्बध ही न कि पुस्तको द्वारा प्राप्त किए बाहरी ज्ञान, उसकी विशिष्टताओं का दिग्दशन कराता है और समष्टि म अत्यन्त अनुकूल वातावरण वही उत्पन्न करता है ।'[2]

आश्चय की बात बस इतनी ही है कि इस अपूर्ण अभ्यास के प्रत्यक्ष परिणामो स ही लम्बे समय तक जनधम पाश्चात्य विद्वानो की दृष्टि म बौद्धधम की एक शाखा मात्र माना जाता रहा था । ऐसी खोटी धारणा से पुरातत्व की इस शाखा के अभ्यासी शोधको का ध्यान जनधम के सुन्दर तत्वो की ओर क्वचित् ही गया और ऐसे भ्रम कुछ काल तक अवश्य ही चलते रहे थे । परन्तु जनधम एक स्वतन्त्र धम रूप म सिद्ध हो चुका है इसमे अब तो इन्कार किया ही नही जा सकता है । इस भ्रम निवारण के लिए डा याकोबी और डा बूलर जस विद्वान धन्यवाद के योग्य हैं ।

इन दो सुप्रसिद्ध विद्वानो के अविरत प्रयास के फल स्वरूप जनधम विषयक अज्ञान भ्रम दिनोदिन दूर होता जा रहा है । डा याकोबी के श्री भद्रबाहु के कल्पसूत्र की प्रस्तावना और श्रीमहावीर और उनके पुरोगामी[3] अनुक्रम से ई सन् 1879 और 1880 म प्रकाशित विद्वत्तापूर्ण दो लेख और सन् 1887 म पढा गया डा बूलर का 'जनो की भारतीय शाखा लख ही जनधम के शास्त्रीय या बुद्धिगम्य और विस्तत विवरण देनेवाले सव प्रथम लेख थ । इन प्रसिद्ध विद्वानो की कीर्ति महान् बुद्धिमत्ता और तात्विक सूक्ष्म दृष्टि म इस विषय की विवेचना न इस अद्भुत धम के प्रति योरोपीय विद्वानो का ध्यान आकर्षित किया और जो काय उन्होंने प्रारम्भ किया था वह न केवल आज दिवस तक चलता ही रहा है अपितु उसके अनेक सुन्दर परिणाम भी आए है । सद्भाग्य स आज जनधम के प्रति दृष्टि म दशनीय अन्तर पड गया है और भूतकाल म ज्वलत भाग लेन वाले और जगत की प्रगति संस्कृति और सभ्यता की वद्धि म जगत के अन्य धर्मो जितना ही अद्वितीय योगदान देनवाले इस धम को जगत के धर्मो म इसका उपयुक्त स्थान प्राप्त होने लगा है ।

इसी सम्बन्ध म श्री स्मिथ कहता है कि यह शकास्पद सत्य है कि किसी भी काल म समग्र भारत का प्रचलित धम बौद्धधम ही था ।' इसलिए अनेक लेखको द्वारा प्रयुक्त बौद्धधम युग' नाम को भूठा और भ्रमास्पद कहते वह इसकी निन्दा करता है क्या कि उसका यह कहना है कि ब्राह्मणयुग के स्थान म भारत म जन या बौद्ध युग इस दृष्टि से कभी भी नही रहा कि उसने ब्राह्मणीय हिन्दूधम का स्थान ही ले लिया हो ।[4] वस्तु स्थिति जो भी हो फिर भी इन दोनो धर्मो ने भारत वष के इतिहास के पृष्ठो म अमिट छाप छोडी है और भारतीय विचार जीवन संस्कृति आदि म इन्होने अनुपम योगदान दिया है इसको अस्वीकार किया ही नही जा सकता है । इस ग्रन्थ के निर्माण का मेरा उद्देश्य इसलिए सामान्य जनधम न कि उसके कोई सम्प्रदाय विशेष जसे कि श्वेताम्बर दिगम्बर अथवा स्थानकवासी, उत्तर भारत म किस प्रमाण म फला हुआ था, वह खोजने और उसकी ही वद्धि एवम् विस्तार का इतिहास ही आलेखित करने का है ।

---

1 बलवल्कर ब्रह्मसूत्राज प 120 121 ।
2 ल्हो शाह जन गजट भाग 23 प 105 ।
3 इण्डि एण्टी पुस्त 9 प 158 आदि ।
4 स्मिथ आक्सफोर्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया, प 55 ।

इस महान् धर्म के सिद्धान्त, इसकी सस्थाओ के महान् विकास और उसके भाग्य का वर्णन करने या रूपरेखा देने का ही मेरा विचार नही है। यही क्यो, जैनधर्म का इतिहास, उसके विविध चित्र-विचित्र कथानक और पवित्र धार्मिक साहित्य के द्वैतरूप कि जो श्वेताम्बर या दिगम्बर मान्यता की माग स्वरूप आज हमे प्राप्त है, आदि प्रश्नो की कदाचित् ही मैं चर्चा करूंगा। मेरा प्रयत्न तो मात्र इतना ही होगा कि मैं उन साहसी और वलिष्ट, महान् और यशस्वी पूर्वजो के प्रयासो का जो उन्होने अपने एवम् अपने धर्म के इतिहास निर्माण करने के किए थे, मैं अनुसरण करू और चाहे वह आशिक और परीक्षामूलक ही हो फिर भी उनके योगदान का और विशेषतया उत्तर भारत की प्रसन्न और फलप्रद सास्कृतिक धारा मे दिए योगदान का मूल्याकन करू।

इस प्रकार के ग्रन्थ निर्माण की तीव्र आवश्यकता के इसके सिवाय भी अनेक कारण है क्योकि पिछले सवा सौ वर्षो मे साहित्यिक कृतियो को देखते हुए, विद्वानो ने पौर्वात्य अभ्यासो के विभिन्न विभागो की ओर अत्यन्त दुर्लक्ष किया है। पहला कारण यह है कि उत्तर-भारत का इतिहास तब तक सम्पूर्ण लिखा ही नही जा सकता है जब तक कि वह जैनधर्म के प्रकाश मे नही लिखा जाए क्योकि इस धर्म ने गृहस्थो और राजवशो मे अगणित परिवर्तन किए थे। दूसरा यह कि भारतीय तत्त्वज्ञान का अवलोकन भी जैनधर्म के तत्त्वज्ञानावलोकन के अभाव मे अपूर्ण रह जाता है और यह विशेष रूप से विध्यपर्वत के उत्तर ओर के क्षेत्र के लिए, जहा कि जैनधर्म का जन्म हुआ था, और भी अधिक लागू होता है। तीसरे यह कि यदि भारतीय क्रियाकाण्ड, रीतिरिवाज, दतकथाए, सस्थाए, ललितकला और शिल्प आदि का सुसम्बन्धित और सूक्ष्म अवलोकन करना खोज का विषय हो तो उस उत्तर भारत मे कि जहा बारबार के विदेशी अभियानो के शिकार होने के कारण कोई भी सस्था या धर्म सहीसलामत नही रहे, जैनधर्म के चित्रविचित्र इतिहास को स्वभावत प्रमुख स्थान मिलना ही चाहिए। डॉ हर्टल कहता है कि 'जैनो की वर्णनात्मक कथाए भारत की वर्णनात्मक कला की लाक्षणिक है। उनमे भारतीय प्रजा के जीवन और उसकी पृथक पृथक प्रकार की रीतभाति का वास्तविक और सुसगठित रूप मे वर्णन हमे मिलता है। इसलिए जैन कथा-साहित्य भारतीय साहित्य के विशाल क्षेत्र मे लोकसाहित्य का (उसके विस्तृत अर्थ मे लेते हुए) ही नही अपितु भारतीय सस्कृति के इतिहास का भी सबसे अधिक मूल्यवान मौलिक साधन है।'[1] अन्त मे, राष्ट्र के मानस तथा सभ्यता को जानने का भूतकाल का सूक्ष्म और सावधानी पूर्वक अभ्यास के सिवाय दूसरा रामबाण उपाय कोई भी नही है। ऐसे अध्ययन से ही भूतकाल की अज्ञानजन्य और अन्धपूजा के स्थान मे सत्य और पुरुषोचित अभ्यर्थना स्थापित की जा सकती है।

भारतीय साहित्य की निधि मे जैनो ने जो योगदान दिया है उस सब का इतिहास दिया जाए तो एक स्वतत्र ग्रन्थ की ही रचना हो जाए। जैनो ने प्राचीन भारतीय साहित्य मे धर्म, नीति, विज्ञान तत्त्वज्ञान आदि विषयो द्वारा अपना सम्पूर्ण योगदान दिया है। भारतीय सस्कृति मे जैनो के दिए योगदान का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करते हुए श्री बार्थ लिखता है कि 'भारतवर्ष के साहित्यिक और वैज्ञानिक जीवन मे उन्होने बहुत ही महत्वपूर्ण भाग लिया है। ज्योतिष शास्त्र, व्याकरण और रोमाचक साहित्य उनके प्रयत्नो का आभारी है।'[2]

ललितकला के प्रदेश मे उदयगिरी और खण्डगिरि के पर्वतो पर के निवासगृह और गुहा मदिरो के कुशलतापूर्वक उत्कीर्णित वेष्टनिया (फ्रीजेज), मथुरा के सुशोभित आयागपट तथा तोरण, गिरनार और शत्रुञ्जय की पर्वतमाला पर के स्वतत्र खडे सुन्दर स्तम्भ और आबू एव अन्य पर्वतो पर के जैन मदिरो का अद्भुत शिल्पकाम आदि भारतीय इतिहास और सस्कृति के विद्यार्थी की रस प्रवृत्ति को जाग्रत करने के लिए पर्याप्त है। इसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र मे भी महान् शकराचार्य और ऋषि दयानन्द का पृष्ठबल जैन और बौद्ध प्रभाव के सदियो की प्रतिक्रिया के ज्ञान बिना पूर्ण रूप से जाना ही नही जा सकता है।

साहित्य, कला और धर्म की ये हलचलें महान् राज्यो की सुरक्षित छत्रछाया के बिना विजयी हो ही नही सकती थी। इसलिए हमारा अभ्यास जैनधम की राजसत्ता की सुरक्षा मे हुई प्रगति की खोज करने के काम से प्रारम्भ होना चाहिए क्योकि अपनी क्रमोन्नति मे वह 'कितने ही राज्यो का उस दृष्टि से राजधर्म बन जाता है कि कितने ही महान् राजा उसको स्वीकार कर

---

1 हर्टल, ऑन दि लिटरेचर ऑफ दि श्वेताम्बराज ऑफ गुजरात पृ 8।
2 बार्थ, दी रिलीजन्स ऑफ इण्डिया, पृ 144।

लत है उस ग्रावश्यव उत्तजन देत ह । ग्रार गपना प्रजा का भी व उमी धम की ग्रोर भुका सवन म भी सफल हात है ।[1]

फिर भी हमारा माय कटवाकीरा ह । सत्य ता यह है कि उत्तर भारत व जन धम का सम्पूरा ऐतिहासिक ग्रवग़ाकन पूरा पूरा करा सके एमा एक भी उपयागी ग्र थ उपल घ नहा है तो भी भारतीय इतिहास के विद्यार्थी के लिए न ता वह क्षेत्र एकदम ग्रछूता ही है ग्रौर न यह मात्र एतिहासिक व काल्पनिक नामा का धार्मिक द टा ता का महाका य ग्र ावा धमग्र था की पुराण कथाग्रा का जसा तसा किया हुग्रा मग्रह ही है । क्यांकि यदि ऐसा ही हाता तो हजारो प्राचीन जन साधुग्रा ग्रौर पण्डिता का ग्रन बहुश्रमसम्पादित रचनाग्रो का कि जि ह पीढी प्रति पीढी स्मृति द्वारा ही कि जिसे ग्राज का युग एक चमत्कार ही मानता ह दिया जाता रहा या सुरक्षित रखना ही निरथक हा जाता है । यही क्या विगत डेढ सा वष का सुप्रसिद्ध भारतीय ग्रार विदेशीय पण्डिता ग्रौर पुरातत्वविदा का किया हुग्रा काम भी ग्रकारथ हा जाता है यदि उनके ऐसा क परिणाम स्वरू ग्राज हम एसा सुसम्बद्ध इतिहास कि जो साधारण पाठक की समझ का ग्रौर ग्रभ्यासिया क उपयाग का हो नही लिख पात है ।

जन इतिहास के ग्रनक ग्रश यद्यपि ग्राज भी ग्र धकार म है ग्रार ग्रनक विवरण सम्ब धी प्रश्न ग्रभी ग्रनिश्चित ह ता भी हमारा यह सद्भाग्य ह कि जनयुग क सामा य इतिहास का रचना का काय ग्रब इतना भारी नहा रह गया ह । भारी है या नहा हम ता ग्रपन लिए न ता निजी खाजा का ग्रौर न पौवात्य विद्वत्ता एवम् खाज की मीमाग्रो को किसी प्रकार विस्तृत करन का ही श्रेय का ग्रधिकारी समझत ह ।

ग्र त म 'उत्तर भारत की यारया स्पष्ट कर दना भी हमार लिए ग्रावश्यक है । कृष्णा ग्रौर तु गभद्रा नदी क दक्षिण ग्रोर ग्राए हुए प्रदशो का मर्यादित रूप म दक्षिण भारत कहा जाता है । इन नदियो मे उत्तरीय प्रदेशा का दक्खन ' कहन की प्रथा ह । पर तु दक्षिण ग्रौर उत्तर भारतवष यान नवदा के दक्षिणी ग्रौर महानदी क उत्तरी प्रदश ग्रपन मे ही एक एक इकाई है । इसी इकाई के ग्र र्थ म उत्तर भारत श द का यहा प्रयोग किया गया है । ताप्ती नदी क दक्षिण भाग म ही दक्खन का उच्च प्रदश याने प्लटो निश्चय ही शुरू हाता है । दक्षिण यान उपद्वीपी भारत (पनिन्सूलर इण्डिया)[2] स भारत का वस्तुत पथक करन वाली तो नवदा नदी हा है । इसी उत्तर भारत प्रदेश मे समस्त बारह भाग का जना की लगभग ग्राधी सख्या ग्राज भी रहता ह । य छोटे ... जितन जन एतिहासिक मामाजिक ग्रौर धार्मिक दृष्टि म ग्रपन ग्राप म उमी प्रकार एक निश्चित इकाइ हैं जस कि व द नक गाए रीतिरिवाज ग्रौर मा यता स स्पष्ट रूप म उत्तरीय ह । बाद्धो की भांति उत्तर ग्रौर दक्षिण क दोनों का यह विभजान मूलत भौगोलिक हात हुए भी सिद्धा त, शास्त्रभाषा दन्तकथा ग्रौर रीतिरिवाजो क समस्त शरीर म ही ग्र तत याप्त हा गया है ।[3]

---

1 स्मिथ वही प 55 । 2 श्रीनिवासचारी ग्रार ग्रायगर हिस्ट्री ग्राफ इण्डिया भाग 1 प 3 ।
3 ग्राथ वही प 145 ।

पहला अध्याय

महावीर पूर्वोत्तर जैन धर्म

जैनधर्म से क्या अभिप्रेत है ? "प्राचीन भारत का इतिहास मानव सस्कृति और उसके विकास की तीस सदियो का इतिहास है। यह पृथक-पृथक कितने ही युगो मे विभाजित है। कितनी ही अर्वाचीन प्रजा के समस्त इतिहास की तुलना मे बहुत काल तक खडा रह सके ऐसा वह प्रत्येक युग है।"[1] मानव सस्कृति और उसके विकास के इन तीन हजार वर्षो की कला शिल्प, धर्म, नीति और तत्वज्ञान की अनेक विध प्रगति मे जैनधर्म का योगदान अद्वितीय है। परन्तु जैनधर्म की प्रमुख सिद्धि है "अहिंसा" का आदर्श। जैन मानते हैं कि आज की दुनिया शनै शनै अदृश्य रीति से फिर भी उसी आदर्श की ओर प्रगति कर रही है। प्रत्येक उच्च व्यावहारिक और आत्मिक प्रवृत्ति का ध्येय अहिंसा ही माना जाता हो और भिन्न-भिन्न प्रकार के लोगो के निवास के कारण सस्कृति की उलझनभरी विशाल अभिवृद्धि मे से परिणत हुई सब विभिन्नता के होते हुए भी अहिंसा ही एकता का चिह्न मानी जाती थी ?

जैनधर्म मुख्य रूप से दर्शन के नैतिक अर्थ का सूचक है। जैसे बौद्ध ज्ञानी बुद्ध के अनुयायी हैं वैसे ही जैन वीतराग जिन के अनुयायी है। जैनो के सभी तीर्थंकरो को "जिन" कहा जाता है।[2]

जिन के पृथक-पृथक गुणो पर से उद्भूत अनेक नाम उनकी सफलता के प्रति भक्तो के भावो के प्रदर्शक ह जैसे कि जगतप्रभु—याने जगत का स्वामी, सर्वज्ञ—याने सर्व पदार्थ का ज्ञाता, त्रिकालवित -याने भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनो ही काल को जानने वाला, क्षीणकर्मा—याने सर्व दैहिक कर्मो को क्षीण याने नाश करने वाला, अधीश्वर—याने महान् ईश्वर, देवाधिदेव—याने देवो का भी देव। ऐसे और भी अनेक गुणवाचक नाम जिन के है। फिर कितने ही नाम अर्थसूचक भी है जैसे कि 'तीर्थंकर', या 'तीर्थकर', 'केवली' 'अर्हत्' और 'जिन'। 'तीर्यते अनेन' अर्थात् ससार रूपी समुद्र जिसकी सहायता से तेरा जा सके वह 'तीर्थंकर', प्रत्येक प्रकार के दोष से रहित अपूर्व आध्यात्मिक शक्ति जिसमे हो वह 'केवली,' देवो और मनुष्यो को जो मान्य हो वह 'अर्हत्,' और राग एव द्वेष से परे ऐसा जितेन्द्रिय हो वह जिन' कहलाता है।[3]

---

1 दत्त (रमेशचन्द्र), एन्शॅंट इण्डिया, 1890 पृ 1। 2 उन सब स्त्रियो और पुरुषो को भी यह लागू होता है कि जिन ने अपनी हीन वृत्तियो पर विजय पाली है और जो सब राग-द्वेष को पूर्णतया जीत कर उच्चतम स्थिति पर पहुच गए हैं। देखो राधाकृष्णन, इण्डियन फिलोसोफी, भाग 1, पृ 286। 3 अस्य च जैनदर्शनस्य प्रकाशयिता परमात्मा रागद्वेषाद्यान्तररिपुजेतत्वादन्वर्थक जिनना मधेय। जिनो र्हन् स्याद्वादी तीर्थंकर इति ज्ञानर्थान्तरम्। अतएव तत्प्रकाशित दर्शनमपि जैनदर्शनमर्हत्प्रवचन जैनशासन स्याद्वाददृष्टिरनेकान्तवाद इत्याद्यनिवानैर्व्यपदिश्ते। विजयधर्मसूरि, भण्डारकर स्मृति ग्रन्थ, पृ. 139।

जिन का प्ररूपित धम ही जनधम है। उस जनदशन जैनशासन स्याद्वाद आदि भी कहते है। जनधम पालन वाल गृहस्था को बहुधा श्रावक भा कहा जाता है।[1]

जनधम के प्रारम्भ की निश्चित तिथ बताना कठिन ही नही अपितु असम्भव ह। फिर भी जनधम बौद्ध या ब्राह्मण धम की शाखा है इस प्राचान मान्यता का हम अवाचान खाजा क परिणाम स्वरूप निधडक अशातासूचक और भ्रमात्मक मिथ्यावणन घोषित कर सकत ह। हमार ज्ञान की प्रगति यहा तक हो चुकी है कि अब यह कहना एक ऐतिहासिक भ्राति ही होगा कि जनधम का प्रारम्भ भगवान महावीर से ही हुआ जब तक कि इसका समथन करनेवाले कोई भी ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत नहा किए जाए क्योकि जना के तइसव तीथकर श्री पाश्वनाथ अब एक ऐतिहासिक व्यक्ति पूणतया स्वीकृत किए जा चुक ह और अ य जिना की भाति महावीर उनकी श्रणी म एक सुधारक स अधिक कुछ भी नही थ यह भी स्वीकार किया जा चुका है।

मनुष्य जाति जितना ही धम प्राचीन है अथवा इसका उद्भव बाद म हुआ यह अभी तक भी ऐतिहासिक अन्वेषका का विवेचना का विषय उतना हा बना हुआ है जितना कि धम का प्रारम्भ और तत्वनाम और इसका कोई भी हल उ ह नही मिला है। मानस शास्त्र की दृष्टि से ही इस प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता ह। परन्तु यह प्रश्न निरा दाशनिक हा है। जा किसी भा उच्चतर व्यक्ति या शक्तिया म विश्वास नहा करती हा एसी कोई आदिम जाति या प्रजा आज तक भी नहा मिली है और यह धम के विशाल अथ म एक परम महत्व की बात है।

जब हम किसी विशिष्ट धम का विचार करते है ता भी यह प्रश्न उपस्थित होता ही है कि वह धम मनुष्य जितना ही प्राचीन है अथवा मनुष्य जावन म उसका उत्पत्ति बाद म हुई थी। इस विषय म प्रत्येक धम का बहुताश म यही दावा है कि जा स्पष्टतया परन्तु सक्षप म इस प्रकार कहा जा सकता ह — हमारा धम अनादि और सवव्यापक है और अ य धम सब पाखण्ड हैं। अपन अनादित्व क इस भाव को सिद्ध और समथन करने क लिए प्राय प्रत्यक धम म अनक प्रकार का काल्पनिक या पौराणिक साहित्य ह कि जा धार्मिक रूपका और धमपुस्तकान्तगत पुराणकथाओ का आश्रय देते ह। अस्तित्व रखता हुआ कोई भी धम अनादि और सव यापक हान का अपना दावा वस्तुत सिद्ध कर सकता है अथवा मनुष्य की यह एक निबलता ही है यह कहना हमारा काय नहा है क्योकि यह हमार क्षेत्र क बाह्य विषय ह। अधिक स अधिक हम जन धम क इस विषय म कथन का हा यहा विचार कर सकत है।

---

1 हमचन्द्र अभिधानचिंतामणि अध्या 1 श्लोक 24–25।

2 इस अ याय क अतिम अश का समझना सरल हा जाए इसलिए यहा इस अवसर्पिणी काल क 24 तीथकरा क नाम द लिए जात ह — 1 ऋषभ 2 अजित 3 सभव 4 अभिनदन 5 सुमति 6 पद्मप्रभ 7 सुपाश्व 8 चन्द्रप्रभ 9 पुष्पदन्त अथवा सुविधिनाथ 10 शीतल 11 श्रेयास 12 वासुपूज्य 13 विमल 14 अनत 15 धम 16 शाति 17 कुन्थु 18 अर 19 मल्लि 20 मुनिसुव्रत 21 नमि 22 नमि या अरिष्टनमि 23 पाश्व या पाश्वनाथ और 24 वधमान जिनको महावीर आदि भी कहा जाता है। प्रत्यक तीथकर का परिचायक चिह्न यान लाछन भिन्न भिन्न हाता है और यह लाछन उनकी मूर्ति पर सदा हा पाया जाता ह जस पाश्वनाथ का लाछन फणीसप है और वधमान का सिंह। देखो एतस्य मवसर्पिण्यामपभा जितसभवो आदि—हमचन्द्र वही श्लो 26 20 28।

जैन धर्म का उद्भव और अर्वाचीन खोजो की अपेक्षा अधिक प्राचीन होने के प्रमाण –जैनो की मान्यतानुसार अनेक तीर्थ करो ने जगत के प्रत्येक युग मे बारम्बार जैन धर्म का उद्योत किया था। वर्तमान युग के प्रथम तीर्थंकर ऋपभदेव और अन्तिम दो पार्श्वनाथ एवम् महावीर थे। इन तीर्थंकारो के जीवन-चरित्र जैनसिद्धान्त-पुस्तकान्तर्गत एवम् अनेक महान जैनाचार्यो द्वारा लिखित चरित विशेपो मे सम्पूर्ण रूप से प्राप्त है।[2] इन तीर्थंकरो मे ऋषभदेव का शरीर 500 धनुष्य का और आयु 84,00,000वर्ष पूर्व की कही गई है जब कि अन्तिम दो याने पार्श्वनाथ और महावीर का आयु अनुक्रम से 100 और 72 वर्ष ही था और शरीर भी आजकल के मे मनुष्यो सा ही लम्बा था।[3] इन तीर्थंकरो की आयु और देह का तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हमे ज्ञात हाता है कि ऋपभदेव से आयुष्य और देहमान बराबर उत्तरोत्तर घटते ही आ रहे थे। पार्श्व के पूर्वज बाईसवे तीर्थकर नेमिनाथ का आयुष्य 1000 वर्ष का ही कहा जाता है।[4] अन्तिम दो तीर्थंकरो के दिए गए बुद्धिगम्य आयुष्य और देह ने कितने ही विद्वानो को इस सम्भव परिणाम पर पहुचने की प्रेरणा दी कि ये ही तीर्थ कर ऐतिहासिक पुरुप मानी जाना चाहिए।[5]

पार्श्व और महावीर दोनो ऐतिहासिक है —पार्श्वनाथ के सम्बन्ध मे लेसन कहता है कि इस जिन का आयु उसके पुरोगामियो की भाति कोई भी मर्यादा उल्लघन नही करता है, इसीलिए उसके ऐतिहासिक पुरुप होने की बात को इससे विशेष समर्थन मिलता है।[6]

यह सत्य है कि हम ऐसे तर्क के आधार पर किसी भी प्रकार का ऐतिहासिक अनुमान नही बाध सकते है, परन्तु भारतीय इतिहास के जिस समय का हम यहाँ विचार कर रहे है उसकी सामग्री इतनी अपूर्ण है कि हम उसके आधार पर प्रमाणित निर्णय कुछ नही कर सकते है। श्री दत्त कहते है कि महान् अलेक्जैण्डर के भारत आगमन के पहले के भारतीय इतिहास की निश्चत तिथियो का निर्णय करना लगभग असभव है।"[7] यह नि.सन्देह एक रहस्य की ही बात है कि जहा महावीर के उद्भव के बाद की प्रत्येक वस्तु का व्यवस्थित लेखा रखा जा सका, वहा उनके पूर्व की किसी भी बात का प्रामाणिक लेखा हमे नही मिलता है। फिर भी जैनो के तेईसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ की ऐतिहासिक तिथि निश्चित करना एक दम ही असभव नही है। श्री महावीर और बुद्ध के समय का समकालिक साहित्य जैन-इतिहास के इस महत्व के प्रश्न पर बहुत सुन्दर प्रकाश डालता है, यही नही पर हम यह भी देखते है कि जैन सूत्रो मे प्रस्तुत किए तत्सम्बन्धी प्रमाण भी कुछ कम महत्व के नही है।

---

1 हेमचन्द्र ने अपने ग्रन्थ अनिधानचितामणि मे बीती उत्सर्पिणी के 24 तीर्थंकरो के और आगामी के 24 तीर्थंकरो के नाम दिए है। सत्सर्पिण्याविद् आदि और भाविन्या तु आदि। श्लो 50–56 इस सूची की समाप्ति इस प्रकार की है—एव सर्वावसर्पिण्युत्सर्पिणीषु जिनोत्तमा ....श्लो 56। 2 सूत्रो मे से भद्रबाहु का कल्पसूत्र अथवा मुधर्मा का आवश्यक सूत्र आदि देखो, पृथक चरित्रो की सूची मे इनका नाम निर्देश किया जा सकता है—हमविजयगणि का पार्श्वनाथचरित्रम्, श्री मुनिभद्रसुरि का शातिनाथ महाकाव्यम्, विनयचन्द्रसूरि का मल्लिनाथचरित्रम्, हरिभद्रमूरि का मल्लिनाथचरित्रम्, नेमिचन्द्रसूरि का महावीर स्वामीचरित्रम् आदि आदि। 3 कल्पसूत्र, सूत्र 227, 168, 147। जैन कालगणना के अनुसार एक पूर्व 7,05,60.00,00,00,000 वर्ष का होता है। देखो सग्रहणीसूत्र, गाथा 262। 4 कल्पसूत्र, सूत्र 182। 5 स्टीवेन्सन। पादरी। कल्पसूत्र, प्रस्ता पृ 12। 6 लासेनष इ एण्टी पुस्त. 2 पृ 261। 7 दत्त, वही, पृ 11।

पार्श्व की ऐतिहासिकता के प्रमाण—खोज की दृष्टि से श्री पार्श्वनाथ का जब हम विचार करते हैं तो ऐसा देखते हैं कि शिलालेख या स्मारक रूप से प्रमाणिक कोई भी आधार हमें ऐसा नहीं मिलता है कि जिसका सीधा सम्बन्ध उनसे हो। परन्तु कितने ही शिलालेख और स्मारक ऐसे हैं कि जिनसे उनके सम्बन्ध में परोक्ष अनुमान निःसंकोच किया जा सकता है।

मथुरा के जैन शिलालेखों की परीक्षा करने पर हम देखते हैं कि उनमें गृहस्थ भक्तों द्वारा ऋषभदेव को अर्घ्य अर्पित किए जाने के उल्लेख हैं।[1] इसके अतिरिक्त बहुत से शिलालेखों में न केवल एक अर्हत ही का अपितु अनेक अर्हतों का उल्लेख है।[2] 'उन लेखों में राजा के नाम हों या नहीं हों फिर भी वे सब इण्डोसिथियन काल के हैं ऐसा स्पष्ट प्रकट होता है और यदि कनिष्क एवं उसके वंशजों का काल शकयुग ही माना जाता हो तो वे सब लेख पहली और दूसरी सदी के मालूम देते हैं।[3] यदि महावीर को जैनधर्म का संस्थापक माना जाए तो जिनको अर्घ्यार्पण करने का उल्लेख ऊपर किया गया है उन लोगों के और महावीर के बीच में समय का बहुत बड़ा अंतर नहीं होना चाहिए ऐसा अवश्य ही कहा जा सकता है क्योंकि वह अंतर सिर्फ छह सदी का ही है और यह अंतर ऐसा नहीं है कि जिसमें जैनधर्म की स्थापना विषयक प्रमुख बातों से ये लोग बहुत घनिष्ठ परिचय नहीं रख पाए हों। फिर यह भी दृष्टव्य है कि यह अर्घ्य एक से अधिक अर्हतों को और प्रमुख रूप से श्री ऋषभ को दिया गया है। यह बात स्पष्ट प्रमाणित करती है कि जैनधर्म का प्रारम्भ अति प्राचीन है और तब से अब तक में इसके अनेक तीर्थंकर भी संभवतः हो चुके हैं।

फिर हमें जैनों के एक महान् तीर्थ[4] का अक्षयकीर्तिस्तम्भ स्वरूप प्रमाण भी प्राप्त है और यह महान तीर्थ है हजारीबाग जिले का समेतशिखर[5] का पहाड़ जिसको पार्श्वनाथ या पारसनाथ पहाड़ी आज कहा जाता है। कल्पसूत्र में जो कि श्री भद्रबाहु की रचना मानी जा चुकी है और इसलिए वह ई. स. पूर्व 300 वर्ष का है[6] एवं अन्य जैन साहित्य ग्रन्थों में पार्श्वनाथ के पूर्व वहां पहुंच जाने और उसी पर निर्वाण प्राप्त करने का प्रमाण भी हमें प्राप्त है।[7]

समकालिक साहित्य को जब हम देखते हैं तो उसमें अनेक ऐसे उल्लेख और घटनाएं मिल जाती हैं कि जो पार्श्वनाथ के ऐतिहासिक जीवन के विषय में जरा सी भी शंका रहने नहीं देती हैं। यहां उन सभी बातों की सत्यता की परीक्षा करने की यद्यपि हमें आवश्यकता नहीं है फिर भी उनमें से थोड़ी सी प्रमुख उपयोगी और अत्यन्त विश्वस्त बातों को यहां गिना जाता है।

---

1 प्रीयताम्भगवानृषभश्री (भगवान् श्री ऋषभदेव प्रसन्न हों)—एपी इण्डि पुस्तक 1 पृ 386 लेख सं 8

2 नमो अरहन्तानं (अर्हतों को नमस्कार) वही पृ 383 लेख सं 3।

3 वही पृ 371। 4 तीर्थ जैन परिभाषा के अनुसार, पवित्र यात्रा स्थान को कहते हैं। 5 समेतशिखर जिसे मेजर रेनाल के नक्शे में पारसनाथ कहा गया है बंगाल और बिहार के बीच की पहाड़ियों में है। जैनों की दृष्टि में यह महान् पावन और पूजनीय है। भारतवर्ष के दूर-दूर के प्रदेशों से यात्री लोग यहां प्रति वर्ष यात्रा के लिए आते हैं ऐसा कहा जाता है। कालब्रुक वही पुस्त 2 पृ 213। इस पहाड़ी पर पार्श्व का सुप्रसिद्ध मन्दिर है। 6 शार्पेंटियर, उत्तराध्ययनसूत्र प्रस्तावना पृ 13 14। 7 देखो कल्पसूत्र सूत्र 168, निर्वाणमासन्न समेताद्रौ ययौ प्रभु। हेमचन्द्र त्रिषष्ठि—शलाका पर्व 9, श्लो 316 से 219।

बौद्ध साहित्य मे जैनो का प्रथम उल्लेख--जैन शास्त्रो मे जैन साधू और साध्वी को 'निगठ और निगठि' सस्कृत मे 'निग्रन्थि और निग्रन्थिणी' के नाम मे जो कहा गया है इसका अर्थ 'विना गाठ या आसक्ति' के होता है।[1] बौद्धशास्त्रो मे भी उनका ऐसा ही उल्लेख है।[2] वराहमिहिर[3] और हेमचन्द्र[4] भी उनको 'निग्रन्थि' ही कहते है। परन्तु अन्य लेखक उनके 'विवसन'[5], 'मुक्तावर' जैसे एकार्थी शब्द का प्रयोग करते है। जैनो के धार्मिक पुरुषो के लिए 'निग्रन्थि' नाम अशोक शिलालेखो मे 'निगठ' रूप मे प्रयुक्त हुआ है।[6] बौद्धो के पिटको मे बुद्ध और उसके अनुयायियो के विरोधी के रूप मे 'निगठ' शब्द का बारम्बार उपयोग किया गया है। बौद्धशास्त्रो मे जहा इस शब्द का उल्लेख है वहा मुख्य रूप मे उनके मत का खण्डन करने और स्पष्ट रूप से भगवान् बुद्ध की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए ही उसका उपयोग हुआ है।[7] इससे दो बाते सिद्ध होती है। एक तो यह कि जैन साधू 'निगठ' कहलाते थे और दूसरी यह कि बौद्ध साहित्य की दृष्टि से जैन और बौद्ध परस्पर महान् प्रतिस्पर्धी थे।[8]

भगवान् महावीर का विचार करते हुए हम यह देखते है कि उनके पिता सिद्धार्थ काश्यप गोत्री थे कि जो ज्ञातृ क्षत्रियो का ही एक गोत्र माना जाता था।[9] इसलिए भगवान् महावीर अपनी जीवनावस्था मे ज्ञातपुत्र के नाम से भी पहचाने जाते थे।[10] पाली भाषा मे ज्ञाती का समानार्थी शब्द नाय है और इसीलिए ज्ञातृपुत्र और नायपुत्त का अर्थ एक ही है और कल्पसूत्र एव उत्तराध्ययनसूत्र मे महवीर के लिए प्रयुक्त "नायपुत्त" विरुद से इसका अधिक मेल बैठ जाता है।[11] इस प्रकार निगठनात निगठनातपुत्त, या केवल नातपुत्त नामपद महावीर के अतिरिक्त और किसी का बोध नही कराता है। डॉ व्हूलर कहता है कि जैनो के मुख्य स्थापक का सच्चा नाम खोज निकालने का यश डॉ याकोबी और मुझ को है। ज्ञातृपुत्र शब्द जैन और उत्तरीय बौद्धशास्त्रो मे प्रयुक्त हुआ है। पाली मे यह शब्द नातपुत्त और जैन प्रकृत मे नायपुत्त है। इत अथवा ज्ञाति उस राजपूत जाति का नाम ही मालूम देता है कि जिसमे मे निर्ग्रन्थ उद्भव हुए थे।[12]

---

1 देखो उत्तराध्ययन, अध्या 12, 16, 16, 2, आचाराग स्कध 2, अध्य 3, 2 और कल्पसूत्र मू (130 ओर)
2 देखो दीघनिकाय, 1 प 50, बुद्धीज्म इन ट्रासलेशस (हावर्ड ओ सिरीज), 3, पृ 224, 342-43 469, आदि, महापरिनिब्बाणसुत्त, अध्या 5,260 आदि। उदाहरणार्थ देखो ह्रिस डेविड्स से बु ई पुस्त 3, पृ 166। 3 शॉक्योपाध्यायार्हतनिर्ग्रन्थनिमित्त . आदि। —वराहमिहिर, बृहत्सहिता, अध्ययन 51, श्लो 21, वराहमिहिर (छठी सदी) की बृहत्सहिता, 60, 19 (सम्पा, कर्न), नग्न जैन यतिवो का धार्मिक वेष बताया गया है। वार्थ, वही, पृ 145। 4 निर्ग्रन्थो भिक्षु...आदि। —हेमचन्द अभिधानचितामणि, श्लो 76। 5 विवसनसमय.. आदि। —पणशीकर, ब्रह्मसूत्र-भाष्य, पृ 252 (2य सस्करण)। 6 व्हूलर, एपी, इण्डि., पुस्त 2, पृ 272। 7 देखो अगुत्तरनिकाय, 3, 74, महावग्ग, 6, 31 आदि।
8 अबौद्ध मान्यताओ की धर्म सम्प्रदायो मे ही निर्ग्रन्थ या जैन है जिनकी बुद्धघोष विपक्षी रूप मे ब्राह्मणो से भी अधिक कटुशब्दो मे निदा करता है। —नरीमान सस्कृत बुद्धीज्म, 2 य सस्करण पृ 199, देखो मित्रा, दी सस्कृत बुद्धीस्टिक लिटरेचर इन नेपाल, पृ 11 मी। 9 नायकुलचदे, उदाहरण के लिए देखो कल्पसूत्र सूत्र 110, देखो, वही, सूत्र 20 आदि मी, आचारागसूत्र, स्कध 2 अध्य 15, सूत्र 4।
10 वही, स्कध 1 अध्य 7 सूत्र 12, और अध्य 8 सूत्र 9।। 11 याकोबी, कल्पसूत्र, प्रस्तावना पृ 6।
12 व्हूलर, इण्डि ऐण्टी, पु 7 पृ 143 टि 5। इस सुझाव के लिए हम प्रो याकोबी के आभारी है कि गुरु जिसको बौद्धधर्म ग्रन्थो मे इस उपाधि से परिचय दिया गया है महावीर ही है और यह सुझाव नि सन्देह यथार्थ है। —कै हि इ, भाग 1, पृ 160।

फिर बौद्धशास्त्रो को जब देखा जाता है तो सामञफलसुत्त नाम के प्राचीन सिंहली शास्त्र म निगठनातपुत्त की मृत्यु पावा म होने का उल्लेख हम मिल जाता है ।[1] निगठो के सिद्धातो का बौद्धसूत्रो मे विशेष रूप से वर्णन मिलने स जना और निगठो की अभेद सिद्ध हो जाती है । निगठनातपुत्त सब वस्तु जानता है और देखता है सपूर्ण नान और दर्शन का वह दावा करता है तपश्चर्या स कर्मो का नाश और क्रिया से नए कर्मो का अवरोध वह सिखाता है जब कम समाप्त हो जाते हैं तब सब कुछ समाप्त हो जाता है ।[2] ऐसे एस अनेक उल्लेख महावीर और उनके सिद्धात के विषय मे बौद्धो के प्राचीन ग्रन्थ म मिलते हैं । परन्तु हम उन सब म स एक का ही अधिक विचार यहा करेंगे क्योकि वह पार्श्वनाथ तक के इतिहास की खोज के लिए हम अत्यन्त उपयोगी होन वाला है ।

पार्श्व और महावीर के धर्म का सम्बन्ध—सामञफलसुत्त मे नातपुत्त के सिद्धातो का उल्लेख इस प्रकार है चातुयाम सवर सवुतो । इसको डा याकोबी जन पारिभाषिक शब्द 'चातुर्याम सम्बन्धी उल्लेख मानते हैं । यह विद्वान कहता है कि' महावीर के पुरोगामी पार्श्वनाथ के सिद्धात के लिए इसी शब्द का उपयोग किया गया है ताकि महावीर के सुधारे हुए सिद्धात 'पचयाम धर्म से यह पृथक हो जाए ।[3]

डा याकोबी का यह मन्तव्य समझने के लिए हम जानना आवश्यक है कि पार्श्वनाथ के मूल धर्म म उनके अनुयायियो के लिए चार महाव्रत नियत थे और वे इस प्रकार थे—अहिंसा सत्य अस्तेय (अचौय) और अपरिग्रह (अनावश्यक सब वस्तुओ त्याग) सुधारक महावीर न देखा कि जिस समाज म वे विचरते थ उसम पार्श्वनाथ के अपरिग्रह व्रत स एक दम पृथक ब्रह्मचय यानि शीलव्रत को स्वतन्त्र व्रत रूप बढाना परम आवश्यक है ।[4]

जनधर्म म महावीर के लिए इस सुधार के सम्बन्ध मे डा याकोबी कहता है कि पार्श्वनाथ और महावीर के अन्तराल समय म साधु सस्था मे चारित्र्य की शिथिलता आ गई हो ऐसी शास्त्र के तत्व से पूर्व सूचना मिलती है और ऐसा तभी सभव है जब कि हम अन्तिम दो तीर्थकरो के बीच म पर्याप्त समयान्तर मान लेते है, और पार्श्वनाथ के 250 वर्ष बाद महावीर हुए यह सामान्य दन्तकथा इस मान्यता से एक दम मेल खा जाती है ।[5]

इस प्रकार बौद्ध ग्रन्थो से ही हम एसे ठोस प्रमाण प्राप्त होते हैं कि जो पार्श्वनाथ के जीवन की एतिहासिकता के निर्णय करने म हमारी सहायता करते हैं । फिर बौद्धशास्त्रो म नातपुत्त और उनके तत्वज्ञान के सम्बन्ध म वे सब उल्लेख प्राप्त होते देखकर हम बडा ही विचित्र सा लगता है कि प्रतिस्पर्धी धर्म के लिए इतने अधिक खण्डन और उल्लेख होने पर भी जनो ने अपने शास्त्रो म प्रतिपक्षियो की उपेक्षा की है । इससे यही समझा जाना चाहिए कि जहा बौद्ध निग्रन्थो की सम्प्रदाय को महत्व की मानते थे वहा निग्रन्थ बधुधर्म बौद्ध को अपने ग्रन्थो म उल्लेख योग्य महत्व का नहा मानते थे । दोनो धर्मों के साहित्य की इन विचित्रताओ स बुद्ध और महावीर के बहुत वर्षों पूर्व स ही जनधर्म अस्तित्व मे था यह स्वत सिद्ध होता है ।

डा याकोबी कहता है कि निग्रन्थो का उल्लेख बौद्धो ने अनेक बार यहा तक कि पिटको के प्राचीनतम भाग में भी, किया है परन्तु बौद्धो के विषय म स्पष्ट उल्लेख अभी तक तो प्राचीनतम जन सूत्रो म कहीं भी मेरे देखने मे नहीं आया है हालाकि उनम जामाली गोशाला और अन्य पाखण्डी धर्माचार्यों के विषय मे लम्बे लम्बे कथानक

---

1 जेड डी एम जी सख्या 3 पृ 749। देखो हूलर दी इडियन स्कट आफ दी जनाज, पृ 34 ।
2 अगुत्तरनिकाय 3 74। देखो से बु ई पुस्त 45 प्रस्ता पृ 15 । 3 याकोबी इण्डि एण्टी पुस्त 9 पृ 160 । 4 व्रतानि पचव्रतानि आदि । —देखो कल्पसूत्र सुबोधिका टीका पृ 3 ।
5 याकोबी से बु ई पुस्त 45 पृ 122—123 ।

मिलते है । चूंकि बाद के सब समय मे दोनो धर्मो का पारस्परिक सम्बन्ध जैसा हो गया था उससे यह स्थिति एकदम विपरीत है और चूंकि दोनो धर्मो के समकालीन प्रारम्भ की हम लोगो की कल्पना के भी यह प्रतिकूल है इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुचने को वाध्य होते है कि निर्ग्रंन्थ धर्म वुद्ध के समय मे नया स्थापित हुआ था। पिटको का मत भी यही मालूम होता है क्योकि उनमे विरोधी सूचन कही भी नही मिलता है ।[1]

बौद्धशास्त्रो के उल्लेखो के विषय मे इतना कहना ही पर्याप्त होगा । अव हम यह विचार करेगे कि हिन्दूशास्त्रो और हिन्दू दन्तकथाओ मे जैनधर्म विषयक क्या कहा जाता हे । यद्यपि वे महावीर और उनके समय के कुछ वाद के मालूम होते है तो भी बौद्धशास्त्रो की अपेक्षा वे एकदम आगे ही जाते है । आश्चर्य की वात तो यह है कि ऋषभदेव के इस युग के प्रथम जिन या तीर्थंकर होने की जैन मान्यता को ये प्राय समर्थन ही करते है ।

हिन्दू साहित्य मे जैन धर्म का उल्लेख—विष्णु पुराण से हम जानते है कि ब्राह्मण भी किसी एक ऋषभ को मानते थे और उसका जीवन वहुताश मे जिन ऋषभदेव से मिलता हुआ है ।[2] भागवत् पुराण मे जो किसी ऋषभ का विस्तृत विवरण मिलता है उस पर से भी यही स्पष्ट होता है कि वह ऋषभ सिवा जैनो के पहले तीर्थंकर के दूसरा कोई भी नही हो सकता है । विल्सन के विष्णु पुराण मे भागवत पुराण पर दिए गए टिप्पण मे लिखा है कि इसमे ऋषभदेव की तपस्या का विस्तार से वर्णन किया गया हे इतना ही नही अपितु अन्य किसी भी पुराण मे नही मिलने वाली वाते उसमे विशिष्ट रूप से वर्णित है । इसमे ऋषभदेव के भ्रमण के दृश्य सवमे रोचक है, जैसे कि कोक, वकाट, कटुक और दक्षिण कर्णाटक अथवा द्वीपकल्प के पश्चिम भाग का रोचक वर्णन है और यह भी कि इन देशो के लोगो द्वारा जैनधर्म स्वीकार कर लिया गया था ।[3]

शेष तीर्थंकरो मे से पाचवे सुमतिनाथ, भरत के पुत्र सुमति ही स्पष्टतया दिखते है कि जिसके विषय मे भागवत मे कहा है कि 'वह कितने ही नास्तिको द्वारा देव रूप मे पूजित होगा ।' इसके अतिरिक्त 'वाईसवे तीर्थंकर अरिष्ठनेमि या नेमिनाथ, उग्रसेन की पुत्री राजीमति के कारण, श्रीकृष्ण की कथा के साथ सम्बन्धित है ।'[4] विष्णुपुराण और भागवतपुराण के इन सव उल्लेखो से डा याकोवी इस परिणाम पर पहुचते है कि 'इस दन्तकथा मे कुछ ऐतिहासिकता हो जो ऋषभदेव को जैनो का पहला तीर्थंकर वना देती है ।'[5] फिर भी हमे यह नहीं भूल जाना चाहिए कि कितने ही विद्वानो की दृष्टि से ये पुराण पीछे के समय के है और इसलिए इनके प्रमाणो पर पूर्ण विश्वास नही किया जा सकता है,[6] हालाकि स्मिथ जैसे विद्वान पुराणो के इन उल्लेखो को प्रमाण रहित मानना पसन्द नही करते है ।[7]

---

1 याकोवी, इण्डि एण्टी , पुस्त 9, पृ 161 । 2 नाभिराजा को मरुदेवा रानी से महामना ऋषभदेव पुत्र हुए । इनके सौ पुत्र थे जिनमे सव से ज्येष्ठ पुत्र भरत था । न्याय और वुद्धि से राज्य करने और अनेक यज्ञ करने के पश्चात् इस ने पृथ्वी का राज्य वीर भरत को दे दिया था । .आदि । देखो विल्सन, विष्णुपुराण, पृ 163 । 3 वही, पृ 164 टिप्पण ।

4 याकोवी, वही, पृ 163 । देखो यह भी कि नेमिनाथ, कृष्ण के एक काका और जैनो के वाईसवे तीर्थंकर थे, आदि । —मजुमदार, वही, पृ 551 । 5. याकोबी, वही, पृ 163 ।

6 उदाहरण के लिए देखो विल्सन, वही, भाग 1, पृ 328–329 ।

7 आधुनिक योरोपीय लेखक पुराणो की राजवशावलियो की अधिकारिता को अत्यधिक अविश्वास मानने की ओर झुके हुए हैं, परन्तु सूक्ष्माध्ययन से उनमे वहुत कुछ विश्वस्त और मूल्यवान ऐतिहासिक परम्परागत तथ्य मालूम होता हे । देखो स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, 4 था सस्क , पृ 12 ।

तीथकरा की बात ो हम छाड द तो भी हिन्दूधम के एक प्राचीनतम सूत्र म जन तत्वज्ञान के सम्बन्ध म उल्लख हम मिल जात है। ब्रह्मसूत्र जिस तेलाग[1] और अन्य पण्डितो न ईसा पूव चौथी सदी की प्राचीन रचना माना है, म स्याद्वाद और आत्म सम्बन्धी जनधम की मान्यता का खण्डन किया गया है।[2] इसके अतिरिक्त महाभारत मनुस्मृति शिवमहम्, तैत्तरीय आरण्यक यजुर्वेदसहिता और अन्य हिन्दूशास्त्रो म जनधम सम्बन्धी अनक उल्लख हम प्राप्त होत हैं। परन्तु यहा हम उन पर विचार करन की आवश्यकता नही है।[3]

अन्त म पाश्वनाथ और उनके पुरोगामियो की एतिहासिकता के विषय म प्राचीन और पवित्र जनसूत्र एवम् आधुनिक सुप्रसिद्ध विद्वान क्या कहत ह उसका यहा विचार करल । जन साहित्य क किसी भी विभाग का सीधा विचार करने के पूव हम यह देख लें कि उस समय की परम्परा पर म इस विषय क सम्बन्ध म क्या बातें मिलती हैं। डा जाल शार्पेंटियर कहता है कि तथ्यो के सामान्य विचार की दृष्टि स यह वस्तु य कि शास्त्र का प्रमुख भाग महावीर और उनके निकटस्थ अनुयायियो द्वारा उत्पन्न हुए थ सभवत विश्वस्त माना जा सकता ह ।[4] परन्तु जनी तो इसस भी एक कदम आगे जात है उनके अनुसार प्रथम तीथकर ऋषभदेव के समय स चले आत पूव ही प्राचीन म प्राचीन पवित्र जन धमग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त दूसरा अधिक विश्वस्त परम्परा भी एक है जिस पर डा याकोबी उसका आशिक सत्य मानत हुए ठीक हा भार दत हैं। यह परम्परा इस प्रकार ह कि पूर्वो का उपदेश तो स्वयम् महावीर न दिया था और ग्यारह अगो की रचना बाद म उनके गणधरो न की थी।

इसस यह स्पष्ट हो जाता है कि महावीर और उनके उत्तराधिकारी गणधर आगम साहित्य के कर्ता है । जब यह कहा जाता है कि महावीर कर्ता थे तो उसका यह अथ नही है कि य शास्त्र उनके ही लिखे हुए है अपितु यह कि जो कुछ लिखा गया उसका उपदेश उनन ही दिया था । क्योकि भारतवष मे कर्तव्य मुख्य रूप से वस्तु पर से माना जाता है । जब तक कि भाव वही हो तो शब्द किसके है यह बात अप्रासगिक मानी जाती है।'[6] फिर जन साहित्य की कुछ विशिष्टताओ से ही हम देख सकत हैं कि धम की भाति साहित्य म वधमान और उनके समय तक का भी उसम अनुसधान मिलता है। परन्तु यहा हम उसकी एक भी लाक्षणिकता का निर्देश नही करना है क्योकि जैन साहित्य शीर्षक क अध्याय म इसका सम्पूर्ण विचार किया जान वाला है।

जब कि पाश्वनाथ के सम्बन्ध म कमवेश अश म जनशास्त्रो म हम सबमान्य प्रमाण मिलत हैं तो उनकी सप्रमाणता म शका करने का कोई भी कारण नही है। उदाहरणाथ भद्रबाहु क कल्पसूत्र को ही लीजिए। उसम जना के सब तीथकरो का वणन है। श्री पाश्वनाथ महावीर के धर्मो क उसमे दिए उल्लेखो में विषय म बहुत कुछ कहा ही जा चुका है। दूसरा शास्त्र भगवतीसूत्र का अत्यन्त उपयोगी भाग वह है कि जहाँ पाश्वनाथ के अनुयायी कालासवेसियपुत्त और महावीर के किसी शिष्य म हुए सवाद विवाद का वणन किया गया है। इस वणन

---

1 स बु ई पुस्तक 8 पृ 32। न्याय दशन और ब्रह्मसूत्र (वेदान्त) की रचना ई सन् 200 और 400 क बीच म कभी भी हुई थी। याकोबी। दी अमरीकन ओरियन्टल सोसायटी पत्रिका सख्या 31 पृ 29।

2 उदाहरण क लिए देखो पथीकर वही पृ 252।

3 हीरालाल हसराज एशेंट हिस्ट्री आफ दी जैन रिलीजन भाग प 85 89।

4 शार्पेंटियर वही प 12। 5 याकोबी स बु ई पुस्तक 22 प्रस्ता प 45।

6 याकोबी कल्पसूत्र प 15।

की समाप्ति उक्त कालासवेसियपुत्त के 'अनिवार्य प्रतिक्रमण सहित चार व्रतो के स्थान मे पाँच व्रत ग्रहण कर'[1] साथ रहने की आज्ञा मागने मे हुई है। शीलाक की आचाराग टीका मे भी श्री पार्श्वनाथ के अनुयायियो के चतुर्याम और श्री महावीर के तीर्थ के पचयाम धर्म मे इतना ही अन्तर बताया गया है।[2]

उत्तराध्ययनसूत्र मे भी इसी बात की पुनरावृत्ति की गई है। दास गुप्ता के शब्दो मे 'उत्तराध्ययन की यह कथा कि पार्श्वनाथ का एक शिष्य महावीर के एक शिष्य को मिला और दोनो ने महावीर प्रवर्तित धर्म और पार्श्वनाथ के प्राचीन धर्म का समन्वय किया, यह सूचित करती है कि पार्श्वनाथ सम्भवत' एक ऐतिहासिक पुरुष थे।'[3]

जैन धर्म की प्राचीनता और आधुनिक विद्वान —

आधुनिक विद्वानो मे भी, यदि हम पता लगाए तो, पार्श्वनाथ के जीवन की ऐतिहासिकता के विषय मे सर्व-मान्य एकता है। सस्कृत के पुराने पाश्चात्य विद्वानो मे से कोलबुक,[4] स्टीवन्सन[5] एड्वर्ड टामस[6] तो निश्चयपूर्वक मानते ही थे कि जैनधर्म नातपुत्त और शाक्यपुत्त से भी प्राचीन है। कोलबुक कहता है कि 'पार्श्वनाथ जैनधर्म के स्थापक थे। ऐसा मैं मानता हू और महावीर एव उनके शिष्य सुधर्मा ने उस जैनधर्म का पुनरुद्धार कर उसे सुदृढता से सुव्यवस्थित किया था। महावीर और उनके पुरोगामी पार्श्वनाथ दोनो को सुधर्मा या उसके अनुयायी तीर्थंकर के रूप मे पूजते थे और आज के जैन भी उसी प्रकार उन्हे पूजते है।'[7]

दूसरी ओर डा व्हूलर[8] और डा याकोबी[9] जैसे कितने ही जरमन विद्वानो ने एच एच विल्सन[10], लेसन[11] आदि द्वारा प्रस्तुत किए गए तर्को का खण्डन किया है। डा याकोबी कहता है कि 'महावीर द्वारा सुधार किए पूर्वके जैनधर्म की कितनी ही बातें इतनी अधिक स्पष्ट है कि वे विश्वस्त आधारो से ली गई हैं ऐसा माने सिवाय चल ही नही सकता है। इसलिए हमे इस निष्कर्ष पर पहुचना ही चाहिए कि महावीर के पूर्व निर्ग्रन्थ अस्तित्व मे थे। इस निष्कर्ष को आगे आनुषगिक प्रमाणो से और भी स्पष्ट करूगा।'[12]

अभी के समय का विचार करे तो डा वेल्वेलकर[13], डा दासगुप्ता[14] और डॉ राधाकृष्णन[15] जो कि भारतीय तत्वज्ञान के तीन महालेखक है और डा शार्पेटियर[16], गेरीनोट[17], मजुमदार[18], फ्रेजर[19],

---

1 तएणं से कालासवेसियपत्ते अणगारे थेरे भगवतो वदइ नमसइ 2 (त्ता) एव वदासी-इच्छामि ण भते। तुब्भ . । देखो भगवतीसूत्र, सूत्र 76 शतक 1। देखो व्येवर, फ्रेग्मेट डेर भगवती, पृ 185।

2 स एव चतुर्यामभेदाच्चतुर्या, आदि। देखो आचारागसूत्र श्रुत स्कध 2, गाथा 12—13, पृ 320।

3 दासगुप्ता, हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलोसोफी, भाग 1, पृ 169। देखो तओ केसिं बुवन्त तु गोयमो इणमब्ववी...। उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन 23, गाथा 25।

4 कोलबुक, वही, पुस्त 2, पृ 317। 5 स्टीवन्सन (पादरी), वही, और वही पृष्ठ।

6 टामस (एड्वर्ड), वही, पृ 6। 7 कोलबुक वही, और वही पृष्ठ।

8 व्हूलर, दी इडियन स्येक्ट आफ दी जेनाज, पृ 32। 9 याकोबी, से बु ई, पुस्त 45, प्रस्ता पृ 2।

10 विल्सन, वही, भाग 1 पृ 334। 11 लेसन, इण्डि, एण्टी, पुस्त 2 पृ 197।

12 याकोबी, इण्डि एण्टी, पुस्त 9, पृ 160। 13 वेल्वलकर, दी ब्रह्मसूत्राज, पृ 106।

14 दासगुप्ता, वही, पृ 173। 15 राधाकृष्णन, वही, पृ 281।

16 शार्पेटियर, कै हि इ, भाग 1, पृ. 153। 17 गेरीनोट, बिब्लीयोग्राफी जेना, प्रस्ता पृ 8।

18 मजुमदार वही, पृ 292 आदि। 19 फ्रेजर, लिट्रेरी हिस्ट्री आफ इडिया, पृ 128।

इन्सियट[1] पुसिन[2] आदि जो इतिहासवत्ता और महान् पण्डित है सब एक ही मत रखते हैं । डा बेल्वलकर लिखता है कि साख्य, वदा त और बौद्ध जस अधिक विकसित आध्यात्मिक दशना के उद्भव म समकालिक माने जाने वाले जनधम का नीतिशास्त्र और आध्यात्म-विद्या को दृष्टि म योग्य याय नही दिया गया है बात यह है कि महावीर न अपन दशन का अस्तित्व प्राचीन पुरुषो से वारस म प्राप्त किया था और उसका उनन उसी रूप परिवर्तित रूप म बाद की प्रजा को दे देन के अतिरिक्त कुछ भी नही किया था ।[3]

उत्तराध्ययनसूत्र की विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना म डा शार्पेटियर लिखता है कि हमे दोनो ही बातें स्मरण रखना चाहिए कि जनधम महावीर स अवश्य ही प्राचीन है और उनके प्रसिद्ध पुरोगामी पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक पुरुष हो गए हैं और इसलिए मूल सिद्धात की प्रमुख बातें महावीर क बहुत समय पूव स ही सहिताबद्ध हो गई होगी ।[4] अतिम पर तु अति महत्व का उल्लेख डा गरीनाट का है जो इस प्रकार है कि पार्श्वनाथ ऐतिहासिक व्यक्ति हो गए है इसमे शका ही नही है । जन मा यतानुसार व 100 वष जीवित रह और महावीर से 250 वष पूव उनका निर्वाण हुआ । इसस उनका समय यान कायकाल इ पु आठवी सदी का कहा जा सकता है । महावीर क माता पिता पार्श्वनाथ के धम क अनुयायी थ ।[5]

महावीर के पहल क तीथकरो की विद्यमानता क सम्बन्ध म इतने अगणित प्रमाणो के ऐतिहासिक भ्रमसकुलता भय से रहित होकर ऐसा कह सकते हैं कि आधुनिक खोज पार्श्वनाथ के समय तक तो ठीक ठीक पहुच गई है । अन्य तीथकरो के लिए डा मजुमदार के अभिप्राय का जो जन कथानको की अवगणना की जोखम उठाकर भी कहत है कि जनो के प्रथम तीथकर ऋषभदेव विठूर म वराजवश (ई पू 29 वा सदी) क राजा थे ।[6] हम समथन नही कर सकत हैं कि हम डा याकोबी के शब्दो मे अ त म यह कहगे कि जनधम की प्राकऐतिहासिकता की समालोचना की कुछ झाकी दन के साथ ही हम हमारी खोज का काय यहा समाप्त कर देत हैं । अतिम दृष्टि बिन्दु जो कि हम दख सकते है वह पार्श्वनाथ है । उनक पूव का इतिहास सब कल्पित कथानको और मा यताओ की धुध मे खो गया ऐसा लगता है ।[7]

---

1 इन्सियट हिन्दुइज्म एड बुद्धीज्म 1, पृ 110 । 2 पूसन दी वे टू निर्वाण पृ 67 ।
3 बल्वलकर वही प 107 । 4 शर्पेटियर उत्तराध्ययनसूत्र, प्रस्तावना प 21 ।
5 गरीनोट वही और वही पष्ठ । 6 मजुमदार, वही और वही पष्ठ ।
7 याकोबी, वही प 162 ।

दूसरा अध्याय

महावीर और उनका समय

पार्श्व के सम्बन्ध मे अनेक बाते —

पहले अध्याय मे महावीर के पुरोगामी पार्श्वनाथ, के सम्बन्ध मे विचार किया गया था। जैनसूत्रो के अतिरिक्त अन्य साहित्य उनके विषय मे सूचना कुछ भी दे सके ऐसा नही है। बौद्धसाहित्य मे पार्श्वनाथ के चतुर्याम धर्म सम्बन्धी कुछ सूचनाए मिली थी। परन्तु उसके सिवा उनके सम्बन्ध मे जो भी हम जानते है, सब जैनसूत्रो मे ही जानते है और वे ही सूत्र उस सबका जो कि उनके विषय मे इतिहासवेत्ताओ और अन्य विद्वानो ने कहा है, मूल आधार है।

पार्श्वनाथ के सम्बन्ध मे जैन जो कुछ भी कहते है उस सबको यहा कहने की आवश्यकता नही है क्योकि इन अन्तिम दोनो तीर्थंकरो के बीच के समय का इतिहास भी लिखा जाना सम्भव नही है। इसके दो कारण है। पहला तो यह कि उनके विषय मे जो भी हम जानते है वह सब परम्परा और दन्तकथा पर ही आधारित है। दूसरा यह कि उसमे भी कितनी ही परस्पर विरोधी है। फिर भी इतना तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि पार्श्वनाथ वाराणसी के राजा अश्वसेन के पुत्र थे और उनकी माता का नाम वामादेवी था।[1] इसके सिवा जैन मान्यतानुसार उनके 16,000 साधू, 38,000 साध्विया, 1,64,000 श्रावक और 3,27,000 श्राविकाए थी।[2] वे 100 वर्ष जीवित रहे थे और इसमे से उनके 70 वर्ष निर्वाण प्राप्ति के लिए ही बिताए यह भी कहा जाता है।[3]

[पार्श्वनाथ के 250 वर्ष पश्चात् महावीर का प्रादुर्भाव हुआ]

महावीर, जैन मान्यतानुसार, उनके पुरोगामी के लगभग 250 वर्ष बाद मे हुए थे।[4] महावीर का जन्म और अस्तित्व का समय भारतीय इतिहास का बुद्धिवादी युग कहा जाता है। इस युग की अवधि के सम्बन्ध मे विद्वान यद्यपि एक मत नही है, फिर भी सामान्य दृष्टि से ई पूर्व 1000 से ई पूर्व 200 इस युग की आदि और अन्त सीमाए मानी जा सकती है।[5] भारतीय वीरगाथा-युग बीत चुका था। गगा-घाटी के कौरव, पाचाल

---

1 कल्पसूत्र, सूत्र 150, और भी देखो अवतारद्वामास्वामिन्या उदरे...आदि। हेमचन्द्र, त्रिषष्ठि–शैलाका, पर्व 9, श्लो 23, पृ 196, शार्पेटियर, कै हि इ, भाग 1, पृ 154।

2 कल्पसूत्र, सूत्र 161-164, दिगम्बर मान्यतानुसार इन सख्याओ मे अन्तर है।

3 वही, सूत्र 168, और देखो सप्ततिव्रतपालने। इत्यायुर्वत्सरशत आदि। हेमचन्द, वही, श्लोक 318, पृ 219, मजुमदार, वही, पृ 551। 4 श्री पार्श्वविर्वाणात् पचाशदधिकवर्षशतद्वयेन श्री वीरनिर्वाण। कल्पसूत्र, सुबोधिका—टीका, पृ 132। क्योकि महावीर निर्वाण के 250 वर्ष पूर्व उनका निर्वाण होना कहा जाता है, इसलिए वे ई पू 8वी शती मे सम्भवत हुए होगे। कै हि इ, भाग 1, पृ 153।

5 देखो दत्त, वही, विषय सूची, मजुमदार, वही,विषय सूची।

कौसल और विदेह भी अब अस्तित्व मे नही थ । इसी काल म आय गगा घाटी से बाहर निकल आए थे और भारत मे धुर दक्षिण प्रदेशों तक म उनने हिदू राज्यो की स्थापना कर ली थी और अपन इन नए राज्यो मे ज्वलत आय सस्कृति का प्रचार भी कर दिया था ।

ब्राह्मणो का बढता प्रभाव और जातिवाद के विशेषाधिकार —

यही समय भारत म धर्मों के उत्कष के लिए भी प्रसिद्ध है । चौदह सदिया म जिस प्राचान धम का आय लोग पालन और प्रचार करते आ रह थे वह विविध रूपा म विकृत हा गया था ।[1] एक भारी परिवतन का प्रारम्भ अब भारत को देखना बचा था । देश को हिन्दू धम म, चाह व भले के लिए हो अथवा बुर के लिए हो पर भारी क्राति का सामना करना पडा । धम क सच्चे स्वरूप का स्थान दिखावे लोकिकता न ले लिया था । उत्कृष्टतम सामाजिक और नैतिक नियम अस्वास्थ्यकर जातिभेद ब्राह्मण एकाधिकृत अधिकार और शूद्रा के प्रति क्रूर विधान म बदलित कर दिए गए थे । परन्तु इस एकाधिकृत अत्याधिकारो न भी ब्राह्मणो का सुधार करन म ... नही ... । एक जाति रूप म व इतन नामी इतन लालची इतन अज्ञान और इतने दम्भी बन गए थे कि स्वयम् ब्राह्मण सूत्रकारो तक को भी गनि कठोर शब्दो म उनकी ...म बुराई की निदा करना आवश्यक हो पडा था ।[2]

हिन्दुओ म गुरु सस्था का प्रवेश पीछे से हुआ है यह तो निर्विवाद हैं । ऋग्वद[3] म जा कि आय सस्कृति का प्राचीनतम ग्रथ है ब्राह्मण शब्द यद्यपि प्रयुक्त तो हुआ है परन्तु धार्मिक गीता क गान वाला के अथ म ही वह प्रयोग है ।[4] पर अब वे धार्मिक क्रियाकाण्ड कराने वाले पुरोहित के रूप म परिचय पाने लग थे और जस समय बीतता गया वस ही इस काय का अधिकार वश परम्परागत होता गया एव ब्राह्मण शन या उच्च स उच्चतम मान प्राप्त करत गए । फल यह हुआ कि ब्राह्मणो का दम्भ खूब ही बढ गया । इनकी जाति फिर भी एकाधिकृत नही बन पाई थी । ईरानियो से पृथक होने के समय स उस सिंधु नदी के मुहाने के निकटस्थ मध्य नदिया के प्रदश म जहा कि आयगण प्रारम्भ म बसे थे आगे बढ़ने के समय तक तो आर्यों की स्थिति यही थी ।[6] परन्तु इस सप्तनदिया के प्रदेश म दक्षिण पूव के प्रदेशा की ओर प्रयाग और गगा यमुना नदिया के तटीय प्रदेशा मे हिन्दू आर्यों के बस जान से वदिक धम ने ब्राह्मण धम या ब्राह्मणो क धर्माधीशतत्र को जन्म द ही दिया ।[7]

---

1 दत्त वही प 340 । 2 वही पृ 341 और देखो—(ब्राह्मण) जो न तो वेद पढत और पढात न और न यज्ञाग्नि ही रखते है, व शूद्र समान हैं । विशिष्ठ, अध्या 3 श्लो 1 । देखो बूलर स बु ई पुस्त 14 प 16 ।

3 ग्रिफिथ दी हिस्ट्री आफ दी ऋग्वेद भाग 2 प 96 आदि (2य सस्करण) ।

4 देखो टील आउटलाइन्स आफ दी हिस्ट्री आफ रिलीजन प 115 ।

5 कालान्तर म पुरोहित का राजा के साथ सम्बध स्थायी होता जाने लगा और सभवतया वह पवित्र हो गया देखो लाहा न नाथ एशेंट इण्डियन पालिटी प 44 । 6 ब्रह्मर्षि देश और सप्तनद की भूमि म आर्यों के आदि सस्थाना के सम्बन्धा का निर्णय करना इतना सहज नही है । क हि इ, भाग 1, प 51 ।
7 देखो टील वही प 112 117 । ऋग्वद की भाषा वदिक सस्कृति का प्राचीनतम रूप सप्तनद देश का है । ब्राह्मणो को और उपरि यमुना और गगा के देश (ब्रह्मर्षिदेश) की उत्तरकालीन वदिक साहित्य की भाषा सक्रमण मान की है । क हि इ, भाग 1 प 57 ।

इस ब्राह्मणधर्म के साथ ही वर्ण-व्यवस्था याने जातिवाद की सजउना का जन्म हुआ जो कि 'वीरगाथा (महाभारत) काल मे फिर भी लचीली संस्था ही थी। परन्तु बुद्धिवादी युग मे इस जाति-प्रथा के नियम अधिक कड़क और अनमनशील हो गए यहा तक कि निम्न जाति के लोगो का धर्माधिकारिता की सीमा मे प्रवेश करना तक भी असम्भव हो गया था ।'[1] इस स्थिति का परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण परिश्रम करने से बिलकुल विमुख हो गए और अन्य वर्गो को उनके परिश्रम का कुछ भी एवज दिए बिना ही उन परिश्रमी-वर्गों की सम्पत्ति पर ही निर्वाह करने वाले होते गए ।[2] धीरे-धीरे वे यहा तक निष्कर्मा बन गए कि परिश्रम से मुक्ति प्राप्ति की योग्यता के लिए आवश्यक ज्ञान प्राप्त करने से भी वे हिचकिचाने लगे । वशिष्ठ को ब्राह्मणों की यह बुराई और अन्याय बहुत ही असह्य हो उठा था और इसलिए उसने ऐसे निष्कर्मांओ को आश्रय अथवा पोषण देने का ऐसी उग्र भाषा मे घोर विरोध किया कि जैसी जीती-जागती प्रजा का हिन्दू धर्म हो तभी प्रयोग की जा सकती थी ।[3]

वर्णाश्रम के अधिकारो से उत्पन्न उस अपव्यवहार को लेखनकला के सर्वथा अभाव अथवा साहित्य लेखन मे उसके सामान्यतया अप्रयोग ने ब्राह्मणवर्ग के प्रवर्धमान वर्चस्व को और भी बढाने मे पूरी-पूरी सहायता की ।[4] राजो और उमरावो की प्रजा और आश्रित रहते रहते ही उनके कृपापात्र बनने और यह प्रतिपादन करने कि ब्राह्मण के रक्षण और स्वातन्त्र्य की रक्षा करना ही उनका धर्म है, का प्रयत्न करते रहे । धीरे धीरे इन राजो और उमरावो के उपदेष्टा होने के कारण ये लोग एकाधिकारी उपदेष्टा होने का दावा करते हुए श्रुति और स्मृति के रक्षक और विवरणकार ही बन बैठे ।[5] शुरू शुरू मे धर्म की अनेक पुस्तकें यज्ञयागादि अनुष्ठानो के उद्देश से ही रची गई थी ।[6] उन्ही का चार वेदो मे जिनका प्रत्येक का भिन्न भिन्न ब्राह्मण है, समावेश होता है । इन ब्राह्मणो मे "मुख्य रूप से सकुचित क्रियाकाण्ड, शिशुजनोचित आध्यात्मवाद और अनेक नगण्य बातो के विषय मे कुसस्कार-सम्पन्न वार्ताए जैसी कि अपरिमित धार्मिक सत्ताप्राप्त शक्तिशाली और पाडित्यप्रदर्शी गुरुओ से आशा की जा सकती है, भरी हुई है ।"[7]

यज्ञक्रिया इस प्रकार योजित और सगठित हुई थी कि धीरे धीरे वह बहुकष्टसाध्य और जजाल युक्त होती गई और इसके लिए इनके करानेवालो की सख्या मे अधिक वृद्धि होती गई । और ये यज्ञ करानेवाले अनिवार्यत ब्राह्मण ही होते थे । किसी किसी समय ये यज्ञकरानेवाले यहा तक बढ जाते थे कि देवो के प्रति मान भी न्यून

---

1 दत्त, वही, पृ 264 । देखो कुक, एम रिली एथि, भाग 2, पृ 493 ।

2 देखो मैक्क्रिडल, एशेंट इण्डिया, पृ 209 । 3 'राजा उस ग्राम को दण्ड देगा जिसमे ब्राह्मण अपने पवित्र धर्म और वेद-ज्ञान से रहित हो, भिक्षा द्वारा जीवन निर्वाह करेंगे क्योकि वे लुटेरो को भरण-पोषण देते है ।' वशिष्ठ, 3, 4 । देखो व्हूलर से. बु ई पुस्त 14, पृ. 17 ।

4 देखो टीले, वही, पृ 121 ।

5. 'इसी वर्ग मे भविष्यकथन विद्या भी एकान्तरुपेण परिसीमित थी और इनके सिवा कोई भी यह व्यवसाय यह कला नही कर सकता है ।' मेक्क्रिण्डैल, वही, और वही पृष्ठ ।

6 राजसूययज्ञ, अश्वमेधयज्ञ, पुरुषमेधयज्ञ, सर्वमेधयज्ञ ही प्रमुख यज्ञ थे । इन चारो यज्ञो मे प्राचीन काल मे अपराधी मनुष्यो की बलि दी जाती थी । परन्तु जैसे जैसे सदाचार विनम्र होता गया, यह प्रथा भी उठती गई। यद्यपि इसे सर्वानुमति से उठाया नही गया था, फिर भी इसका व्यवहार एक दिन उठ ही गया ।

7 टीले, वही, पृ. 123 ।

लगता था क्योकि व अपन को ही इन न्वा की कोटि मे रख देत थे ।[2] यज्ञक्रिया के पीछे ऐसी लोकमान्यता थी कि विधिविधान और यज्ञसामग्री के उचित समिश्रण म ही इच्छित परिणाम उत्पन्न करन की चमत्कारिक शक्ति है जसे कि वर्षाबरसाना पुत्र जन्म होना शत्रु सना का सम्पूर्ण पराजय आदि आदि । य यज्ञादि नैतिक उन्नति के लिए इतने नही अपितु व्यवहारिक सम्पन्नता के साधनो को प्राप्न करने के लिए ही किए जात थ ।[3]

इस प्रकार ब्राह्मणो का सामाजिक लक्ष्य धर्माधिकारी की अमर्यादित सत्ता और जातियो का एकान्त पथक करण था । ऐसी स्थितियुक्त समाज मे कितने ही उपयोगी धन्धे पाप रूप गिने जान लग थ और लोगो का उन लज्जायुक्त धन्धो से जो उन्हें पापस्वरूप जन्म मे प्राप्न हुए थे पीछे हटते भी रोका जाता था । ऊचे से ऊचे अधिकार ब्राह्मणो के लिए सुरक्षित रहते और अत्यन्त सीमातिक्रात स्वत्वो के भी व ही पात्र होत थ । यह सब यहा तक चलता रहा था कि राजा की अमर्यादित सत्ता भी उनकी सेवा के लिए ही मानी जाने लगी थी ।[3] प्राचीन *भारतीयो का धार्मिक झुकाव ही ऐसा था कि अत्यन्त प्राचीन काल से जिसका कि हम कुछ भी पता है राजा व* धर्माधिकारी प्रमुख व्यक्ति माने जान लग गए थ । सामाजिक व्यवस्था म स्त्री की स्थिति नगण्य हो गई थी और शूद्र तो एकदम तुच्छ व तिरस्कृत ही मान जाते थ । [4]

महावीर और बौद्ध के आविर्भाव से धर्माधिकारी मडलो की सत्ता और कट्टर जातिवाद का अन्त —

स्वाभाविक ही था कि समाज की यह परिस्थिति लम्बी अवधि तक निभ नही सक्ती थी । और इस स्थिति का एक और महावीर एव दूसरी ओर शाक्यपुत्र बुद्ध के आगमन से अन्त आ ही गया । फ्रास का विप्लव' दत्त लिखता है कि मुख्यत दो कारणो से हुआ था याने राजाओ के अत्याचारो से और अठारहवी सदी के तत्व वेत्ताओ की बौद्धिक प्रक्रिया स । भारत का बौद्ध-विप्लव इससे भी स्पष्ट पर तु ऐसे ही कारणो स था । ब्राह्मणधम के अत्याचारो से लोग विप्लव के लिए आतुर तो थे ही और तत्ववेत्ताओ के कार्यों ने ऐसे विप्लव का माग एकदम उन्मुक्त कर दिया ।[5]

डा हामविस तो कुछ आग भी बढ जाता हैं और जिन लोगो ने ऐसे विचारो को सवप्रथम उत्पन्न किया उनके मानस को ही इसका श्रेय देता हैं । वह कहता है कि बहुताश मे जन और बौद्धधम की विजय तात्कालिक राजकीय प्रवृत्ति की ही आभारी है । पूवदेश के राजा पश्चिमी धम से असन्तुष्ठ थे वे उसे फेंक देन म प्रसन्न थे पूव की अपेक्षा पश्चिम अधिक रूढिग्रस्त था । वह अपने मान्य आचारो का केन्द्र था और पूव मात्र उनका पालक पिता था ।"[6]

---

1 उनको ही देवी और सम्मान का सर्वोच्च स्थान प्राप्त था । देखो मेकक्रिण्डल वही और वही स्थान ।

2 दासगुप्ता वही प 208 । देखा लाहा न ना वही प 39 ।

3 राष्ट्र के निर्देशक और राज्य के सलाहकार वे देव द्वारा नियुक्त हुए थे परन्तु वे स्वय राजा नही बन सकते थ । लाहा न ना वही प 45 ।

4 पुरोहित भी कहे जाते थ जिसका व्युत्पत्तिक अथ है आगे धरा हुआ नियुक्त ।

5 टीले वही पृ 129–30 । यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' । पक्ति का उद्धरण बहुधा प्रस्तुत किया जाने पर भी मनु ने स्त्रियो को सस्कार क्रिया का निषध ही किया है । यह निषेध स्त्रियो और शूद्रो दोनो के लिए ही समान रूप से उसने किया है । देखो मनुस्मृति अध्या 5 श्लो 155, अध्या 9 श्लो 18 और अध्या 4 श्लो 80 । दत्त वही, प 255 । 6 हार्पकिंस वही प 282 ।

ब्राह्मणो के प्रति तिरस्कार का अभाव—

परन्तु इस महान् भारतीय क्रांति के स्पष्टीकरण मे हम ब्राह्मण विरोधी किसी प्रकार की वृत्ति की खोज करने को आतुर नही है। यह तो 'वीरगाथा-युग की प्रारम्भ से व्याप्त विचारो के सामान्य उभार का ही परिणाम था।[1] हमे उसे 'ब्राह्मणो के जातिभेद के प्रति क्षत्रियो के विरोध का परिणाम'[2] मात्र नही मान लेना चाहिए क्योकि 'ब्राह्मणधर्म के सनातन तट के बाहर नवीन विश्वासो और सिद्धातो की वृद्धि के लिए भूमि अच्छी तरह तैयार हो गई थी।'[3] इसके सिवा विकास का मूल जिस पर किसी भी धर्म का इतिहास विस्तार पाता है, इसे सिद्धात पर टिका रहता है कि धर्म मे होने वाले सब परिवर्तन और नवरूप चाहे वे विपरा दृष्टि से उसकी उन्नति या अवनति रूप ही दिखते हो, स्वाभाविक विकास के परिणाम ही होते है और इन्ही मे उनका समाधान भी मिल जाता है।

अपने निर्दिष्ट समय की ओर आने पर हम देखते है कि इस परिस्थिति को भारतीय विचारो के इतिहास और भारतीय जीवन के झुकाव मे हुए शात परिवर्तन से पुष्टि मिली थी। श्री कुन्ते कहते है कि 'गौतमबुद्ध वेद की सामाजिक, राजकीय और धार्मिक प्रवृत्तियो का व्यवस्थित विरोध करने मे सफल हुए उससे बहुत पूर्व से ही वेद की सत्ता मे शका उत्पन्न करने की वृत्ति देखने मे आती थी।'[4] इस प्रकार की मान्यता अन्य विद्वानो की भी है। 'बौद्ध और जैन धर्म को' डा याकोवी कहता है कि 'ब्राह्मणधर्म की धार्मिक क्रियाओ से उद्भुत परिणाम ही माना जाना चाहिए कि जो आकस्मिक सुधारो से नही परन्तु लम्बे समय से चली आती धार्मिक प्रवृत्तियो से प्रेरित हुए थे।'[5] यदि हम ऐसा कहे तो अनुचित नही होगा कि भविष्य मे होने वाले ऐसे परिवर्तन की गूज उपनिषदो मे कि जिनमे सब दिशाओ से नवीन प्रणाली का पूर्व सूचन है, स्पष्ट सुनाई पडती है।' इस नवीन पद्धति के अग्रदूतो ने 'डा दासगुप्ता कहता है कि, बहुत करके उपनिषदो से और याज्ञिक धर्म से ही प्रेरणा लेकर अपनी स्वतन्त्र बुद्धि के जोर से अपनी प्रणालिया निर्मित की थी।'[6] लोगो के मन मे चल रहे ऐसे परिवर्तन का समय श्री दत्त ई पू ग्यारहवी सदी अर्थात् हम जिस समय का यहा विचार कर रहे हैं उससे पाच सदी पूर्व जितना प्राचीन मानते है। उनके अनुसार 'उत्साही और विचारकर हिन्दुओ ने ब्राह्मणो के जजाल भरे क्रिया काण्डो मे आगे जाने का साहस किया और आत्मा तथा उसके निर्माता के गूढ रहस्यो की पूछताछ या खोज करने लगे थे।'[7]

तब हिन्दूधर्म की यह स्थिति थी। इसलिए स्वाभाविकतया जैनधर्म भी उसके बुरे प्रभावो से बचा रह नही सकता था।[7] हमने देख ही लिया हे कि महावीर को उनके पुरागामी द्वारा प्रस्तुत किए गए चार व्रतो मे कितना ही फेरफार करना पडा था और इसके फल स्वरूप उनके उपदिष्ट पाचव्रतो का प्रारम्भ हुआ था। समाज की परिस्थिति तब ऐसी थी कि लोग स्वतत्र और स्वच्छदी जीवन के लिए मिल सकने वाली थोडी सी छूट का भी लाभ लेने से क्वचित ही चूकते और इसलिए महावीर को पार्श्वनाथ के धर्म की प्रत्येक दिशा का विशदीकरण क्यो करना पडा था यह स्पष्ट विदित हो जाता है।[8]

---

1 राधाकृष्णन, वही, भाग 1, पृ 293।

2 श्रीनिवासाचारी और आयगर, वही, पृ 48। 3 फ्रेजर, वही, पृ 117।

4 कुण्टे, वही, पृ 407, 408। 5 याकोवी, से बु ई., पुस्तक 22, प्रस्तावना पृ 32।

6 दासगुप्ता, वही, भाग 1, पृ 210। 7 दत्त, वही पृ 340।

7 ..250 वर्ष मे जो कि उनके निर्वाण और महावीर के अवतरण मे वीते, विकार इतना अधिक फैल गया था. , आदि। स्टीवन्सन (श्रीमती), वही. पृ 49।

8. देखो कल्पसूत्र, सुबोधिका टीका, पृ 3, याकोबी से बु ई, पुस्तक 45, पृ 122, 113।

सामा य दृष्टि से जनधम — 2

ऐस बदलते हुए विचार-प्रवाह म महावीर हुए और जगत क रहस्य का आकलन करन क लिय उनन अपना एमा माग खोजा कि जिसम इहलोक और परलाक क सुख का भविष्य मनुष्य के निजी हाथा मे ही रहा और जिमन प्रजा को स्वाश्रयी बनाया। जब उनने उपदेश दना प्रारम्भ किया तब प्रजा ता तयार था ही उनका आध्यात्मवाद प्रजा को समझ म आता था इसलिय वह प्रजा को माय भी हो गया था। शन शन ब्राह्मण भी उ हे एक महान् गुरू मानन लग गए थे।[1] बुद्धिमान ब्राह्मण भी समय समय पर जन और बौद्धधम मे अपनी श्रद्धा स और अपनी प्रतिष्ठा के लिए आने लगे और उनन जनधम की साहित्यिक प्रतिष्ठा कायम रखने म अपना पूरा यागदान दिया था।[2]

जनधम शन शन गरीब और पतित वर्गो म भी फला क्योंकि जाति के विभेद स्वत्वा का वह प्रखर विरोध करता था। जनधम मनुष्य की समानता का धम था। महावीर की सत्य शील आत्मा न मनुष्य मनुष्य क अघटित भेदों के विरुद्ध क्रान्ति जगाई और उनका दयालु हृदय दुःखी गरीब और असहाय लोगा की सहायता करन को तत्पर बना। पवित्र जीवन और निर्लेप परोपकारी चरित्र की सुन्दरता म ही मनुष्य का सम्पूर्णता है और एसी व्यक्ति का पथ्वी स्वगतुल्य है ऐसा उनके मनोमन्दिर म प्रकाश हुआ और एक पगम्बर एवम सुधारक की भाति सम्पूर्ण आत्म विश्वास के साथ उनने धम के तत्वरूप म ये बातें सब साधारण के सामने रखी। उनकी विश्वविस्तीर्ण दया ने दुःखी हो रहे जगत को आत्मसुधार और पवित्र जीवन का सन्देश पहुचाने की प्ररणा की और उनन गरीब तथा पतित जातियों मे विश्वबधुत्व की भावना अनुशीलन करन और उसके द्वारा उनके दुःखो का अन्त लाने को आकर्षित किया। ब्राह्मण हो अथवा शूद्र उच्च हो अथवा नीच, सभी उनकी दृष्टि म समान थे। पवित्र जीवन स प्रत्यक जीव अपना मोक्ष समान रीति स साध सकता है और इसलिए अपना सवमान्य प्रेमधम स्वीकार करन का उनन सबको आमन्त्रित किया।[3] पूव समय म यारोप म जस ईसाई धम फला था वसे ही धीरे धीरे भारतवष म जनधम भी प्रचार पाने लगा और वह भी यहा तक कि श्रेणिक कुणिक चन्द्रगुप्त सम्प्रति खारवेल और अ य अनेक राजों आदि ने भारतवष के हिन्दूराज्य की प्रारम्भिक विख्यात शक्तियों म जनधम का स्वीकार किया।

ब्रह्मणधर्म की भाति ही जनधम का आधार भी पुनज म का सिद्धात ही है और पुनजन्म की अनत परम्परा स मुक्ति प्राप्ति ही उसका ध्येय है।[4] परन्तु इस मुक्ति या मोक्ष क लिए ब्राह्मणधम के तप और त्याग ही वह पर्याप्त नही मानता है। इसका ध्येय ब्रह्म के साथ एकता साधना नही अपितु निर्वाण यानि समस्त शारीरिक आकारों और क्रियाओ स भी एकदम मुक्ति यानि छूटना है।[5]

---

1 पभु अपापापुर्यां नगाम, तत्र बहवो ब्राह्मणा मिलिता चतुश्चत्वारिंशच्छतानि द्विजा प्रव्रजिता। कल्पसूत्र सुबोधिका टीका प 112 118।

2 वद्य वि वि हिस्ट्री आफ मडीवल हिन्द इण्डिया भाग 3, प 406।

3 सत्त्वसत्त्वाना हितसुखायास्तु (सब प्राणियों का सुख और हित के लिए हो) ब्हूलर एपी इण्डि पुस्तक 2 प 203, 204 शिलालेख स 18।

4 यह जिसके लिए इस ससार म किसी भी प्रकार का कोई बन्धन नहीं है प्राणि जन्म जन्म का माग उसने छोड दिया है।' याकोबी से बु ई पुस्त 22 प 213।

5 प्राचीन भारत म ससार सम्बन्धी प्रमुख दो सिद्धात थ। एक तो वह जो वेदान्त क रूप म प्रसिद्ध हुआ और दूसरा यह सिखाता है कि ब्रह्म और आत्म एक ही है और बाह्य जगत एक माया है। इलियट, वही 1 प 10।

6 आत्यन्तिको वियोगस्तु देहादेर्मोक्ष उच्यते हरिभद्र, षडदशनसमुच्चय श्लो 52।

देवो का अस्तित्व, कम मे कम पहले पहले तो,अस्वीकार किए विना ही जैनधर्म प्रत्येक जिन को उनमे उच्च मानता है और उनको परिपूर्ण मत की अपेक्षा न्यून कोटि का गिनता है।[1] जैसे प्राथमिक ईसाईधर्म भी यहूदी-धर्म से पृथक था वैसे ही जैनधर्म भी ब्राह्मणधर्म से यह अस्वीकार करने मे शास्त्रज्ञान एवम् वाह्य आचार ही पवित्रता का सूचक है[2] और यह मानने मे कि नम्रता, हृदय और जीवन की पवित्रता, दया, प्रत्येक जीव के प्रति नि स्वार्थ प्रेम आवश्यक है, जुदा पडता है। परन्तु सर्वतोपरि अन्तर इसका जातिभेद सम्बन्धी विचार है। महावीर न तो जातिभेद का विरोध करते है और न सब जातियो को एक समान करने का ही वे प्रयत्न करते है। पक्षान्तर मे वे तो यह प्रतिपादन करते है कि पूर्वजन्मकृत सुकृत्यो अथवा पापो के परिणाम स्वरूप उच्च अथवा नीच जाति या कुल मे जीव जन्म लेता है, और साथ यह भी कि पवित्र और प्रेममय जीवन से, आध्यात्मिकता प्राप्त करने मे प्रत्येक जीव सर्वोच्च मोक्ष भी एक दम प्राप्त कर सकता है। इस मोक्षप्राप्ति मे जाति उन्हे कोई बाधक नही लगती है। वे तो चाण्डाल मे भी समान ही आत्मा देखते है।[3] जीवन के सुख-दु.ख सब को समान ही भुगतने पडते है। उनका धर्म सब जीवो के प्रति दया का धर्म है। इसलिए महावीर ने जो अनन्यतम क्षेमकर परिवर्तन किया वह या जातिभेद को अवस्थाधीन और अप्रधान सिद्ध करना एवम् यह बताना कि आध्यात्मिक व्यक्ति के लिए जाति प्रथा का बन्धन तोडना बिल्कुल सहज है।

महावीर का जीवन —

जैनधर्म का सामान्य स्वरूप यही है। उसका यह स्वरूप लक्षण रूप मे एकदम रुचिकर है। आज्ञा की अपेक्षा उपदेश को ही वह अपना साधन मानता है। महावीर का विचार करने पर हम देखते हैं कि बुद्ध की भाति वे भी एक अभिजात्य क्षत्रियवश मे जन्मे थे। सत्र तो यह है कि जैन मान्यता ही ऐसी रही है कि जिन याने तीर्थंकर क्षत्रिय अथवा उस जैसे कुल मे ही सदा जन्म लेते है।[4] परन्तु महावीर के सम्बन्ध मे ऐसा हुआ कि विगत जन्मो[5] के कितने ही कर्मो के कारण वे ऋषभदत्त ब्राह्मण की भार्या देवानन्दा ब्राह्मणी की कोख मे भ्रूण-

---

1 देवाधिदेव सर्वज्ञ श्री वीर प्रणिदध्महे . हेमचन्द्र, परिशिष्टपर्वन्, सर्ग 1, श्लो. 2, ...जिनेन्द्रे सुरासुरेन्द्रस-पूज्य ..हरिभद्र, वही, श्लो 45-46।

2 केशलुचन से ही कोई श्रमण नही हो जाता है, ॐ के पवित्र उच्चारण से ही न कोई ब्राह्मण हो जाता है और न वन निवास से ही कोई मुनि, कुशघास और वल्कल पहनने से कोई तपस्वी। याकोबी सेबुई, 40।

3 सोवागकुलसमूओ...हरि एसबलो ..आदि। उत्तराध्ययन, अध्या 12 गाथा 1। हरि पृ 140। केशीबल श्वपच। (चाण्डाल) कुल मे जन्मा था वह गुणी और भिक्षु था।...आदि। याकोबी, वही, पृ 50।

4 न तो ऐसा कभी हुआ है, न होता है, नही ऐसा होना सम्भव है कि अर्हन्...दरिद्रकुल...भिक्षुकुल या ब्राह्मण कुल मे जन्म लेते है किन्तु अर्हत्...राजन्यकुल...ईक्ष्वाकुकुल...वा अन्य ऐसे ही उत्तम कुल, दोनो ही ओर से विशुद्ध जाति या वश मे जन्म लेते है। याकोबी सेब्रुई, पुस्त 22, पृ 225।

5 जैनो की मान्यतानुसार हम इस जन्म मे जो भी है, वह सब पूर्व जन्मो मे किएकर्मो के अन्तिम परिणाम स्वरूप है कर्म सब सामान्यतया अविनाशी, अवर्णनीय, अमा होते है जब तक कि भोग लिये नही जावे। महावीर ने नाम और गोत्र कर्मअपने पर्व के दृश्य 27 भवो मे से किसी एक मे बाधे थे। उन्होने अन्तिम तीर्थंकर भव मे जन्म लेने के पूर्व मे बिताए थे। उसी कर्म के कारण उन्हे पहले ब्राह्मणवश मे जन्म लेना पडा तच्च नीचैर्गोत्र भगवता स्थलसप्तविशतिभवापक्षेया तृतीयभवे बद्ध। कल्पसूत्र, सुबोधिका टीका, पृ 26। देखो याकोबी वही, पृ 190–191।

रूप म पहल आए । सब पैगाम्बरो क जीवन की भांति महावीर क जावन क सम्बन्ध म भी यह नाककथा प्रिय कथा कही जाती है कि ज्योंही राजा और देवा क स्वामी इन्द्र (शक्र) न यह बात जाना तो उसन महावीर के भ्रूण को देवानन्दा की कोख स ज्ञातृ क्षत्रियवशी काश्यप गौत्रीय क्षत्री राजसिद्धार्थ की पत्नि त्रिशला क्षत्रियाणी की कोख म बदल दन की योजना की ।[1] इस प्रकार यद्यपि यह एक मजाक सी ही बात है फिर भी महावीर चाहे वह चमत्कार के कारण हो हो शष म क्षत्रियवश के ही थे यही हम कहना होगा ।

भ्रूण परिवतन —

आश्चय की बात तो यह है कि इस दन्तकथा को शिल्प म भी उत्कीर्णित कर दिया गया है । मथुरा के जैनशिल्प के कुछ नमूनो म इसकी तादश साक्षी प्राप्त है और यह निश्चय ही आश्चयजनक ह । परन्तु साथ ही यह भी सिद्ध करता है कि यह दन्तकथा इसवी युग के प्रारम्भिक समय का ऐतिहासिक तो अवश्य ही है और इसलिए ऐसा भी कहने म कोई आपत्ति नही कि महावीर क जीवन के साथ अथवा उस समय की किसी न किसी सामाजिक परिस्थिति क साथ इसका कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य होना चाहिए ।

हमे कल्पसूत्र से मालूम होता है कि इन्द्र न अपनी आज्ञा के परिपालनार्थ हरिणगमशी को भेजा था ।[2] इस हरिणगमशी को सामान्यत हरि का नेगमेशी' यान इन्द्र का सवक कहा जाता है ।[3] डा ब्हूलर कहता है कि वह जनशिल्प जिसम नेगमेश एक छोटे रूप मे तीथकर और एक छोटे शिशु सहित एक स्त्री दिखाए गए हैं देवानन्दा और त्रिशला के भ्रूण परिवतन सम्बन्धी उस प्रसिद्ध दन्तकथा का ही सूचन करता हुआ माना जा सकता ह कि जिसम इस देव न प्रमुख भाग लिया था ।'[4]

प्रत्यक्षत यह दन्तकथा विचित्र ही मालूम होती है । परन्तु इतना तो हम स्वीकार करना ही होगा कि अन्य धर्मो म अपने देवो क विषय मे इससे भी अधिक विचित्र और काल्पनिक कथाए कही गई हैं । हमे अभिभूत करन वाली जो बात इसम है वह इसका रूप नही अपितु इसके पीछे रही हुई भावना है । जनो के इस मानसिक भाव का यह अभिप्राय हो सकता है कि उनका साधुधम मूलत क्षत्रियो के लिए ही योजित था । परन्तु ऐसा भाव दाख ता नही पडता है क्योकि महावीर के समय से लेकर आज तक के इतिहास को टटोलन पर हम देखते हैं कि जनधम की बडी से बडी और सुप्रसिद्ध यक्तियो म से कुछ ब्राह्मण भी थी । महावीर के गणधरो म इन्द्रभूति[5] स लकर अन्तिम ग्यारहवें गणधर तक सभी ब्राह्मण थ । उनके बाद क जन इतिहास म होन वाले सिद्धसन हरिभद्रसूरि आदि प्रसिद्ध जनाचाय और विद्वान भी ब्राह्मण थ ।[6]

---

1 82 दिवस पश्चात् गभ को हटाया गया था । समण भगव महावीरे वासीह गन्भत्ताए साहरिए कल्पसूत्र सुबोधिका टीका पृ 35 36 । 2 याकोबी वही पृ 223 आदि । 3 स्मर वही प 316 ।
4 वही प 317 । देखो मथुरा स्कल्पचम प्लेट 2 आ स रि म 20 प्लट 4 चित्र 2 ९ ।
5 इन्द्रभूति के सम्बन्ध म एसी दन्तकथा है कि अपन गुरु क प्रति उसका असीम प्रम था । महावीर के निर्वाण समय म वह वहा उपस्थित नहा था । लौटन पर अपन गुरु के अकस्मात् निर्वाण की बात सुनकर वह शोकाभिभूत हो गया । उसे ज्ञान हुआ कि अन्तिम नेय बधन जिसके कारण वह संसार से बधा हुआ था वह राग था जो कि गुरु के प्रति वह अब भी दिग रहा है । इसलिए उसन उस बन्धन का काट दिया और छिण्णपियबधन" होते ही वह कवल ज्ञान की स्थिति का पहुच गया । महावीर क निर्वाण क एक महीने बाद ही उसकी भी मृत्यु हो गई थी । याकोबी कल्पसूत्र प्रस्तावना प 1 । 6 सिद्धसन दिवाकर ब्राह्मण मत्री का पुत्र हरिभद्र पूव म विद्वान ब्राह्मण था स्टीवन्स म (श्रीमती वही, प 76 80 ।

ऐसा सभव हो कि बुद्धिवाद के युग के प्रारम्भ मे जब ब्राह्मण अपनी प्रतिष्ठा के प्राय शिखर पर थे और जब अन्य जातियो मे ब्राह्मण दासता के विरुद्ध अधिकाधिक जागृति हो रही थी तभी जैनो की उस मान्यता ने भी निश्चित स्पष्ट रूप लिया होगा । बौद्धो मे भी ऐसे ही कुछ विचार थे जैसा कि उनके भिक्षुसघ मे दिए क्षत्रियो के से प्रतीत होता है । वाराणसी के एक प्रवचन मे बुद्ध स्वयम् कहते है कि "धर्म के लिए कुलीन युवक प्रधानत्व ससार का सर्वथा त्याग कर देते है और गृह रहित जीवनावस्था ने स्वीकार करते हैं ।"[1]

ऐसा होते हुए भी स्मरण रखना चाहिए कि जैनो को इस बात से कोई भी एतराज नही था कि ब्राह्मण लोग जैन गुरू बन कर जैनसघ मे उच्च पद प्राप्त नही करें । परन्तु उनने उनके विषय मे इतना ही भेद किया और रहा है कि ब्राह्मण जन्म केवली बन मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है, परन्तु तीर्थंकर याने धर्मप्रवर्तक वह कभी नहीं बन सकता है । कदाचित् यह भेद उस समय के लोगो की इस सामान्य मान्यता को कि सब आध्यात्मिक कार्यों मे ब्राह्मण ही सर्वोपरि होने के अधिकारी हो सकते हैं, मिटा देने के लिए ही कियागया हो । सप्रमाण साक्षियो मे हमे ज्ञात है कि पूर्व काल मे धर्म और अनुष्ठानिक मामलो मे ब्राह्मण ही एकाधिकारी रहे या सर्वसत्ता भोगे ऐसा कुछ भी नही । हीनकुल लोगो के अपने ज्ञान और सद्गुणो से पुरोहिताई मे वस्तुत प्रविष्टि होने के अनेक उदाहरण भी उद्धृत किए गए है । धार्मिक ज्ञान का इजारा केवल ब्राह्मणो का ही नही था इतना ही नही अपितु बहुत बार शास्त्रज्ञान प्राप्त करने के लिए क्षत्रिय राजो के नम्र शिष्य भी बने ऐसे भी उदाहरण है ।[2] श्री टीले कहना है कि 'उनने अपनी पृथक जाति अभी तक नही बनाई थो क्योकि राजा और राजा का पुत्र भी पवित्र गायक रूप मे प्रसिद्ध थे और धार्मिक क्रियाए वे करते थे यद्यपि अनेक प्रतिष्ठित लोगो की भाति वे भी बहुत करके पुरोहित भी रखते थे ।[3]

स्थिति जैसी भी हो परन्तु, जैसा कि हम पहले ही कह आए है, उत्तरकालीन इतिहास मे इगिते अथवा आडम्बरे, ब्राह्मण लोग समाज के यथार्थ हितेषी और आध्यात्मिक गुरु[4] माने जाने लग गए थे, हालाकि 'किसी भी अवस्था मे प्राचीन ऋचाओ मे तो ब्राह्मण और ब्राह्मणपुत्र का फिर भी कभी कभी उल्लेख मिल जाता है, परन्तु बाद की ऋचाओ मे तो इनका उल्लेख बहुत है ।[5] इसलिए ब्राह्मणो को अपनी स्वम्भू सर्वोपरि सत्ता के शिखर से गिराने और उनके कितने ही अधिकार छीन लेने के लिए क्षत्रिय एव अन्य जातियाँ नि सदेह उकसित हो गई होगी ।'

महावीर के जीवन के इस प्रसग विशेष की व्याख्या करने मे डा याकोबी ने कुछ कष्टकल्पित अनुमान लगाए है । वे इस परिकल्पना पर चलते है कि सिद्धार्थ, महावीर के पिता के दो रानिया थी एक क्षत्रियाणी त्रिशला और दूसरी ब्राह्मणी देवानन्दा । फिर वे मान लेते है कि महावीर वास्तव मे देवानन्दा की कोख से ही जन्मे थे,

1 ह्रिस डेविड्स, और ओल्डनबर्ग, से बु ई, पुस्तक 13, पृ 93 ।

2 दत्त, वही, पृ 264 ।

3 टीले, वही, पृ 116 । ज्ञातियो के उद्भव के पूर्व और उस अन्तरिम काल मे भी जब तक कि कार्यकलाप अचल प्रतिष्ठित नही हो गए थे, राजा स्वयम् के और अपनी प्रजा के हितार्थ अन्य की सहायता बिना ही यज्ञ कर सकता था । ला, न. ना , वही, पृ 41 ।

4 'उन्हे राजो से कडा विरोध का सामना बहुत बार करना पडा था । परन्तु सामान्यतया वे अपने लक्ष्य मे औधत्य एवम् अधिकार से अथवा चालाकी से, सफल हो ही जाते थे ।' टीले, वही, पृ 121 ।

5. वही, पृ 115 ।

परन्तु उसकी माता की ओर से राज्य सम्बन्धी लाभ और महत्ता प्राप्त कराने और अपने क्षत्रिय सम्बन्धियों का उन्हें आश्रय प्राप्त कराने के लालच से उन्हें त्रिशला की कोख से जन्मा प्रसिद्ध कर दिया गया था।[1] एक महान् धर्मवीर के जीवन के ऐसे प्रसंग पर ये काल्पनिक अनुमान घड़ निकालने में हमें कोई भी सार्थकता नहीं दीखती हैं। फिर भी उस काल का विचार करते हुए जैनसूत्रों के इस वर्णन का इतना अर्थ तो हो ही सकता है कि तीर्थंकर के अतिरिक्त ब्राह्मण सभी कुछ हो सकता है।

इस प्रकार पटना के उत्तर लगभग 20 मील पर स्थित वैशाली[2] के पास के गांव में त्रिशला माता से महावीर का जन्म हुआ कहा जाता है। इनके पिता कुण्डग्राम[3] गांव के सरदार थे ऐसा कहा गया है और उनकी माता त्रिशला विदेह की राजधानी वैशाली के राजकुमार की भगिनी एवम् मगध के राजा बिंबसार की संबंधी थी।[4] नन्दिवर्धन उनका बड़ा भाई और सुदर्शना उनकी बड़ी बहन थी। उनका विवाह यशोदा नाम की कौडिन्य गोत्र की कन्या से हुआ था। इन यशोदा से उन्हें एक पुत्री उत्पन्न हुई थी जिसका नाम अणोज्जा था और उसे प्रियदर्शना भी कहा जाता था।[5] उसका विवाह उनके भानजे राजपुत्र जामालि के साथ किया गया था कि जो अपने श्वसुर का शिष्य और जैनधर्म में प्रथम मतभेद प्रवर्तक याने निह्नव हुआ था।[6] महावीर तीस वर्ष तक गृहस्थ जीवन में रहे थे और माता पिता का देहान्त पश्चात् अपने बड़े भाई की अनुमति से उनने गृहत्याग कर आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश किया था।[7] 'यह जीवन पश्चिमी देशों की भांति ही भारत में भी महत्वाकांक्षी लघुपुत्रों के लिए सुन्दर माना गया होना चाहिए।'[8]

महावीर के पिता माता पार्श्व पत्य थे —

जैन मान्यतानुसार महावीर के माता पिता पार्श्वनाथ के पूजक और श्रमणों के अनुयायी थे।[9] महावीर के सिद्धान्तों को जैनसूत्रों में उनके निज के सिद्धान्त नहीं कहा गया है। परन्तु 'पण्णत्ता' अर्थात् स्थापित सनातन

---

1 देखो याकोबी सेबुई पुस्तक 22 प्रस्तावना पृ 31।

2 मुजफ्फरपुर जिले के हाजीपुर उपविभाग स्थित आधुनिक बसाढ को ही वैशाली कहा जाता है।

3 वैशाली के ठीक बाहर ही कुण्डग्राम का उपपुर था जो आज का कदाचित् बसुकुण्ड गांव ही हो, और यहां ज्ञात्रिक क्षत्रियों के वंश का सिद्धार्थ नाम का धनिक नायक रहता था। कै हि ई भाग 1 पृ 150।

4 देखो फ्रेजर वही पृ 128-131। जैनसूत्रों के अनुसार त्रिशला को विदेहदत्ता और प्रियकारिणी भी कहा जाता था और यही कारण है कि महावीर भी विदेहदत्ता के पुत्र कहे जाते थे। देखो याकोबी वही पृ 193 194 256। 5 राजा समरवीरो ये यशोदा कन्यका निजाम्। प्रदात् वर्धमानाय सुतु यशोदायां मजायत। दुहिता प्रियदर्शना॥ हेमचन्द्र त्रिषष्ठि-श्लाका पर्व 10 श्लो 125 154 पृ 16।

6 शार्पेन्टियर कै हि ई भाग 1 पृ 158। राजपुत्रो। जमालि प्रियदर्शनाम्॥ हेमचन्द्र वही श्लोक 155 पृ 17। 7 समणे भगवं महावीरे तीसं वासाइं कट्टु विदेहंसि मुंडे भवित्ता आदि। कल्पसूत्र सुबोधिका-टीका, पृ 89 96। 8 राधाकृष्णन वही भाग 1 पृ 287।

9 महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्जा आदि। आचारांग श्रुतस्कंध 2 सूत्र 187 पृ 422। देखो याकोबी वही पृ 194। उसके माता पिता परम्परा के अनुसार जो कि विश्वस्त ही प्रतीत होती है, पूर्व तीर्थंकर पार्श्व के ही अनुयायी थे। जैसा कि पहले ही निर्देश किया जा चुका है महावीर का सिद्धान्त पार्श्व के सिद्धान्त का पुनर्वीक्षण या संशोधित संस्करण के सिवा और कुछ भी नहीं था। शार्पेन्टियर वही पृ 160।

सत्य रूप बताया गया है। यदि बुद्ध की भांति ही वे अपने धर्म के मूल सस्थापक होते तो यह सब अशक्य हो जाता। परन्तु यह तो कोई भी मान सके ऐसे एक सुधारक के जीवन और कथन का ही उल्लेख है।[1] उनका गुणगान देवो और मनुष्यो ने इन शब्दो मे किया कहा जाता है—जिनो द्वारा प्ररूपित अस्खलित मार्ग मे सर्वोच्च पद अर्थात् मोक्ष-निर्वाण प्राप्त करो।[2]

महावीर का तपस्वी जीवन —

गृह त्याग कर महावीर साधू की सामान्य जीवनचर्या मे रहे। बारह वर्ष मे कुछ अधिक काल तक वर्षावास के अतिरिक्त वे भ्रमण करते रहे थे।[3] प्रारम्भ के लगभग तेरह महीने तक 'पूज्य तपस्वी महावीर ने वस्त्र धारण किया था।'[4] बाद मे वे प्रत्येक प्रकार के वस्त्र का त्याग कर नग्न ही भ्रमण करते रहे थे। अबाधित ध्यान, अखण्ड ब्रह्मचर्य तथा खानपानादि नियमो का सूक्ष्म पालन करते हुए उनने अपनी इन्द्रियो को सम्पूर्णतया वश किया। बारह वर्ष तक देह-ममत्व की वे उपेक्षा करते रहे थे और कही से भी आते तमाम उपसर्गो को समभाव से सहन करने, उनका सामना करने और उन्हे भुगतने के लिए वे कटिबद्ध रहे थे।[5] यह स्वाभाविक ही था कि ऐसी विस्मृतावस्था मे महावीर सवस्त्र थे या नग्न इसका उन्हे बिलकुल ही भान नही था। ऐसी कोई भी स्पष्ट उनकी प्रवृत्ति नही थी कि जिससे वे नग्न ही भ्रमण करते रहे। जो वस्त्र उनने पदयात्रा मे रखा था उसे उनके पिता के एक ब्राह्मण मित्र सोम ने दो बार मे टुकडे-टुकडे करके ले लिया था।[6] उनकी थोडी बहुत विस्मृतावस्था मे जो कुछ भी उनके जीवन मे हुआ, वह उनके अनुयायियो द्वारा शब्दानुशब्द अनुकरणीय होने के अभिप्राय से नही था। जैनशास्त्रो मे ऐसी कठोर आज्ञा कही भी देखने मे नही आती है। उत्तराध्ययन मे सुधर्मा मुख मे नीचे लिखे शब्द रख दिए है कि 'मेरे वस्त्र फट जाने के पश्चात् मे (तुरन्त ही) नग्न विचरूगा अथवा नया वस्त्र लूगा, ऐसे विचार साधू को नही रखने चाहिए।'

एक समय उसको कोई भी वस्त्र नही होगा, दूसरे समय उसके पास कुछ होगा। इस नियम को हितावह समझ कर बुद्धिमान (मुनि) को इस सम्बन्ध मे कोई भी शिकायत नही करना चाहिए।[7] सक्षेप मे इसका अर्थ यह है कि ऐसी सब उपाधियो से साधू को अनासक्त रहना चाहिए। फिर भी सारे समुदाय के अनुशासन की दृष्टि

---

1. याकोबी, इण्डि एण्टी, पुस्तक 9, पृ 16।

2 योकोबी, से बु ई, पुस्तक 22 पृ 258। उनने तीर्थकरो के सर्वोच्च सिद्धान्त का उपदेश दिया था। वही, पुस्तक 45, पृ 288।

3 "जब वर्षाऋतु आ जाती है और वर्षा हो रही है तो अनेक जीवो की उत्पत्ति हो जाती है और अनेक बीजो के अकुर फुट जाते है।...यह जान कर मुनि को ग्रामानुग्राम भ्रमण करना नही चाहिए अपितु एक ही स्थान मे वर्षाऋतु मे वासावास करना चाहिए।"—याकोबी, सेबुई, पुस्तक 22, पृ 136।

4 समणे भगव महावीरे सवच्छर साहिय मास चीवरधारी हुतथा तेप्रा पर अचेलए पाणिपडिग्गहिए। कल्पसूत्र, सुबोधिका टीका, सूत्र 117, पृ 98। देखो सेबुई, पुस्तक 22, पृ 259, 261।

5 देखो वही, पृ 200।

6 तत पितुर्मित्रेण ब्राह्मणेन गृहीत। कल्पसूत्र, सुबोधिका-टीका, पृ 98। देखो हेमचन्द्र, वही, श्लो 2, पृ 19।

7 याकोबी, सेबुई, पुस्तक 45, पृ 11।

स सामान्य नियम यह हुआ कि भावू को एक वस्त्र से काम चला लेने का प्रयत्न करना चाहिए और उससे न चले सकने पर वह दो वस्तु भी रख सकता है।[1]

इस प्रकार स्वत स्वीकृत तप और ध्यान म बिताए बारह वष उनके निष्फल नही गए थ। 'तहरवें वष म एक प्राचीन मन्दिर के अनति दूर शालवृक्ष के नीचे गूढ ध्यानस्थ महावीर को सर्व श्रेष्ठ केवलज्ञान जो कि अनन्त सर्वोत्तम अबाधित, अविच्छिन्न परिपूर्ण और समग्र है प्राप्त हो गया।"[2]

महावीर का दीर्घ विहार —

इस प्रकार प्रायमिक आत्म पीडन के बारह वर्षों म महावीर बहुत से स्थानो मे जाते रहे थे जिनम से अनेक पहचानना आज अत्यन्त कठिन है। जगली जातियो से बसे देशो मे भ्रमण करत वहा रात्रि के विश्राम के लिए स्थान भी कभी कभी ही पाते और लाढ नामक जगली लोगो से बसे प्रदेश म भी भ्रमण करते उन्ह निदय बर्बर लोगो द्वारा बहुत ही दु खद और भयानक परिषह सहन करने पड़े थे।[3] परन्तु इस घोर साधनावस्था की समाप्ति के बाद वे सर्वज्ञ सब विषय ज्ञाता केवली और इस जगत म जिसके जानने को कोई भी गुप्त नहा हो ऐसे अर्हत् रूप म प्रसिद्ध और मान्य हुए।[4] इस समय उनकी आयु 42 वष की हो चुकी थी और जीवन के शेष 30 वष उनने अपनी धम प्रणाली को सिखाने साधुओ को सघ मे व्यवस्थित करने और भ्रमण द्वारा अपने सिद्धान्तो के प्रचार एवम् स्वधममार्गी बनाने मे बिताए थे। मगध और अग देश के राज्यो म आए हुए उत्तर और दक्षिण बिहार के लगभग सभी नगरो मे उनने भ्रमण किया था। परन्तु प्रमुखतया वे मगध और अग राज्यो म ही रहे थ। उनके अनेक चतुर्मास उनकी जन्मभूमि वशाली[5] मगध की प्राचीन राजधानी राजगृह, प्राचीन अग की राजधानी चपा[6]

---

1 याकोबी, सेबुई पुस्तक 22 प 157। जनो के वस्त्र सम्बन्धी आचार इतने सरल नहीं है क्योकि साधु का अचेलक या एक, दो और तीन वस्त्र तक रखने की भी आज्ञा दी गई है। परन्तु युवक सशक्त साधू को नियमत एक वस्त्र ही रखना चाहिए। महावीर नग्न ही रहे थे और वसे ही जिनकल्पिक भी या व जो महावीर का यथाशक्य अनुकरण करने के प्रयत्नशील थ नग्न रहत थे। परन्तु उन्ह भी अपनी नग्नता को *आच्छादित करने की आज्ञा थी' —वही प्रस्तावना प 26।*

2 वही प 263। देखो वही प 201।

3 देखो शार्पेंटियर वही पृ 158 राधाकृष्णन, वही पृ 280। महावीर बारह वष से कुछ अधिक काल तक लाढ वज्जभूमि और शुभ्रभूमि म और बगाल म आज के राढ प्रदेश म भ्रमण करत रहे थे। —दे दी ज्योग्राफिकल डिक्शनेरी आफ एशेंट एण्ड मेडीवल इण्डिया पृ 108। डा ब्हूलर के अनुसार बगाल म आज का राढ प्रदेश। देखो ब्हूलर इण्डियन सेक्ट आफ दी जनाज पृ 26।

4 देखो याकोबी वही प 263 264।

5 कुण्डग्राम के नाम स वशाली नगर शीश जैन तीथकर महावीर की जन्मभूमि कहा जाता है और इसी से व वसाली अर्थात् वशाली के निवासी भी कहे जात थ। दे वही प 107।

6 चपा जनो का एक पवित्र स्थान है। स्वयम महावीर ने अपने भ्रमण काल म तीन वर्षाऋतुओ म वासावास किया था। फिर यह नगर जनो के बारहवें तीथकर श्री वासुपूज्य की जन्म और निर्वाण भूमि भी कही जाती है। देखो वही पृ 44।

विदेह की राजधानी मिथिला और श्रावस्ती[1] मे हुए थे ।

उनका भ्रमण बहुत ही विस्तृत क्षेत्र मे हुआ था ऐसा प्रतीत होता है । प्रसगवश वे मगध की राजधानी राजगृह और अन्य नगरो मे पधारते थे जहा उनको अपूर्व मान मिला करता था ।[2] फिर उनके ही समय मे जैनो मे मतभेद हो जाने पर भी, जैनो की मान्यतानुसार, उनके अनुयायियो की सख्या उनकी प्रतिष्ठा को जरा भी ठेस पहुचाने वाली नही थी । उनके सघ मे 14000 श्रमण, 36000 श्रमणिया, 159000 श्रावक और 318000 श्राविकाए थी । इसके अतिरिक्त 5400 अन्य शिष्य थे जो या तो श्रुतकेवली चौदहपूर्वो के ज्ञाता थे या केवली, मन पर्याय ज्ञानी, अवधिज्ञानी आदि-आदि थे ।[3]

महावीर निर्वाण समय.—

पारसनाथ पहाडी के निकट की ऋजुपालिका नदी पर के जृ भिका गाव मे[4] बयालीस वर्ष की उम्र मे केवली होने और जैनधर्म के सुधारक के रूप मे 30 वर्ष तक भ्रमण करने के पश्चात् महावीर राजगृह निकटस्थ[5] मे हस्तिलाल राजा की रज्जुगशाला मे 72 वर्ष[6] की आयु मे निर्वाण प्राप्त हुए । आज भी जैन यात्री हजारो की सख्या मे उस स्थान की यात्रा करते हे । जैन काल गणनानुसार यह प्रसग ई पूर्व 527 मे अथवा सिहल गणनानुसार बौद्ध निर्वाण यदि ई पूर्व 543[7] माने तो उससे सोलहवे वर्ष मे बना माना जाता है । यह सवत अनेक कालगणना पुस्तको और टीकागन्थो मे पुनरावर्तित तीन गाथाओ पर ही अवलम्बित है ।[8] इन गाथाओ

---

1 'श्रावस्ती जिसको सहेत-महेत भी कहते है, जैनो की चन्द्रिकापुरी या चन्द्रपुर है । यहा तीसरे तीर्थङ्कर सभवनाथ जी का और आठवे श्री चन्द्रप्रभुजी का जन्म हुआ कहा जाता है ।'दे वही पृ 190 । 'उस काल मे, उस समय मे श्रमण भगवान् महावीर ने प्रथम चातुर्मास अस्थिकग्राम मे, तीन चातुर्मास चपा और पृष्ठचपा मे बारह वैशाली और वाणिज्यग्राम मे, चौदह राजगृह और नालदा के उपनगर मे...एक श्रावस्ती मे और एक पावानगरी मे राजा हस्तिपाल की रज्जुगशाला (लेखकशाला) मे किया था ।' याकोबी, वही, पृ 264 ।

2 शार्पेटियर, वही और वही पृष्ठ । 'उनके प्रभावक्षेत्र का विस्तार श्रावस्ती या कोसल विदेह, मगध और अग राज्यो याने आधुनिक अवध एवम् पश्चिमी बगाल के बिहार और तिरहुत प्रदेशो की परिसीमाओ से मिलता हुआ है ।' व्हूलर, वही, पृ 20 । 3 याकोबी, वही, पृ 267-268 ।

4 इसे जृ भिक या जृ मिला भी कहते है ।—स्टीवन्सन (श्रीमती), वही, पृ 38 ।

5 महावीर 30 वर्ष तक गृहवासी, 2 वर्ष से कुछ अधिक छद्मस्थ और कुछ न्यून 30 वर्ष केवली याने 42 वर्ष साधू रूप मे रहे थे ।'—याकोवी, वही, पृ 269 ।

6 पापा-पावापुरी, बिहारनगर के दक्षिण-पूर्व मे लगभग 7 मील गिरियेक के उत्तर मे दो मील पर है ।' स्टीवन्सन पादरी के कल्पसूत्रानुसार, महावीर का निर्वाण यहा पर उस समय हुआ जबकि पापा के राजा हस्तिपाल के महल मे वे पर्यूषणा व्यतीत कर रहे थे । उनके निर्वाण-स्थली पर एक बाडे मे चार सुन्दर जैन मन्दिर है । दीवाली (दीपावली) का वार्षिक पर्व महावीर के निर्वाण की स्मृति मे ही प्रचलित हुआ था । देखो दे, वही, पृ 148 ।

7 देखो याकोबी कल्पसूत्र, प्रस्तावना पृ 8 ।

8 जिनमे ये घोषणाए मिलती है, वे प्रमाण कोई भी 12 वी सदी ईसवी से प्राचीन नही है । पूर्वतम प्रमाण हेमचन्द्र का है जिसका देहात ई 1172 मे हुआ था ।—व्हूलर, वही, पृ 23 ।

का मूल यद्यपि किसी भी स्थान म स्पष्ट रूप से नही मिलता है, परन्तु फिर भी य अनेक टीका ग्रथो और प्राचीन जन कालगणना ग्रथो म उद्धत हुई देखी जाती हैं । इनम वीर और विक्रम सवत के बीच का अतर बताया गया है और प्राचीन जन कालगणना के लिए इन्ह आधारभूत माना गया है ।[1] मेरुतु ग की विचार श्रेणी इन्ही गाथाओ पर आधारित है । इनमे वीर निर्वाण और विक्रमादित्य के राज्यारोहण के बीच म 470 वर्ष का अन्तर कहा गया है ।

इन तीन गाथाओ का भाषातर इस प्रकार है[2]—(1) जिस रात्रि म तीथकर महावीर देव ने निर्वाण प्राप्त किया उसी रात्रि में अवति के राजा पालक का राज्याभिषेक हुआ । (2) राजा पालक क 60 (वर्ष) नदो के 155 (वर्ष) मौर्यों के 108 और पुष्पमित्र (पुष्यमित्र) के 30 (3) बलमित्र और भानुमित्र ने 60 (वर्ष) राज्य किया नभोवाहन ने 40 और उसी प्रकार गदभिल्ल का राज्यकाल 13 वर्ष चला और 4 शक का वर्ष है ।[3]

इस प्रकार मेरुतु ग की गणनानुसार विक्रमादित्य क युग और महावीर क समय म 470 वष का अन्तर है और इसलिए निर्वाण ई पूर्व 527 क अनुसार है ।[4] मेरुतु ग की गणनानुसार यह अ तर 470 वर्ष मान लें तो विक्रम सवत के प्रारम्भ और मौर्यों के राज्य मे 255 वर्ष का अतर आता है और इससे चन्द्रगुप्त क अभिषेक का समय जन मान्यतानुसार ई पूर्व 312 (255+57) आता है । क्योकि वि स ई पू 57 मे शुरु हुआ था ।[5] अब 470 म से 255 घटावें तो चन्द्रगुप्त का समय और निर्वाण का अतर 215 आता है । इन 215 वर्षों के विषय म सब एक मत नही हैं क्योकि हेमचन्द्राचार्य अपने परिशिष्टपर्व मे लिखता है कि ' और इस प्रकार महावीर के निर्वाण के 155 वष पश्चात् चन्द्रगुप्त राजा हुआ था । [6] इसवी सन् पूव 312 म 155 वष जोडने पर महावीर निर्वाण की तिथि इ पूव 460 आती है । यह सही है कि मेरुतु ग भी हेमचन्द्राचाय के इस कथन का उल्लेख करता है, परन्तु साथ ही कहता है कि ग्रन्थो म इसका विरोध किया गया है इससे अधिक वह कुछ भी नही कहता है ।[7]

डा याकोबी[8] और डा शार्पटियर[9] दोनो जन विद्वानो न महावीर की निर्वाण तिथि इन दोनो जैनाचार्यो के दिए प्रमाणो के आधार से निश्चित की है । दोनो ने इतनी अधिक सूक्ष्मता और ऐतिहासिक सत्यता स अपने अनुमानो को प्रस्तुत किया है कि उनके अभिप्राय को फिर से सिद्ध करने के लिए उस विवरण म फिर स

---

1 बूलर इण्डि एण्टी पुस्तक 2 प 363 ।

2 मेरुतु ग, सुप्रसिद्ध जैन ग्र थकार, ने वि स 1361 ई 1304 म अपना ग्रन्थ प्रब ध चिंतामणि और उसके दो वष पश्चात् अपना विचारश्रेणी ग्रथ रचा था । शार्पेंटियर इण्डि एण्टी पुस्तक 4 पृ 119 ।

3 ये गाथाएँ मरुतु ग द्वारा ही अथवा उसके किसी समकालिक द्वारा ही नही रची गइ थी यह सुनिश्चित है क्योकि उस समय तक जन लेखक बहुत पहले स ही प्राकृत म रचना करना त्याग चुक थ । शार्पेंटियर वही प 120 ।

4 जरनल आफ ब्रा रायल एशियाटिक सोसायटी । विचारश्रेणी प 1 हस्तप्रति भा प्रा म पुस्तकालय सूची 1871 1872 स 378 ।5 विक्रम सवत् और ईसाई युग के प्रारम्भ के बीच म 57 वष बीत चुके थे ।

6 एव च श्री महावीर चन्द्रगुप्तो भवन्नप । याकोबी परिशिष्टपर्वन सग 8 श्लो 339 ।

7 तच्चिन्त्यम् यत एव 60 वर्षाणि तुटयन्ति ।। अन्य ग्रन्थ सहविरोध । विचारश्रेणी वही प 1 ।

8 याकोबी कल्पसूत्र प्रस्तावना, प 6–10 ।

9 शार्पेन्टियर वही प 118–123 125–133 1(7–178 ।

जाना आवश्यक नही है। हेमचन्द्र के प्रस्तुत किए प्रमाण को स्वीकार कर लेने की वे शिफारिश करते हुए इस अनिवार्य निर्णय पर आते हैं कि इस युग की तिथि ई. पूर्व 460 के लगभग ही होना चाहिए।[1]

'मैंने यह बताने का प्रयत्न किया है' डा शार्पेंटियर कहता है कि 'कलागणना की टीप जिस पर जैनों ने विक्रम सवत् के प्रारम्भ और महावीर निर्वाण के बीच का अन्तर 400 वर्ष होने की कल्पना की है, वह एक दम अर्थहीन है। समय की पूर्ति के लिए जो राजवशालिया बनाई गई हैं वे एकदम इतिहास विरुद्ध और किसी भी प्रकार से मानी जा सकें ऐसी नहीं हैं।...'[2] जैन कथन के एकदम काल्पनिक आधार को एक ओर रख कर इन प्रसिद्ध विद्वानो जो अन्य प्रमाण प्रस्तुत किए हैं वे हैं बुद्ध और महावीर दोनो की समकालिक अस्तित्व और हेमचन्द्र द्वारा प्रस्तुत अधिक विश्वस्त ऐतिहासिक तथ्य।

दोनो महापुरुष समकालिक और प्रतिस्पर्धा साधू-समुदायो के स्थापक थे। यह अब एक सिद्ध तथ्य है। परन्तु यदि हम जैन दतकथा को सत्य मान लें जो कि कहती है कि महावीर का निर्वाण विक्रम पूर्व 470 वर्ष यानि ई पूर्व 527 मे हुआ था तो हमे ऐसी शका होती है कि ऐसा सम्भव है भी या नही क्योकि बुद्ध का निर्वाण, जिसकी तिथि पहले ही मेरी दृष्टि मे ठीक ही, जनरल कनिंघम और प्रो मैक्षमूलर निर्णय ने की थी, ई पूर्व 477 मे हुआ। और सब आधार यह कहने मे एक मत है कि बुद्ध उस समय 80 वर्ष के थे, तो फिर उनका जन्म ई. पूर्व 557 मे होना चाहिए। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि महावीर का निर्वाण ई पूर्व 527 मे हुआ हो तो बुद्ध उस समय 30 वर्ष के थे और उन्हे 36 वर्ष की आयु मे याने ई पूर्व 521 पहले न तो बुद्धत्व प्राप्त हुआ था और न उनने कोई शिष्य ही बनाए थे इसलिए यह एक दम असम्भव बात है कि बुद्ध महावीर से कभी मिले ही नही हो। फिर दोनो ही अजातशत्रु जो बुद्ध निर्वाण के 8 वर्ष पूर्व ही राजा हुआ था और जिसने 32वर्ष राज्य किया था, के राज्यकाल मे थे, यह भी प्रमाणित हैं। इसलिए ऊपर कही गई तिथिया मानना और असम्भव हो जाता है।[3]

हेमचन्द्र के परिशिष्टपर्व मे दिए प्रमाणो का विचार करते हुए डा शार्पेंटियर कहता है कि 'हेमचन्द्र के विक्रम सवत् और चन्द्रगुप्त के राज्यकाल मे बताए गए 255 वर्ष के अन्तर को हम डा याकोबी के साथ ठीक

---

1 नि सदेह अन्य विद्वान भी हैं जो इससे विरोधी मतवाले हैं, परन्तु उनके विचारो की याकोबी और शार्पेंटियर के विवेचनो ने कालव्यतीत कर दिया है। इसलिए यहा पर फिर से उनका विचार करना अनुपयोगी है। इन विद्वानो मे से कुछ के नामो का सकेतमात्र कर देना ही पर्याप्त है — बर्ग्येस, इण्डि एण्टी, पुस्त 2, पृ. 140, राइस, त्यइस, इण्डि एण्टी, पुस्त 3 पृ 157, टामस (एड्वर्ड), इण्डि एण्टी, पुस्त 8, पृ 30, पाठक, इण्डि एण्टी, पुस्त 12, पृ 21, हरनोले, इण्डि एण्टी, पुस्त 20, पृ 360, गेरीनोट, बिब्लोग्राफी जेना, प्रस्ता पृ 7।

2 शार्पेंटियर, वही, पृ 125। 'न केवल वर्ष की सख्या 155 जो गाथा मे नन्दो का राज्यकाल की दी गई है, अत्यधिक है अपितु अवती के राजा पालक के राज्यकाल का, मगध राजाओ के राज्यकाल मे, वर्णन ही इस काल गणना को बहुत सशयास्पद कर देता है।' याकोबी, वही, पृ 8।

3 शार्पेंटियर, वही, पृ 131–132।' निर्वाण तिथि के हमारे विवेचन को फिर से विचार तो स्पष्ट है कि ई पूर्व 467 जो हमने हेमचन्द्र उल्लिखित कालगणना के आधार पर निर्णय किया है, अधिक अशुद्ध नही लगता है क्योकि यह बुद्ध निर्वाण की सशोधित तिथि ई पूर्व से समकालिकता दृष्टि से इतनी अच्छी तरह मेल खा जाती है कि जो हम पूर्व शोधो द्वारा आवश्यक प्रमाणित कर चुके हैं।' याकोबी, वही पृ 9।

मान सकते है । इससे महावीर निर्वाण और विक्रम के राज्यारोहण म 255+155 वष मिल कर कुल 410 वष का अ तर हो जाता ह और इससे महावीर निर्वाण ई पूर्व 467 मे होना ही निश्चित होता है और यह साल मेरे अभिप्रायानुसार उसके साथ सम्बन्धित सब प्रसगो से अनेक प्रकार से ठीक बैठ जाता है और इसलिए इस ही सत्य स्वीकार किया जा सकता है।'[1]

इसके अतिरिक्त और भी अनेक कारण हैं कि जो एक या दूसरी प्रकार मे महावीर निर्वाण की इस तिथि के निर्णय किए जाने से हमारी सहायता करते हैं। उन सब की चर्चा म उतरने के स्थान मे उनका यहा कह देना मात्र उचित होगा। भद्रबाहु के निर्वाण की तिथि और उनका चन्द्रगुप्त के साथ सम्बन्ध[2] जनधम म हुए तीसरे पथभेद की तिथि और उसके साथ मौय राजा बलभद्र का सम्बन्ध[3], देवर्धिगणि द्वारा निश्चित की हुई भद्रबाहु के कल्पसूत्र म दी गई तिथि और ध्रुवसेन के राज्यारोहण वष मे वल्लभी म एकत्रित महासभा की तिथि का सम्बन्ध[4] और अ त म स्थूलभद्र के शिष्य सुहस्ति की तिथि एवम् उसका अशोक के पौत्र और उत्तराधिकार सम्प्रति[5] के साथ सम्ब ध [6]

हमारे सामने इन सब ऐतिहासिक तथ्यो के होने स एक बात स्पष्ट हो जाती है कि जिस निर्णय पर हम ऊपर पहुचे हैं उस विचारणीय तिथि स सम्बन्धित अनेक तथ्यो के साथ पूरी पूरी सगति बैठ जाती है। फिर भी ई पूव 467 की तिथि यद्यपि बहुत अशुद्ध तो नही है तो भी महावीर निर्वाण की तिथि यथाथ रूप से नही स्वीकार की जा सकती हैं क्योंकि यह, मानने का भी कोई कारण नही है कि हेमचन्द्र ने विक्रम सवत् और चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण म 255 वप का अन्तर होने का और इसस जिस निर्णय पर पहुचने का कि जन काल गणनानुसार चन्द्रगुप्त का राजवश ई पूव 312 म प्रारम्भ हुआ था सत्य स्वीकार कर लिया था इसम तो कोई भी सन्देह नहीं है कि चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण की निश्चित तिथि निकालना आज तक की उपलब्ध साक्षियो द्वारा असम्भव है।[7] परन्तु फिर भी इतनी अधिक अनिश्चितता की बात पर अधिक उहापोह न करते हुए यह कहा जा सकता है कि प्राचीन तिथि अधिक उचित और तात्कालिक ऐतिहासिक वातावरण एवम् चन्द्रगुप्त के जीवन के

---

1 शार्पेंटियर वही पृ 175।

2 भद्रबाहु के देहान्त की यह तिथि वीरात् 170 है जो परम्परागत वीर निर्वाण तिथी के हिसाब स ई पूव 357 और याकोबी एवम् शार्पेंटियर निर्णीत तिथि के अनुसार ई पूव 290 आती है। भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त के सम्ब ध की दृष्टि से ई पूव 357 सर्वथा त्याज्य है।

3 यह पंथभेद वीरात 214 मे हुआ था और मेरुतुग के अनुसार मौय राज्य का प्रारम्भ वीरात 215 है। इसलिए हेमचन्द्र की गणना जो कि मौय राज्य का प्रारम्भ वीरात 155 कहता है अधिक ठीक लगती है।

4 यह तिथि वीरात् 980 या या 993 है। यदि वीर निर्वाण तिथि ई पूव 467 लें तो ई 526 के अनुकूल यह आती है और वल्लभी पर ध्रुवसेन के राज्यरोहण वष से एक दम मेल खा जाती है।

5 मेरुतुग के अनुसार यह तिथि वीरात् 245 है और यह हेमचन्द्र की कालगणना के बहुत कुछ अनुरूप है जिसके अनुसार चन्द्रगुप्त वीरात् 155 म राज्य करना प्रारम्भ करता है क्योंकि अशोक की मृत्यु चन्द्रगुप्त स बाद 94 वे वष म हुई थी और इससे सम्प्रति की राज्यारोहण तिथि वीरात् 249 आता है।

6 देखो शार्पेंटियर वही पृ 175–76 याकोबी वही पृ 9 10।

7 काल निरूपण का हमारा दावा मान उस विश्वस्त सूचना से एक दम विपरीत है कि जो हम देश और शासन के सम्बन्ध मे प्राप्त है। टामस (एफ डब्ल्यू) के हि इ भाग 1 पृ 73।

अनेक प्रसगो के अधिक अनुकूल ही लगती है। डा टामस[1], श्री स्मिथ[2] आदि विद्वानो ने चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण का काल ई. पूर्व 325 से 321 अथवा उसके आस पास रखने को सम्मत है।[3] यदि इस बात को हम अपना आधार बनाए तो हमे महावीर निर्वाण की तिथि ई पूर्व लगभग 480–467 के बीच आती लगती है और बुद्ध की ई पूर्व 477 की ठीक की हुई निर्वाण तिथि से भी सगत हो जाती है जो कि 'लगभग सही प्रमाणित हो चुकी है।'[4] इसका कारण यह है कि स्पष्ट रूप से इन दोनो महापुरुषो के निर्वाण मे बहुत ही थोड़े वर्षों का अन्तर होना चाहिए।[5] फिर वर्धमान के निर्वाण की स्वीकृत वह तिथि उन किसी भी प्रमाणो और तर्कों के विरुद्ध नही है जो कि ऊपर गिनाए जा चुके हैं।

फिर भी महावीर के किए जैनधर्म मे सुधार का विचार करने के पूर्व श्री जायसवाल, बेनरजी और अन्य विद्वानो द्वारा प्रस्तुत यथार्थ माने जाते अनुमानो से कालगणना मे उत्पन्न हो रही भ्रमणा के सम्बन्ध मे भी यहा कुछ कह देना उचित है।[6] जैसा कि हम 'कलिंग देश मे जैनधर्म' शीर्षक अध्याय मे आगे देखेंगे कि अभी तक श्री विंसेंट स्मिथ[7] और अन्य विद्वानो की भाति ये विद्वान भी ऐसा मानते थे कि खारवेल का शिलालेख मौर्य युग के 165 वे वर्ष का है– राज-मुरिय-काले-याने ई पूर्व 170 का। 300 वर्ष पूर्व याने ई पूर्व 470 मे कलिंग मे किसी नन्द राजा के नहर खुदवाने का इसमे उल्लेख आता है।[8] इस बात मे यह ऐतिहासिक तिथि का महत्व बढ जाता है। नौवा शिशुनाग राजा नन्दिवर्धन जिसकी तिथि पहले ई पूर्व 418 स्वीकृत हुई थी, के साथ इस नन्दराजा को मिला देने से स्मिथ सारी शिशुनाग वशावली को पलट देने की सीमा तक पहुच गए थे और अजातशत्रु को पहले के ई पूर्व 491 के स्थान मे ई पूर्व 554 बिंबसार को ई पूर्व 519 के स्थान मे 582 मे उनने रख दिया था।[9] बुद्ध और महावीर दोनो की समकालीन वशावली मे यह फेरफार देख कर और नदराज

---

1 वही, पृ 471, 472।

स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (4था सस्करण), पृ 206।

प्रो कर्न चन्द्रगुप्त की राज्यारोहण तिथि ई पूव 321 और 322 निश्चित की है। तदनुसार निर्वाण तिथि ई पूर्व 477 और 475 के बीच मे कुछ कुछ पडती है जो कि कुछ वर्षो के हेरफेर महित सत्य ही प्रतीत होती है क्योकि बुद्ध की सशोधित निर्वाण तिथि ई पूर्व 477 से यह मेल खाती है। याकोबी, परिशिष्टपर्वन्, प्रस्तावना, पृ 6। 4 याकोबी, वही और वही पृष्ठ।

5 देखो दासगुप्ता, वही, भाग 1, पृ 173।

6 जायसवाल, वि उ. प्रा पत्रिका, स. 3, पृ 425-472, और स 4 पृ 364 आदि, बेनरजी (रा दा), वि उ प्रा पत्रिका, स 3, पृ 486 आदि।

7 स्मिथ, रा ए सो पत्रिका, 1918, पृ 543-547। 8 वही, पृ 546।

9 अपने ग्रन्थ' अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया के तृतीय सस्करण मे मैंने नन्दिवर्धन का राज्यारोहण समय सशक ई पूर्व लगभग 418 मे रखा था। अब वह ई पूर्व लगभग 470 मे रखा जाना चाहिए या इससे भी कुछ पूर्व। उस शोध से अजातशत्रु या कणिक। (शिशुनाग 5 वा) को कम से कम ई पूर्व लगभग 554 मे और उसके पिता बिंबसार याने श्रेणिक को (शिशुनाग 4 था) कम से कम ई पूर्व लगभग 582 मे रखना होगा।' स्मिथ, वही, पृ 546–547। अपने प्रथम 1904 के सस्करण मे स्मिथ ने नन्दिवर्धन को समय ई. पूर्व 401 रखा था, पृ 35, देखो वही, 41, वही, पृ 51 (4था सस्करण)।

से अपहृत प्रतिमा का उल्लेख शिलालेख के मुख्य भाग म होने स स्मिथ[1] और जायसवाल[2] इस निर्णय पर पहुचे थे कि खारवेल के शिलालेख के अनुसार महावीर का निर्वाण ई पूव 527 मे और बुद्ध का निर्वाण ई पूव 543 म हुआ था। और यह प्राचीन परम्परा का ही समथन करता है।

हम आगे देखेंगे कि खारवेल के शिलालेख पर आधारित ये अनुमान श्री जायसवाल द्वारा सूचित अंतिम आकलन का विचार करते हुए कुछ भी उपयोगी नहीं हैं। उसम निर्देशित समय का मौयकाल से कुछ भी सम्बन्ध नही है। फिर यह तथ्य भी कुछ महत्व का नहीं है क्योकि महान् इण्डो ग्रीक राजा डिमोट्रियस के उल्लेख का विचार करने पर हम शिलालेख की इस तिथि पर प्राय पहुच जाते हैं। इससे अति महत्व का फेरफार जो हुआ वह यह है कि उल्लिखित नहर नदवश के 103 वें वष म खुदाई गई थी न कि 300 वष पूव।[3] इस प्रकार वह मूल आधार कि जिसके कारण श्री स्मिथ ने शिशुनागो की सारी वशावली 50 वष पीछे हटाने का अस्पष्ट साहस कर लिया था भूपतित हो जाता है। यह महान् इतिहासवेत्ता कहता है कि नवीन प्रमाणो से मैं इतना अधिक प्रभावित हुआ हू कि मेरी अब छप रही और प्रकाशित होने वाली आक्सफड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' म शिशुनागो और नदो का पूव समय म होना माना।[4] परन्तु जिस विद्वान को श्री स्मिथने इस सीमातक उचित ही विश्वास किया था और जो अपने दृढ विश्वास पर डटे रहने के महान सम्मान का पात्र भी है उसने ही अधिक लम्बे समय के अभ्यास और खोज के पश्चात् शिलालेख के पूव आकलन को एकदम ही बदल दिया है।

अब देखिए कि श्री जयसवाल कहते हैं कि इससे यह भी सिद्ध होता है कि ई पूव 450 के लगभग या उससे कुछ पूव जन प्रतिमा का होना यह बताता है कि महावीर के निर्वाण की तिथि वही होना चाहिए कि जो हम पृथक पृथक कालगणना का पुराणो और पाली ग्रथो के साथ साथ आकलन करने पर प्राप्त करते हैं और जो सब के आधार म ई पूव 545 निश्चित होती है।[5] यह कुछ विचित्र सा अवश्य ही लगता है क्योकि जिस नन्दराज का यहा उल्लेख हुआ है उस शिशुनागवशी नन्दिवधन जिसका समय अलबरुनी और अन्य ऐतिहासिक प्रमाणो स श्री जायसवाल ने उपयुक्त नन्द का ही माना है के साथ विशेष रूप स क्यो जोडा जाता है यह कुछ भी समझ म नहीं आता है।[6]

यह राजानन्द जसा कि हम दूसरे अध्याय मे आगे देखेंगे डॉ शार्पेंटियर के अनुसार नव नन्दो म के एक से ठीक ठीक मिलता आता है कि जिनम का पहला हेमचन्द्र द्वारा बहुत अननुकूल वर्णित मालूम नहीं देता है।[7]

---

1 पाली कथानको के अनुसार महावीर का निर्वाण बुद्ध स पूव ही गया था। परन्तु अन्य प्रमाण ई पूव 467 का समथन करते हैं जिसकी कि डा शार्पेंटियर अनुरोध करता हैं और यह तिथि भद्रबाहु की परम्परागत तिथि स भी मन ली जाती है जो कि चन्द्रगुप्त मौय के समकालिक थे। ई पूव 527 (528-7) जो कि अत्यधिक प्रमाण म महावीर की निर्वाण तिथि कही जाता है उन अनेक तिथियो म स एक है। परन्तु इसका समथन खारवेल के शिलालेख से होता है। वही प 49।

2 जायसवाल वि उ प्रा अनिका स 13 प 246। 3 वही प 221 आदि।

4 स्मिथ रा ए सो पत्रिका 1918 पृ 547।

5 जायसवाल वही पृ 246। जायसवाल की यह तिथि उन कालक्रमानुसारी तथ्यो पर आधारित है कि जिनको उनने पाली पुराण और धर्मी परम्पराओं क परिशोधन स निकाला है। देखो वही स 1, पृ 114।

6 जायसवाल वही स 13 पृ 240 241। 7 शार्पेंटियर वही पृ 171 172।

यदि दोनो की यह समानता स्वीकृत हो तो जैन प्रतिमा के अस्तित्व का ऐतिहासिक काल ई पूर्व चौथी सदी का लगभग प्रारम्भ ही होना चाहिए । फिर यह भी माना जाए कि राजा नन्द कि तिथि श्री जायसवाल के अनुसार ई. पूर्व 457 के लगभग है, वही नन्दिवर्धन है तो ऐसा कहने मे कि जैन प्रतिमाए ई पूर्व 450 के लगभग या उससे भी कुछ पहले थी, ऐतिहासिक भूल अथवा जैन दन्तकथा मे कोई विरोध नही मालूम देता है । ऐसा कहने मे केवल इसी कारण से ऐतराज नही हो सकता है कि महावीर का निर्वाण ई पूर्व लगभग 467 के नही हो सकता है और ई पूर्व 545 तक दूर जाना आवश्यक है क्योकि सत्य या असत्य परन्तु अनेक दन्तकथाओ के अनुसार मूर्तिपूजा जैनधर्म मे कोई नही है ।[1]

जैन कालगणना मे अजातशत्रु और चन्द्रगुप्त के बीच का अन्तर उदायिन और नव-नन्दो[2] से सम्पूर्ण किया गया है, और मेरुतुंग जैसा लेखक कहता है कि नन्दो का राज्य 155 वर्ष चला था । पक्षान्तर मे हेमचन्द्र ने गण नन्दो को केवल 95 वर्ष ही दिए है और वह वस्तुत इसमे नवो-नन्दो को ही लेता है । फिर भी ई पूर्व 480 467 का काल जिसे महावीर निर्वाण काल हमने माना है, सम्भव परिकल्पना की सीमा बाधने के प्रयत्न के अतिरिक्त कुछ भी नही है जैसा कि आज तक उपलब्ध कतिपय प्रमाणो मे भारतीय प्राचीन इतिहास के पुनर्निर्माण के हमारे प्रयत्नो मे होना बहुधा अनिवार्य है । इससे अधिक सत्य निर्णय के लिए हमे उस समय की प्रतीक्षा करनी ही होगी कि जब पुरातत्व खोजो से हमे और पर्याप्त साधन प्राप्त नही हो जाए ।

जैनधर्म की दृष्टि से सृष्टि की उत्पत्ति.—

महावीर के सस्कारित जैनसम्प्रदाय या तथाकथित जैनधर्म का जब विचार करते है तो हम देखते हैं कि किसी के भी सम्बन्ध मे विस्तार से विचार करना हमारे लिए सम्भव नही है । इस पुस्तक के मर्यादित क्षेत्र मे हमारे लिए इतना ही सम्भव है कि हम उसके मुख्य लक्षण और मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन सम्बन्धी सामान्य समस्याओ, प्रश्नो और उलझनो के विषय मे उसके विश्वासो का विचार मात्र यहा कर ले । तत्वज्ञान की जीवित ज्योति चितन है । प्राथमिक तत्व चितन जगत की उत्पत्ति की खोज मे रहा था और कर्म सिद्धान्त को स्वरूप देने का उसने प्रयास किया था । इस विषय मे जैनधर्म को नास्तिक यदि किसी शाश्वत सर्वोपरि ईश्वर को सब वस्तुओ का कर्ता और स्वामी नही मानना ही नास्तिकता हो तो, कहा जा सकता है । "देवी सर्जकात्मा के अस्तित्व का निषेध ही जैनधर्म की नास्तिकता का अर्थ है ।"[3] जैनी ऐसे सर्व शक्तिमान ईश्वर को नही मानते हैं । परन्तु वे शाश्वत अस्तित्व, सर्वव्यापी जीवन, कर्मसिद्धान्त की अटलता और मोक्ष के लिए सर्वज्ञता की आवश्यकता को स्वीकार करता है ।

जैनो को विश्व-उत्पत्ति के आदि कारण के प्रश्न के आकलन की आवश्यकता प्रतीत नही होती ।[4] वे बुद्धिगम्य आदि कारण के अस्तित्व को नही मानते है[5] और शून्य मे से अथवा अकस्मात उद्भूत सर्जन सिद्धान्त

---

1 तएग सा दोवई रायवर कन्ना...जेणेव जिणघरे...यजिणपडिमाण...पणाम करेई...ज्ञाता सूत्र 119 पृ 210 । 2 देखो रेप्सन कै हि इ,, भाग 1, पृ 313 ।

3 हापकिस, वही, पृ. 285-286 । "उनके यथार्थ देव उनके जिन या तीर्थंकर ही हैं जिनकी मूर्ति की पूजा उनके मन्दिरो मे की जाती है ।"—वही ।

4 कर्तास्ति कश्चिद् जगतः स चैक , स सर्वग स स्ववश स नित्य । इमा कुहेवाकविडम्बना स्युस्तेषा न येषामनुशासकत्वम् ।।9।। हेमचन्द्र, स्याद्वादमजरी (मोतीलाल लधाजी सम्पादित), पृ 24, वही, पृ 14 आदि ।

5 राधाकृष्णन, वही, भाग 1,पृ 299 । देखो विजयधर्मसूरि, भण्डारकर स्मृतिग्रन्थ,पृ (14 आदि) 150-151 ।

की भी वे उपेक्षा करते हैं। एक जैन विचारक की दृष्टि मे प्रकृति के सिद्धान्त का व्यवस्थित संचालन किसी अकस्मात अथवा प्रारब्ध का फल नही हो सकता है। जैनों की कल्पना मे यह भी ही नही सकता है कि असर्जक ईश्वर एका एक सर्जक कैसे बन सकता है। आचार्य जिनसेन प्रश्न करता है कि 'यदि ईश्वर ने विश्व को रचा है तो इसकी रचना के पूर्व वह ईश्वर कहा था? यदि वह आकाश मे नही था तो उसने विश्व का स्थान निर्देश कैसे किया? अरूपी और अमूर्त ईश्वर मूर्त द्रव्य रूप जगत को कैसे बना सकता है? यदि द्रव्य का पहले से अस्तित्व मान लेते हैं तो फिर क्यो न जगत को ही अनादि और अनुत्पन्न ही मान लें? यदि जगत को कर्ता ईश्वर का कर्ता कोई नही है तो जगत को स्वयम् उत्पन्न हुआ मानने मे ही क्या दोष है? वे और भी कहते हैं कि" क्या ईश्वर स्वयम् पूर्ण है? यदि ऐसा है तो उसको जगत उत्पन्न करने का कोई भी कारण नही है। यदि वह स्वयम् सम्पूर्ण नहीं है तो साधारण कुम्हार की भांति वह यह कार्य करने के लिए अशक्त माना जाना चाहिए क्योकि पूर्व सिद्धान्त से तो सम्पूर्ण जगत ही वह बना सकता है। यदि ईश्वर ने अपनी इच्छा से ही जगत को लिलौने के रूप मे बनाया है तो वह ईश्वर बालक ही होना चाहिए। यदि ईश्वर दयालु है और उसने कृपा करके ही यह जगत बनाया है तो उसको सुख और दुःख दोनो ही नही बनाना चाहिए था।'[1] यदि हम यह कहे कि जो कुछ भी अस्तित्व मे है उसका कोई कर्ता होना ही चाहिए तो कर्ता का भी कोई कर्ता होना आवश्यक है। इस प्रकार हम एक वर्तुल मे पड जाएंगे और उसमे से बचने का मार्ग प्रत्येक वस्तु के कर्ता का स्वयम् अस्तित्व मानने मे ही रहेगा। यहां फिर यह प्रश्न उठता है कि यदि एक व्यक्ति के लिए स्वयम् अस्तित्व और शाश्वतता शक्य है तो वह अनेक वस्तुओं और व्यक्तियों के लिए संभव क्यों नहीं? ऐसी परिस्थिति मे जैन दृष्टि अनेक द्रव्यों की परिकल्पना करती है और सभी द्रव्यों की परिकल्पना करती है और सभी द्रव्यों को स्वयम् प्रकट होने के सिद्धान्त द्वारा इस विश्व की व्याख्या की जाती है।" जीव और अजीव मय यह विश्व अनादि से चला आ रहा है और उसमे किसी बाह्य दैवसत्ता के दखल बिना ही प्राकृतिक नियमानुसार असंख्य परिवर्तन होते ही रहते हैं। विश्व की विविधता का मूल पांच समवाय याने काल स्वभाव नियति, कर्म और पुरुषार्थ मे ही समाया हुआ है।'[2]

इतना सब होते हुए भी जैनो के इस विश्वास ने उन्हें अविकास प्राप्त जडवादी कि जिसे भौतिकवाद' कहा जाता है अथवा चार्वाक कि जिसका सिद्धान्त यावज्जीवेत सुखजीवेन है और जो भस्म हुआ शरीर फिर से जन्म नही लेता मानता है नही बनाया। श्री वारन ने अपनी जैनीज्म नामक पुस्तिका मे जैनदर्शन और अन्य दर्शनो के विचारभेद को सुन्दर रीति से नीचे लिखे शब्दों मे व्यक्त किया है। विश्व नियंता सर्वशक्तिमान ईश्वर के सिद्धांत का एक विकल्प वह विद्वान कहता है कि 'आत्महीन जडवादी नास्तिकवाद का सिद्धांत है जो प्रतिपादन करता है कि जीव और चेतन भौतिक अणुओं की गति और स्थय का परिणाम है जो कि मृत्यु समय मे विलीन हो जाते हैं। परन्तु जिन्हें इस प्रकार के किसी भी सिद्धांत से सन्तोष नही होता है उनके लिए पुस्तक मे एक सिद्धांत की स्थूल रूपरेखा दी गई है कि जो न तो आत्मा के अस्तित्व का ही निषेध करता है और न सृष्टिकर्ता की मान्यता को मान कर ही चलता है। परन्तु वह प्रत्येक व्यक्ति को अपने भाग्य का आप विधाता बनाता है प्रत्येक चेतन आत्मा के लिए मोक्ष का ध्येय बनाता है और उस शाश्वत सुख के आवश्यक साधन रूप आत्मविकास की सर्वोत्कृष्ट भूमिका मे पहुंचने तक के समय के लिए सर्वोच्च त्याग आवश्यक कहता है।[3]

---

1 लाट इन्ट्रोडक्शनटू जैनिज्म पृ 85 87 जिनसेन आदिपुराण अध्या 3। देखो भण्डारकर रिपोर्ट आफ संस्कृत मैन्यूस्क्रिप्ट 1883-1884 पृ 118।

2 राधाकृष्णन वही, पृ 330। 3 वारन जैनीज्म पृ 2। हे मानव! तू ही अपना मित्र है फिर क्यो अपनेसे बाहर किसी मित्र की तू खोज करता है। याकोबी सबुई, पुस्त 22 पृ 33।

यहा यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि ईश्वर जैसी कोई वस्तु अथवा व्यक्ति जैनी स्वीकार नही करते है तो वे किस सत्ता को मानते है और उस सत्ता के लक्षण क्या है। लक्षणो द्वारा पहचाने बिना किसी भी व्यक्ति के आदेश स्वीकार करने मे अनुत्तरदायी और आततायी सत्ताधीश की आज्ञा स्वीकार करने का आरोप आता है। सत्ताधीश चाहे जैसा सच्चा हो फिर भी उसके उपदेश की पहली भूमिका सत्यज्ञान है। धर्म के मूल तत्व या जड़का विचार करने पर हम देखते है कि मनुष्य और ईश्वरी सत्ता का पारस्परिक सम्बन्ध ही धर्म की तात्विक व्याख्या नही है और यह व्याख्या जैनधर्म के अनुकूल नही है। ऐसी व्याख्या धर्म के गूढ रहस्य का आकलन करती ही नही है। 'दुख के अस्तित्व के कारण जानने की, उनको निर्मूल करने की, फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले शाश्वत सुख के लिए मनुष्य की स्वाभाविक आकाक्षा ही धर्म का लक्षण है।'[1] उपर्युक्त शक्तियो को इच्छापूर्वक ही इन्द्रियातीत नही कहा गया है, ताकि दृश्य देवी-शक्ति इस प्रकार अस्वीकार हो जाए और फिर ये शक्तिया वास्तविक रूप मे नही अपितु पूजको की दृष्टि मे अलौकिक है।[2] तथ्य जो भी हो, यह ऐसी निर्बलता है कि जो किसी न किसी रूप मे सार्वभौमिक है, और इस दृष्टि से, प्रकृतया जैन भी इससे विमुक्त नहीं रह पाए है। इस विचारसरणी को यही छोड दे तो जैसा कि हम पहले ही देख आए है जैनधर्म, यह कहा जा सकता है कि, एक ऐसा स्वच्छ और परिपूर्ण प्रकाश है जिसे उन महान् आत्माओ ने कि जिनने अपने सब विकारो और इन्द्रियो पर विजय प्राप्त कर ली थी और जो सब प्रकार के कर्मो से इसलिए विमुक्त हो गए थे, इस ससार को दिया था।[3]

जिन-जैनधर्म के आध्यात्मिक नेता:—

जैनधर्म के मौलिक सिद्धातो को प्रस्तुत करनेवाले सब शास्त्र पृथ्वी पर मनुष्य रूप मे विचरते पार्श्वनाथ और महावीर जैसे महान् आध्यात्मिक गुरुओ के उपदेशामृत है। ये उपदेश सर्वज्ञ, सर्वदृष्टा जिन भगवान् के शिष्य गणधरो[4] को सर्व प्रथम उनके द्वारा दिए गए थे और उन गणधरो ने आज तक चली आती गुरु परम्परा को वारसे मे वे दिए।[5] इस प्रकार हम जो कुछ भी जैनधर्म के विषय मे अब कहेगे उस सब का मूल ये जिन भगवत ही है।

इसमे जरा भी सदेह नही है कि मूल सिद्धात की दृष्टि से उनके आधार सब अपेक्षाकृत परवर्ती कालीन है। परन्तु मूल और रूपान्तर को पृथक करना जरा भी कठिन नही है क्योकि डा शार्पेंटियर ठीक ही कहता है कि 'मूल सिद्धातो को दृढता से चिपके रहने मे छोटी सी जैन जाति की अनमनशील अनुदारता' ही उसका सुदृढ रक्षक रही है।[6] इसी अनुदारता के कारण अनेक भयकर विपत्तियो के आने पर भी जैनी लोग अपने शास्त्रो को लगभग अबाधित रूप मे सुरक्षित रख पाए है। ईसवी पहली और दूसरी सदी के उद्भिदो (बास-रिलीफ) मे उनकी

---

1 वारेन, वही, पृ 1। 2 टीले, वही, पृ 2।

3 जिनेन्द्रो.. रागद्वेषविवर्जित ...कृत्स्नकर्मक्षय कृत्वा सप्राप्त परमपदम्। हरिभद्र, षड्दर्शनसमुच्चय श्लो 45, 46। 'जैनधर्म का यह खयाल है कि वही ज्ञान यथार्थ है जो क्रोध, मान, घृणा आदि विकारो से रहित है। वही जो सर्वज्ञ है वही आर्जव के मार्ग का उपदेश कर सकता है कि जिससे जीवन का अनत सुख प्राप्त हो सकता है और वह सर्वज्ञता उसमे असम्भव है जिसमे प्रमादी तत्व पाए जाते है।' वारेन वही, पृ 3।

4 इन्द्रभूति से प्रारम्भ कर प्रभवस्वामी मे समाप्त होने वाले महावीर के ग्यारह गणधर थे।

5 प्रक्रान्तशास्त्रस्य वीर जिनवरेन्द्रापेक्षया र्थत आत्मागमत्व तच्छिष्य तु पचमगणधर सुधर्म ..तच्छिष्य च जबू ...परम्परागमता प्रतिपिपादयिषु सूत्रकार ...आह.. । ज्ञाता, टीका, पृ 1।

6. शार्पेंटियर, कैं हि इ., भाग 1, पृ 169।

सत्यता के एसे प्रमाण मिलते हैं कि जो बहुत ही पहले के समय के हैं और उनमें कुछ तो 'महावीर के प्रथम शिष्यों के काल तक के भी हो सकते हैं अथवा मौर्य राजा चन्द्रगुप्त के समय मे एकत्रित पाटलीपुत्र की वाचना यानि कम से कम ई पूव चौथी सदी के अन्त तक तो पहुच ही जाते है।[1] यदि कुछ भी रूपान्तर हुआ है तो वह ब्यौरे की बातो मे ही न कि मूलभूत सिद्धात की बातो म जैसा कि सब धर्मों और संस्थाओ के आचार व्यवहार की बातो म हुआ है।

धर्म की परिभाषा का विचार करने पर हम देखते है कि धर्म का प्रमुख कार्य है जीवन के दुःख दर्द कम करना उसके अस्तित्व का कारण समझना और उसका सच्चा सुख बढाना। इस सम्बन्ध मे जैनधर्म की विचार सरणी क्या है और मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन की ऐसी कठिनाइयो और आवश्यकताओ पर विचार करने में वह कितना सफल हुआ है, अब यह हम संक्षेप मे विचार करें। जैनधर्मानुसार प्रत्येक वस्तु जो थी है और कभी होगी जीव और अजीव इस प्रकार के दो विभागो म विभाजित की जा सकती है। पदार्थ या वस्तु वह है जिसम उत्पत्ति नाश और ध्रुवत्व नामक तीन गुण हो। ब्राह्मणधर्म म से आनेवाले विद्वानो एवम् अपने गणधरो का जैनधर्म स्वीकार करते समय महावीर ने इसी त्रीपदी से सत्कार किया था और इसी को हृदय म धारण कर इन गणधरो ने जैन द्वादशाग की रचना की थी।[2]

जीव अजीव पुण्य, पाप आश्रव संवर, बंध निर्जरा और मोक्ष —

जैनतत्वज्ञानानुसार विश्व को ऐसे दो नित्य अनुत्पन्न, सहवर्ती परन्तु स्वतन्त्र पदार्थों में विभाजन याने एक जीव कि जो आत्मा, चेतना प्राणशक्ति या जीवदशा बताता है[3] और दूसरा अजीव म जैन दृष्टि से सत्य विभाजन है और इसलिए वह अकाट्य है। अजीव के धर्म अधर्म आकाश और पुद्गल ऐसे चार भेद किए हैं[4] और इन चार म काल[5] को जोड कर कितने ही आचार्य अजीव के पाँच भेद भी करते हैं। जीव अथवा आत्मा निर्वाण की अंतिम दशा को छोडकर सदा सर्वदा अजीव के साथ संलग्न है। इसी के फल स्वरूप एसी सत्ता उसके उदय म आती है जिसे कर्म कहा जाता है और जो मुक्ति पूर्णता अथवा शांति की प्राप्ति म सहायक नही हो सकता है। ये कर्म अथवा आत्मा के द्रव्य पुद्गल के सम्बन्ध से या तो अच्छे होते हैं या बुरे और उन्ही के कारण

---

1 मक्डोनल इण्डियाज पास्ट पृ 71 याकोबी वही प्रस्ता प 40–42 घोषाल द्रव्यसग्रह सेक्रेड बुक्स 1 पृ 3–4।

2 एकादशानां त्रिपदीग्रहणपूर्वक एकादशाग आदि। कल्पसूत्र बोधिका टीका, प 112–118। इन्द्रभूति त्रिपदी प्राप्यद्वादशागी उचितवान् आदि। वही प 115 आते सपे चतुर्थेव इन्द्रभूतिप्रभृतीनां त्रिपदी व्याहरत् प्रभु। हेमचन्द्र, त्रिषष्ठि-शलाका पर्व 10 श्लो 165 प 70।

3 स्टीवन्सन (श्रीमती) वही प 94। 4 इन्द्रियो के भोग्य पदार्थ पांचो इन्द्रियां स्वयम् मन कर्म और अन्य सभी भौतिक पदार्थ पुद्गल कहे जाते हैं। सब भौतिक पदार्थ अणुओ के संयोजन से ही बनते हैं। सूक्ष्म से सूक्ष्म पुद्गलाश को अणु कहा जाता है। अणु-सिद्धान्त की दृष्टि से हम जैनो को सर्व प्रथम स्थान देगे क्योंकि उनने अपना यह सिद्धान्त पुद्गलो की प्राथमिकतम कल्पनाओ म निर्माण किया है। —याकोबी, एन्सा रि ए भाग 2 पृ 199।

5 सद्द्रव्य धर्माधर्माकाशपुद्गला । हरिभद्र षड्दर्शनसमुच्चय पृ 50। योगीन्द्राचार्य ने अपने परमात्म प्रकाश ग्रन्थ म काल को भी इसम शामिल कर लिया है। गाथा 142।

आत्मा को जन्म और पुनर्जन्म[1] सहित इस ससार चक्र के सब अनुभव करने पड़ते हैं बस इसी मे हमारे सब दु खो का मूल है और इसलिए जीव और अजीव दोनो तत्वो और उनके पारस्परिक सम्बन्ध को स्थूल रूप मे समझाने के लिए जैनशास्त्रकारो ने नव तत्व का विधान प्रस्तुत किया है और ये नौ तत्व इस प्रकार हैं:—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, सवर, बध, निर्जरा और मोक्ष ।[2] इन सब तत्वो का जैन अध्यात्मशास्त्र मे बड़ी सूक्ष्मता से विचार किया गया हे, परन्तु हमे यहा इन सबका इतनी सूक्ष्मता से विचार करने की आवश्यता नही है ।[3]

इन तत्वो मे जिसमे चेतन हो वह जीव और जो चेतनरहित हो वह अजीव है ।[4] जैसा कि पहले ही कह आए है, इस सासारिक अस्तित्व मे जीव याने आत्मा और अजीव दोनो साथ साथ रहते हैं । इसलिए इस शरीर से सम्बद्ध आत्मा अच्छे और बुरे सब कर्मो का कर्ता बनती है । अपने शुद्ध स्वरूप मे आत्मा अनतदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य की स्वामिनी है । वह सम्पूर्ण है ।[5] आत्मा जब अपने सत्य, शाश्वत स्वरूप मे होती है तब इन चार अनन्त सिद्धियो का वह अनुभव करती है ।[6]

सामान्य दृष्टि से केवल मुक्तजीवो को छोड कर सब ससारी जीवो की शक्ति और स्वच्छता अनन्त समय मे चले आते कर्मों के पुद्गलो रूपी सूक्ष्म आवरणो से ढकी होती है । आत्मा के स्वाभाविक गुण कमोवेश प्रमाण मे इस प्रकार आच्छादित रहते है और इसलिए पुण्य और पाप की विविध परिस्थितिया अनुभव की जाती हैं । जीव और अजीव के बाद के दो विभाग पुण्य और पाप के विचार की ओर हम इस प्रकार पहुच जाते हैं ।

आत्मा को जो पुद्गल अच्छे और परोपकारी कार्यो के परिणाम स्वरूप चिपटते है, उनका समावेश पुण्य मे होता है । इससे विपरीत स्थिति मे जो चिपटते है वही पाप है ।[7] पुण्यशील कर्म पुण्य और पापमय कर्म पाप है । जब आत्मा शुभाशुभ कर्म की सत्ता के अधीन इस प्रकार प्रयत्नशील होती है तो मन, वचन और काया की प्रवृत्तिया उसके इन प्रयत्नो मे सहायक होती है । इससे धार्मिक पुद्गलो के आगमन को अवसर मिलता है और आत्मा उन पुद्गलो के साथ बध जाती है अथवा उनके चिपटने मे वह रुकावट डालती है । इस प्रकार आश्रव, सवर और बध अस्तित्व मे आते है ।

---

1 "पुद्गल चेतनाहीन है, आत्म चेतन है । पुद्गल मे इच्छा नही है परन्तु आत्मा द्वारा उसका ढाचा बनता है । आत्मा और पुद्गल का सबध भौतिक है, और वह आत्मा की प्रवृत्तियो से प्रभावित होता है । बधन को कर्म कहते है क्योकि वह आत्मा का कार्य याने कर्म है । यह पौद्गालिक है और अति सूक्ष्म कार्मिक पुद्गलो का यह ऐसा सूक्ष्म वन्धन है कि वहआत्मा को ऊर्ध्वगमन कर अनतज्ञान, अनतसुख और अव्यावाध शाति के स्थान मोक्ष मे नही जाने देता है । "जैनी, वही, पृ 26; कर्ता शुभाशुभ कर्ममोक्ता कर्मफलस्य च...हरिभद्र, वही, श्लो 48 ।

2 जीवा-जीवो तथा पुण्य पापमाश्रवसवरौ । बन्धश्च निर्जरामोक्षौ नव तत्वानि तन्मते ।। हरिभद्र, वही, श्लो 47 । देखो कुन्दकुन्दाचार्य, पचास्तिकायसार, गाथा 108 भी ।

3 देखो स्टीवेन्सन (श्रीमती), वही, पृ. 299–311 ।

4 चैतन्य लक्षणो जीवे, यश्चैतद्व परीत्यवान् । अजीव स...। हरिभद्र, वही, पृ 49 ।

5 दर्शन और ज्ञान मे जैन विभेद करते हैं । पदार्थों के सामान्य ज्ञान को वेद दर्शन कहते है जैसे मे पट देखता हू । पदार्थ कि विशिष्टता का जानना ज्ञान है जैसे मैं न केवल पट ही देखता हू अपितु यह भी जानता हू कि वह किसका है, किस जाति का है, कहा का बना है आदि आदि । परिचय करते सबसे पहले दर्शन होता है जिसके पश्चात् ज्ञान । शुद्ध आत्मा अनतदर्शन और अनतज्ञान पूर्ण विशिष्टता सहित होता है—दासगुप्ता, वही भाग 1, पृ 129 । 6 जैनी, वही पृ 1 ।

7 पुण्य सत्कर्म पुद्गला । हरिभद्र, वही, श्लो. 49 । पाप तद्विपरीत तु...वही श्लो 50 ।

अधिक स्पष्टता न रहे तो मन वचन और काया के व्यापार जो आत्मा का कर्म पुद्गलों के साथ सम्बन्ध कराते हैं वह आस्रव है और जिन व्यापारों से कर्म पुद्गलों का आगमन रुक जाता है वह संवर है। कर्म पुद्गलों का आत्मा के साथ तन्मय सम्बन्ध हो जाना ही बंध है।[1] इस प्रकार जैनमतानुसार हम स्वयम् अपनी स्थिति के लिए सर्वथा उत्तरदायी हैं। अज्ञानी रोगी दुःखी दयाहीन, घातकी अथवा निबल चाहे जैसा भी कोई क्यों न हो उसका कारण इस जन्म से ही नहीं अपितु अनंत काल (भूतकाल) के जन्मों से हम जो अदृश्य सूक्ष्म परन्तु सत्य पुद्गलों को ग्रहण करते आ रहे हैं, और यही आत्मा के स्वाभाविक ज्ञान आनन्द प्रेम दया और शक्ति आदि का अवरोध करते हैं और हम अपकृत्य करने की प्रेरणा देते हैं।'[2]

कर्म रूपी इन सब बन्धनों से हमारी आध्यात्मिक उन्नति रुक जाएगी ऐसा विचार कर निराश होने का कोई भी कारण नहीं है। यद्यपि मनुष्य के कर्म बहुत कुछ उसको बनाते हैं फिर भी सत्कार्य के लिए उसमें अनंतशक्ति और अनंतवीर्य है जिससे समय समय पर कर्म के प्रभाव का दबाव हटाते हुए भी ये शक्तियां कर्म द्वारा किसी भी समय निःसत्व नहीं की जा सकती हैं। जैनशास्त्र कहता है कि पूर्ण धार्मिक जीवन और तप से इन सब कर्मों का नाश किया जा सकता है और आत्मा अपनी स्वाभाविक उच्च दशा को जो कि मानी है प्राप्त कर सकता है। डा॰ कूमर कहता है कि नातपुत्त प्रारब्धवादी थे यह दोष प्रतिपक्षी के प्रति घृणा और उसकी अपकीर्ति करने की दृष्टि से उत्पन्न की हुई कल्पना और परिणाम मात्र ही समझना चाहिए।'[3]

कर्म को झाड़ कर फेंक देने अथवा उसे क्षय कर देने को निर्जरा कहते हैं और सब कर्म का सर्वथा नाश यानि धार्मिक पुद्गलों के आत्मा की सम्पूर्ण मुक्ति ही मोक्ष है।[4] आत्मा के परिणामों में फेरफार होने से, उस पर चिपके हुए कर्म भोग लेने से अथवा परिपाक पूर्व ही तपस्या से उनकी निर्जरा की जा सकती है। जब सब कर्मों का क्षय हो जाता है तभी मोक्ष या मुक्ति मिलती है।[5]

इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ के लक्षणों से यह बात स्पष्ट है कि जब तक जीव अच्छे या बुरे कर्मों से सम्पूर्ण आत्मशुद्धि द्वारा अंतिम छुटकारा प्राप्त नहीं कर लेता है तब तक एक या दूसरी रीति से ये कर्म आत्मा से चिपके

---

1 मिथ्यात्वाद्यास्तु हेतवः। यस्तेबन्ध स विज्ञेय आश्रवो जिनशासने। संवरस्तन्निरोधस्तु बन्धोजीवस्य कर्मणः। अन्योन्यानुगमात्मकसम्बन्धो यो द्वयोरपि॥ हरिभद्र वही श्लोक 50 51।

2 वारेन, वही पृ 5। शुद्ध आत्मा की स्वाभाविक पूर्णता भिन्न भिन्न प्रकार के कर्म पुद्गलों से आच्छादित रहती है। जो उसके सम्यग्ज्ञान को आच्छादित करते हैं उन्हें ज्ञानावरणीय जो उसके सम्यग्दर्शन को आच्छादित करते हैं जैसे कि निद्रा में बाधक आदि उन्हें दर्शनावरणीय जो आत्मा का अनंतसुख प्रकृति को ढंक रख कर उसे सुख दुःख का अनुभव कराते हैं वे वेदनीय, और जो सम्यक्चारित्र के प्रति आत्मा की सम्यक्श्रद्धा को रोकते हैं वे मोहनीय कर्म हैं। दासगुप्ता वही भाग 1, पृ 190–191। इन चार कर्मों के अतिरिक्त भी चार प्रकार के कर्म और हैं जिन्हें आयु कर्म नाम कर्म, गोत्र कर्म और अंतराय कर्म कहते हैं। इनसे क्रमशः आयु की स्थिति वैयक्तिक स्वभाव कुल अथवा जाति और आत्मा की सफलता या उन्नति की अवरोधक निसर्गज शक्ति का निर्णय होता है।

3 कूमर, वही पृ 32। देखो याकोबी इण्डि एण्टी पुस्त 9 पृ 159–160।

4 यदस्य कर्मणः शातयस्तु सा निर्जरा मता। आत्यन्तिको वियोगस्तु देहादेर्मोक्ष उच्यते॥ हरिभद्र वही श्लोक 52। 5 विपाकात्तपसा वा कर्मपरीशाटो कर्मात्मसंयोगत्वेन निर्जरा कृत्स्नकर्म क्षयलक्षणो मोक्षः उमास्वातिवाचक तत्त्वार्थाधिगम सूत्र (मोतीलाल लधाजी संपादित) पृ 7 टिप्पण।

हुए ही रहते है और इसलिए इस जगत मे कार्मिक वर्गणायुक्त जीव अज्ञान, दु.ख, दरिद्रता, वैभव आदि द्वारा बाह्य सुखदुःख अनुभव करता है। जीव के ऐसे विलक्षण परिभ्रमण को ही ससार कहा जाता है उसमे मुक्ति प्राप्त करना ही मोक्ष या अन्तिम छुटकारा है। इसमे जीव को बाहर से कुछ भी नही प्राप्त करना है परन्तु कार्मिक बन्धनो के पाश मे से छूट कर अपनी स्वाभाविक स्थिति मात्र ही पाना है।[1]

सक्षेप मे सब कर्म बन्धनो से आत्मा की मुक्ति ही मोक्ष दशा है। शुभ या अशुभ दोनो ही प्रकार के कर्म आत्मा को बादलो की भाति आवरणरूप है। जब बादल हट जाते है तो जैसे झल-झलाट चमकता हुआ सूर्य प्रकाशमान हो जाता है, वैसे ही कर्मरूपी आवरण के दूर हो जाने पर आत्मा के सकल गुण प्रकट हो जाते हैं। इसमे एक वस्तु दूसरे का स्थान ले लेती हो वैसी कोई भी बात नही है। सिर्फ विघ्नकर्ता वस्तु का ही नाश इसमे होता है। जब कोई पक्षी पिंजरे मे से मुक्त होता है तो इसका यह अर्थ नही है कि पक्षी पिंजरे को छोड कर दूसरी वस्तु ग्रहण कर रहा है। परन्तु यही अर्थ है कि परतत्रता रूप पिंजरे को ही वह त्याग कर रहा है। इसी प्रकार आत्मा जब मोक्ष प्राप्त करता है तब सब पुण्य एव पाप कर्मों का सर्वथा नाश कर वह कोई नई वस्तु ग्रहण नही करता है अपितु वह शुद्ध आत्मस्वरूप का तब अनुभव करता है। इस प्रकार जब आत्मा को मोक्ष मिल जाता है तब वह पवित्र और मुक्त आत्मा भौतिक शरीर और उसके अतराय से मुक्त होकर अपनी स्वाभाविक दशा को प्राप्त कर लेता है। तात्पर्य इतना ही है कि मुक्त आत्मा अपनी उज्जवलता, आनद, ज्ञान और शक्ति सहित पूर्ण रूप मे प्रकट हो जाता है।

तीन रत्नो द्वारा मोक्ष:—

सुख दु ख की सब परिस्थितियो के मूल को इस प्रकार समझने पर ही मोक्ष प्राप्त कैसे किया जाए यह प्रश्न उपस्थिति होता है। औत्तर-बाह्य तपश्चर्या से जीवन के दुखो मे से बाहर निकलने का मार्ग जैनधर्म बताता है। जिन भगवान ने बताया है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चरित्र इन तीन रत्नो द्वारा मोक्ष मिल सकता है।[2] प्रथम दृष्टि मे पृथक-पृथक दिखते हुए भी ये तीनो बौद्धधर्म के त्रिरत्न-बुद्ध, नियम और सघ से मिलते हुए ही हैं।[3]

यह "रत्नत्रय" जिसका परिणाम, जैनो के अनुसार, आत्मा की मुक्ति है, उस जैन योग का मूल आधार है जिसे हेमचन्द्र मोक्ष का कारण कहते है।[4] इनमे से पहला रत्न कहता है कि जिन-प्ररूपित तत्वो मे श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है।[5] इसका अस्वीकार एक प्रकार का सशयवाद है कि जो सब प्रकार के गभीर विचार मे रुकावट करता है। इस सम्यग्दर्शन का एक मात्र लक्ष्य यह है कि "शुष्क न्याय और कुतर्क वितण्डा मे नष्ट होने अथवा

---

1 ...आत्मन स्वभावसभवस्थानम् वही...स्वभावजं सोख्यम् हेमचन्द्र, योगशास्त्र, प्रकाश 11, श्लोक 61, पृ 1 हस्तप्रति, भण्डारकर प्रा म पुस्तकालय सूची 1886–1892 स 1315।

2 सम्यग् दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग.। उमास्वातिवाचक, वही, अध्या 1, सूत्र 1। देखो हरिभद्र, वही, श्लो. 53। 3 वार्थ, वही, पृ 147। "बुद्ध, नियम और सघ, इन बौद्ध त्रिरत्नो से जैन इन त्रिरत्नो की तुलना करना अवश्य ही मनोरजक है। मुसलमानी त्रिपुटी, खेर मेर और बदगी, और पारसी त्रिवर्ग याने पवित्र मन, पवित्र वाचा और पवित्र वर्तन भी तुलनीय है।" स्टीवन्सन (श्रीमती), वही, पृ. 247।

4 चतुर्वर्गे अग्रणीर्मोक्षो योगस्तस्य च कारणम् ।। ज्ञानश्रद्धानचारित्ररूप रत्नत्रय च म —हेमचन्द्र, वही, प्रकाश 1, श्लो 15, पृ 1। 5 तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ।। —उमास्वातिवाचक, वही, अध्या 1, सूत्र 2। यहा जिन तत्वो का निर्देश किया गया है वे उपर्युक्त नव-तत्व ही हैं। हरिभद्र, वही, पृ 53।

सशयवाद के सार से साई ज्ञान के स्थान म इसकी ज्ञान के शुभ रूप म वद्धि हो और यह चरित्र के सवमगलमय फल म फलित हो ।"[1] इस प्रकार इन त्रिरत्नो म अन्यतम महत्व का रत्न तो सम्यग्दशन ही है क्योकि सशयवाद की घातक प्रवचना और जटिल व्यग्रता से हमारी रक्षा यही करता है। पक्षान्तर म सम्यग्ज्ञान हम उन सब बातो की सूक्ष्म परीक्षा करने की योग्यता देता है कि जो हमारे मानस पर श्रद्धा द्वारा अंकित होती हैं। सक्षेप म सम्यग्ज्ञान हमें उपयुक्त तत्वो की यथाथ और स्पष्ट अभिव्यक्ति कराता है। वस्तुत सम्यग्ज्ञान जिनों द्वारा प्ररूपित जनधम और उसके सिद्धान्तों का ज्ञान ही है ।[2] सक्षेप म श्रद्धायुक्त ज्ञान ही हम अन्तिम ध्येयरूप सम्यक्चारित्र की ओर ले जाता है।

सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दशन दोनो ही यदि सम्यक्चारित्र रहित हो तो व्यथ हैं। जिन द्वारा प्ररूपित मय नियमो के पालन मे ही सम्यक्चारित्र का समावेश होता है और उसी के द्वारा मोक्ष प्राप्त हो सकता है। हमारा अंतिम ध्येय मोक्ष ही होने से स्वभावत सम्यक्चारित्र ऐसा होना चाहिए कि जो शरीर का महत्व घटाए और आत्मा को उन्नत करे। मन वचन और काया से पापरूप व्यापार का त्याग ही सक्षेप म कहें तो सम्यक्चारित्र है ।[3]

व्यवहारिक जीवन म चारित्र के दो भाग किए गए हैं—1 साधु-चारित्र अर्थात् साधु की चर्या और 2 गृहस्थ चरित्र अर्थात् गृहस्थी की चर्या। परन्तु यहा इनके विवरण मे जाना आवश्यक नही है। इतना ही कह देना यहा पर्याप्त होगा कि गृहस्थ चरित्र की अपेक्षा साधु चरित्र के नियम स्वाभाविकत ही कड़े होते हैं क्योंकि कठिनतम होते हुए भी निर्वाण का निकटतम माग यही है। गृहस्थ जीवन का ध्येय भी निर्वाण प्राप्ति ही है परन्तु यह माग लम्बा और धीरा है।

जनधम स्वीकार करने के पूव वह प्रत्येक मनुष्य से नियम (व्रत) दृढ-इच्छा शक्ति और शुद्ध चारित्र की अपेक्षा रखता है। अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचय और अपरिग्रह[4] के पाच महाव्रतो से प्रारम्भ कर मन वचन और काया का सयम पोषण करते हुए मनुष्य आध्यात्मिक जीवन की पराकाष्ठा को पहुच जाता है कि जहा जीवन मरण की आकाक्षा नहीं है और अन्त म अनशनव्रती या अनाहारी रह कर मृत्यु का स्वागत किया जाता है ।[5]

जैन आचारशास्त्र इतना सूक्ष्म और विचारपूवक रचा हुआ है कि यह स्वयम अभ्यास रूप है ।[6] हमारा जीवन

---

1 वही यही पृ 34। 2 तत्वाना । अवबोधस्तमत्राहु सम्यग्ज्ञान ।। —हमच यही, प्रकाश 1 श्लो 16 पृ 1। जैन पाच प्रकार के ज्ञान मानते हैं और बहुत ही सूक्ष्मता से सवज्ञता तक पहुचाने वाले ज्ञान को इन पाचो श्रेणियो का विवेचन करते हैं वे पाच ज्ञान हैं —मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान मन पर्यायज्ञान और केवलज्ञान। इनको अंग्रेजी म क्रमश कहा जा सकता है —सेंस नालेज (Sense Knowledge) टेस्टिमनी (Testimony) नालेज आफ दी रिमोट (Knowledge of the remote) थाटरीडिंग (Thought reading) और ओम्नीसाएन्स (Omniscience)।

3 सर्वसावद्ययोगानां त्यागश्चारित्रमुच्यते। —वही प्रकाश 1, श्लो 18 पृ 2।

4 अहिंसासूनृतास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा । विमुक्तय ।। —हेमचन्द्र यही प्रकाश 1 श्लो 19 पृ 2।

5 मरणपास पडिमणा। —उत्तराध्ययनसूत्र अध्या 30 गाथा 9।

6 'जनदशन का मुख्य लक्षण यही नहीं है कि इसने हिन्दुधम के अनमान दार्शनिक सिद्धान्तों के साथ नतिक शिक्षा भी जोड़ दी है अपितु लक्षण यह भी है कि इसने मानवी प्रकृति का अद्भुत ज्ञान भी अपनी नीति म प्रदर्शित किया है।' —स्टिवन्सन (श्रीमती) वही पृ 123।

और मोक्ष के जैन दृष्टि कोण का जो अब तक विचार किया है उसका उपसहार कर जैनधर्म की अन्य प्रमुखता का विचार करेंगे। आचार्य कु दकु द के शब्दो मे इस प्रकार सवरण करेंगे —

"आत्मा ही अपने कर्म का-कर्ता और भोक्ता है वह अज्ञानरूप पडल से अध बना हुआ ससार मे परिभ्रमण कर कर रहा है। यह ससार श्रद्धालु के लिए मर्यादित और अश्रद्धालु के लिए अमर्यादित है।"

"यह अज्ञान का पडदा समझ और इच्छाशक्ति को घेरे हुए है। इसको जडमूल से चीर कर, रत्नत्रय से सुसज्जित हो, जिस निर्भय-यात्री ने परिस्थिति द्वारा उत्पन्न सुख दु ख को जीत लिया है और आत्मज्ञान के आदर्श मे से प्रकाश प्राप्त करते हुए विकट मार्ग मे जो चल रहा है वही पूर्णता के देवी मन्दिर मे पहुचता है।"[1]

इस प्रकार क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चार कषायो से घिरा हुआ और अच्छे बुरे कर्मो के कारण अपनी स्वाभाविक स्थिति से बलात्कार दूर हुआ आत्मा जब इन सब विघातक और वाह्य आवरणो को दूर फेक देता है तभी वह ईश्वर या परमात्मा के सब गुणो को धारण कर लेता है ऐसा कहा जाता है।[2] कर्म रहित होने के पश्चात् सर्वज्ञ बना हुआ यह आत्मा प्रशात अविकारी और शाश्वत सुख प्राप्त करता है।[3] सच तो यह है कि ऐसा आत्मा ही जैनधर्म मे ईश्वर का आदर्श प्रस्तुत करता है और[4] एक समय सर्वोत्तम पद पर पहुच कर फिर उसका वहा से पतन सभव ही नही है। श्री उमास्वातिवाचक कहते है कि—

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्त प्रादुर्भवति नाङ्कुर ।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः ।।

अर्थात् भूमि मे के बीज जल जाने पर फिर से अ कुरित नही होते उसी प्रकार कर्म रूप बीज जल जाने पर उनमे से ससार रूप अ कुर नही फुट सकते है।[5]

इस प्रकार 'ईश्वर शब्द से यद्यपि किसी व्यक्ति विशेष का निर्देश नही है तो भी सर्व मान्य गुण जब मनुष्य मे पूर्ण विकसित हो जाते है तब वह ईश्वरत्व प्राप्त कर लेता है। ईश्वर मनुष्य की आत्मा मे छुपी शक्तियो का सर्वोत्तम, महान् और सम्पूर्ण प्रकाश या विकास मात्र है।'[6]

तीर्थ कर और केवली —

यहा इतनी सूचना कर देना अप्रासगिक नही होगा कि ऐसी सर्वज्ञ आत्माओ मे बुद्धि ही नाम कर्म[7] के

---

1 कुन्दकुन्दाचार्य, पचास्तिकायसार, सेबुजे, पुस्त 3, पृ 75-76।

2 "सक्षेप मे शृष्टिकर्तृव्य सिद्धान्त के मानने वाले ईश्वर को एक मानव ही बना देते है और उसे आवश्यकता और अपूर्णता की सतह तक नीचा खीच लाते है। पक्षान्तर मे जैनधर्म मनुष्य को ईश्वरत्व मे ऊचा उठाता है और उसे दृढ श्रद्धा, सम्यक्चारित्र और सम्यग्ज्ञान और निष्कलक जीवन द्वारा यथा सभव ईश्वरत्व के निकटतम पहुचने की पूरी-पूरी प्रेरणा देता है।" —जैनी वही, पृ 6।

3 कुन्दकुन्दाचार्य वही, गाथा 151 (जैनी, वही, पृ 77 अगरेजी अनुवाद)।

4 कर्मक्षयस्स करणेन भवतीश्वरो न पुर्नानित्यमुक्त कश्चिदेक सनातन ईश्वर । विजयधर्मसूरि, वही, पृ 150।

5 उमास्वातिवाचक, वही, अध्या 10, सूत्र 8, पृ 201। अकर्मकीमत परमात्मा न पुन कर्मवानहीन भवितुम् मुक्ति प्राप्य न पुनरोधो वतार .. —विजयधर्मसूरि, वही और वही स्थान।

6 राधाकृष्णन, वही, भाग 1, पृ 331।

4 जैसे गोत्र नामकर्म महावीर के क्षत्रियाणी के गर्भ मे च्यवन मे बाधक हुआ था वैसे ही यह नामकर्म है। तीर्थकरनामसंज्ञ न यस्य कर्मास्ति... —हेमचन्द्र, वही, प्रकाश 11, श्लो 48 पृ 30।

फलस्वरूप तीर्थंकर कहलाती हैं। तीर्थंकर का खास लक्षण है कि उन्हें किसी के उपदेश बिना ही आत्मा की स्वयं जागृति होती है और वे अपने उस शरीर से सत्यधर्म का उपदेश और प्रचार करते हैं। अन्य सर्वज्ञ आत्माएं सामान्य केवली कही जाती हैं।[1] तीर्थंकर अपनी अद्वितीय प्रभुता, अगम्य देवत्व और असाधारण एवम् आलौकिक सुन्दरता, शक्ति, प्रतिभा और प्रकाश से जगत पर चिर स्मरणीय छाप छोड़ जाते हैं।

तीर्थंकर कौन ?

तीर्थंकर जैनों का एक विशिष्ट पारिभाषिक शब्द है। इसका बहुधा साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका के चतुर्विध संघ का स्थापक अर्थ भी किया जाता है परन्तु यथार्थ अर्थ तो यही है कि इस विचित्र संसार रूप समुद्र में से पार उतारने के लिए और अध्यात्मिक सुख के शिखर पर पहुंचने के लिए आत्मिक प्रकाश चहुं ओर जो फैलाता है वही तीर्थंकर कहलाता है। क्योंकि उस प्रकाश द्वारा ही आत्मिक सुख की उच्चता को पहुंचा जा सकता है। ये तीर्थंकर धर्म को नव जीवन, नया प्रकाश और पुनर्जागृति देकर जगत का कल्याण करते हैं और सर्व पूर्व कालों से जगत को मार्ग दर्शाते हैं।[2] यह स्वाभाविक है कि आत्मा को चिपके हुए अच्छे-बुरे सभी कर्मों का सर्वथा नाश करने वाले ही उस उच्चतम दशा को प्राप्त कर सकते हैं और अपनी महान् विजय के चिह्न स्वरूप सभी तीर्थंकर जिन या विजयी कहे जाते हैं। आचार्य योगेन्द्र कहते हैं कि जिस आत्मा में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य है वही पूर्ण सन्त है और स्वयं प्रकाशी होने के कारण वह जिनदेव या आत्मविजयी कहा जाता है।[3] ये सब सर्वज्ञ जीवात्मा इस जगत पर की निश्चित आयु पूर्ण कर अन्तिम स्थान याने मोक्ष प्राप्त करते हैं।[4] इस प्रकार जैनों का यह निर्वाण या मोक्ष गुण और सम्बन्ध विहीन एवम् पुनर्जन्म से विमुक्त स्थिति है। बुद्ध द्वारा कल्पित मोक्ष की भांति यह शून्य में विलीन हो जाना नहीं है।[5] उसमें देह से छुटकारा है परन्तु आत्मा के अस्तित्व का नाश नहीं है। जैनों की दृष्टि में स्वत्व तो अनिष्ट है नहीं सिर्फ जीवन अनिष्ट है।[6] शरीर जब आत्मा से पृथक हो जाता है तो चेतन आत्मा जन्म मरण की परम्परा से मुक्त हो जाती है और इस प्रकार उसका निर्वाण आत्मा का नाश नहीं अपितु अनन्त आनन्द की स्थिति में प्रवेश मात्र है।[7] (मुक्त) आत्मा न तो लम्बा है और न ठिगना न श्याम है और न श्वेत न कटु है और न तिक्त वह अशरीरी पुनर्जन्मरहित पुद्गल के सम्बन्ध रहित स्त्री पुरुष-नपुंसक वेद रहित है। वह दृष्टा और ज्ञाता है परन्तु उसकी कोई उपमा नहीं है (जिसके द्वारा मुक्त आत्मा की प्रकृति समझी जा सके)। यह अरूपी सत्ता है वह शब्दातीत है इसलिए उसका कोई शब्द नहीं है।[7]

---

1 दगो जैनी, वही पृ 2। 2 जब नया तीर्थंकर धर्म प्रवर्तक होता है तो पूर्व तीर्थंकर के अनुयायी इस नए तीर्थंकर का अनुसरण करने लगते हैं जैसा कि पार्श्वनाथ के अनुयायी महावीर का अनुसरण करने लगे थे। स्टीवन्सन (श्रीमती) वही पृ 241। 3 दत्ता जैनी वही पृ 78।

4 कुछ विशदता के लिए हम यहां कह दें कि जैनों का दिगम्बर सम्प्रदाय बौद्धों से इस बात में सहमत है कि कोई भी स्त्री निर्वाण प्राप्ति की योग्यता नहीं रखती है। दिगम्बरों की मान्यतानुसार मोक्ष प्राप्ति के पूर्व स्त्री को पुरुष रूप में एक जन्म फिर से लेना आवश्यक होता है। परन्तु इतर में श्वेताम्बर मोक्ष का मार्ग स्त्री पुरुष सभी के लिए समान रूप से मुक्त मानते हैं। अन्ति स्त्रीनिर्वाण पुवत् श्री शाकटायनाचार्य ने अपना स्त्री मुक्ति केवलिभुक्तिप्रकरणयुगमम् में स्पष्ट कहा है। दगो जगाम भाग 2, प्रकरण 3-4 परिशिष्ट 2 क्रमांक 2।

5 बौद्धमार्ग निर्वाण शब्द का प्रयोग तृष्णा के विनाश में ही नहीं जिससे जैन भी सहमत होंगे अपितु आत्मा के विनाश के अर्थ में भी करते हैं परन्तु इसको जैन प्रखरता से अस्वीकार करते हैं। स्टीवन्सन (श्रीमती) वही, पृ 172। 6 वाय वही पृ 147 7 याकोबी सेक्रेड बुक्स 22 पृ 52।

अहिंसा का आदर्श.—

जैनधर्म के मुख्यताओ का विचार करने पर सबसे अधिक ध्यान आकर्षित करने वाली बात उसका अहिंसा का आदर्श है । आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि "जीव चेतन, अरूपी, उपयोग वाला, कर्म से जकडा हुआ, कर्म का कर्ता और भोक्ता, सूक्ष्म-स्थूल शरीर धारण करने वाला, और कर्म बन्धन से छूट कर लोक के अग्र भाग तक उर्ध्व गमन करने वाला है ।"[1] जैनो के अनुसार जीव शाश्वत है और कार्य-कारण के अवाधित नियमाधीन है । मनुष्य मे जीव होता है इतना ही नही, अपितु वनस्पति, पशु, पक्षी, जीव जन्तु, पृथ्वी, अग्नि, पानी, हवा आदि के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अदृश्य अणुओ मे भी जीव होता है । याकोवी कहता है कि "यह जडचेतनवाद सिद्धान्त जैनो की प्रमुख विशेषता है और "उनकी सम्पूर्ण दार्शनिक पद्धति और सदाचार संहिता मे वह ओतप्रोत है ।"[2] पाषाण वृक्ष और बहते झरणो आदि मे भूतास्तित्व की मान्यता से यह सिद्धान्त एक दम भिन्न है ।[3] इस भूततत्व को अपर रूप अमूल्य प्राणियो के नाश द्वारा रक्त बलि देकर सन्तुष्ट करना होता था । परन्तु जैनो की दृष्टि मे जीव मात्र, चाहे किसी भी रूप मे वह हो, पवित्र है और सब एक ही ध्येय के लिए उच्च दशा मे जाने वाले होते है इसलिए उन्हे किसी भी प्रकार के बल प्रयोग द्वारा दु खी प्राणविहीन नही किया जाना चाहिए । जैनधर्म मे प्रमुखतम प्रभुत्वशील लक्षण अर्थात् अहिंसा सिद्धान्त की सही युक्ति या मनस्तत्व की पृष्ठभूमि है ।[4]

अहिंसा की परिभाषा आचार्य हेमचन्द्र ने इस प्रकार की है —

न यत्प्रमादयोगेन जीवितव्यपरोपणम् ।
त्रसना स्थावराणा च तदहिंसाव्रतं मतम् ।।

"प्रमादवश पचेन्द्रिय, चतुरेंद्रिय, त्रेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और एकेन्द्रिय किसी भी जीव का हनन नहीं करने मे अहिंसाव्रत का पालन माना जाता है ।[5]

आचार्य श्री हेमचन्द्र इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए "योगशास्त्र" मे जो दृष्टात देते है वैसा अत्यन्त्र कही भी मिलना सम्भव नही है। वह दृष्टात इस प्रकार है । श्रेणिक राजा के काल मे अपनी क्रूरता के लिए प्रख्यात ऐसा कालसौरिक नाम का एक कसाई था । उसे सुलसा नाम का एक पुत्र था जो कि महावीर का पूर्ण भक्त था और इसलिए धर्म भावना से वह श्रेणिक राजा के पुत्र अभयकुमार का मित्र था । इस कसाई का मानस इतना क्रूर और क्षुद्र था कि उसे जैनो की अहिंसा के प्रतिकूल झुकाना एकदम ही असम्भव था । श्रेणिक महावीर का परम भक्त था । इसलिए वह इस वात से खूब दुःखी होता था और इस कसाई को उसने उच्च बुद्धि से प्रेरित हो कर इस प्रकार कहा ।.. ..

' ..सूना विमु च यत् ।
दास्ये हमर्थमर्थस्य लेमस्त्वमसि सैनिक ।।

---

1 कुन्दकुन्दाचार्य सेबुजै, पुस्त 3, पृ 27, देखो द्रव्यसग्रह, सेबुजै, पुस्त 1, पृ 6–7 ।

2. याकोवी, वही, प्रस्तावना पृ 33 ।

3. सर्वजीवतत्व की भावना कि प्राय सभी पदार्थो मे आत्मा है, सिद्ध करती है कि जैनधर्म महावीर और बुद्ध से भी पहले का है । इस विश्वास का उद्‌भव अति प्राचीन काल मे ही हो गया होगा जब कि धार्मिक विश्वासो का उच्चतम रूप सामान्य रूप से भारतीय मानस पर अधिकार नही जमा पाया होगा । देखो याकोवी, वही, पुस्त 45, प्रस्तावना, पृ 33 । 4. देखो स्मिथ, आक्सफर्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ 53 ।

5 हेमचन्द्र, वही, प्रकाश 1, श्लो 20, पृ 2 । (अनुवाद के लिए देखो स्टीवन्सन, श्रीमती, वही, पृ 234) ।

अर्थात् जो तू अपना यह कसाई का धंधा छोड़ दे तो मैं तुझ को धन दूंगा क्योंकि तू धन के लिए ही लोभ से कसाई है । राजा की इस प्रार्थना का कसाई पर कुछ भी प्रभाव नहीं हुआ और उसने निर्भर होकर राजा को उत्तर दिया कि—

सूनाया मनु को दोषा यया जीवन्ति मानवा ।
ता न जातु त्याजामीति ॥

अर्थात् जिससे मनुष्यों का निर्वाह होता है उस कसाईपन से क्या हानि है ? मैं तो इसे कदापि छोड़ने वाला नहीं हूं ।

इस प्रकार राजा ने जब देखा कि कसाईपन से निवृत्त करने का अन्य मार्ग नहीं है तो उसने उसे एक अन्धे कुए में कैद कर दिया परन्तु सारी रात उसमें लटकाए हुए रखा । परन्तु वहां भी उस कसाई की दुर्बुद्धि ने उस कुए की भीत पर पशुओं की आकृतियां खींचने और उन्हें वहां की वहां मिटा देने की प्रेरणा दी और इस प्रकार वह अपनी वृत्ति सन्तुष्ट करता ही रहा । अन्त में वह किसी भयंकर व्याधि में ग्रसित होकर मरा एवम् नरक में गया ।

पिता की मृत्यु के पश्चात् सुलस के सगे-सम्बन्धी सब तुरन्त ही एकत्र हुए और उसको कुल व्यवसाय चलाते रहने को समझाया । उत्तर में उसने उनसे कहा कि जैसे मुझे मेरा जीव प्रिय है वैसे ही यह सब जीवों-प्राणियों को प्रिय है और यह सब जानते हुए भी कौन मूढ़ हिंसा के व्यवसाय द्वारा जीवन निर्वाह करना पसन्द कर सकता है ? परन्तु सुलस के सगे-सम्बन्धियों पर इस तर्क का प्रभाव कुछ भी नहीं हुआ यही नहीं उनने उसके कर्मों के फल में साझी बनने की पूरी पूरी तत्परता दिखाई । फिर सुलस ने एक भैंस को मारने का ढोंग करते हुए अपने पिता की कुल्हाड़ी को अपने ही पैर पर मारकर एक भारी घाव कर लिया जिससे मूर्छित होकर वह भूमि पर गिर पड़ा । जब वह सचेत हुआ तो उन सम्बन्धियों से यों कहने लगा 'बान्धवो यूयं विभजध्वं मम वेदनाम् ।' हे भाइयो । अब आप मेरे इस दुःख में साझी बनिए यानि इसमें का कुछ आप ले लीजिए । सिवा शान्ति सान्त्वना देने के वे कोई भी कुछ नहीं कर सके । तब उसने अपने पूर्व वचनों का स्मरण कराते हुए उनसे कहा कि व्यथामियतीमपि । न मे ग्रहीतुमीशिध्वं तत्कथं नरकं यथाम् ॥ अर्थात् आप जब इतनी भी मेरी व्यथा भी नहीं बटा सकते हैं तो फिर नरक में मुझे मिलने वाला दुःख आप कैसे ले सकेंगे ? इस प्रकार सुलस ने सब सम्बन्धियों को अपनी मान्यता की ओर झुका लिया और जैन श्रावक के बारहव्रत अंगीकार कर मृत्योपरान्त वह स्वर्ग में गया ।[1]

इस कथा का सार एकदम स्पष्ट है । यह उस सिद्धान्त जितनी ही अहिंसा सिद्धान्त के प्रति जैनों के अत्यन्ताग्रह की घोषणा करता है । धर्म के लिए पशु हिंसा की जा सकती है ऐसे मनु के वाक्य उद्धृत करते हुए योगशास्त्र में कहा गया है कि 'नास्तिकों का अपना भी वे लोग अत्यन्त पापी हैं कि जो हिंसा की शिक्षा देनेवाले शास्त्र बनाते हैं ।[2]

---

1 हेमचन्द्र योगशास्त्र, स्वोपज्ञवृत्तिसहित अध्याय 2 श्लो 30 पृ 91 95 । बहुधा स्वर्ग को ही मोक्ष मान लिया जाता है परन्तु यह ठीक नहीं है । जैनों की दृष्टि में मोक्ष वह स्थिति है कि जहां से आत्मा कभी भी नहीं लौटता है । परन्तु स्वर्ग में जीव की आयु की सीमा है । परन्तु आत्मा जब मोक्ष पा लेती है तो सदा सर्वदा के लिए वह अनंतसुख की भोक्ता हो जाती है । कभी आयु समाप्त नहीं होता है ।

2 हाप्किंस वही पृ 288 ।

व्यावहारिक जीवन मे भी जैनो का जीवो के प्रति दयाभाव आश्चर्य जनक है जब कि जीवन निर्वाह का सघर्ष दिनो दिन बढ रहा है। आज के जैनो की वर्तणी की टीका करना किसी अपेक्षा से उचित भी हो फिर भी जैनो की अहिंसा का महान आदर्श अर्थात प्राणी मात्र पर प्रेम और उसके प्रति मित्रता अद्भुत है। इसे समझने के लिए सक्षेप मे कुछ कहना यहा उचित है। जैन मात्र के लिए, किसी भी जाति की हिंसा उससे न हो इसलिए, यह नियम है कि वह सदा तीन वस्तुए अपने पास रखे हो एक पीने का पानी छानने के लिए वस्त्र दूसरा रजोहरण और तीसरा सूक्ष्म जीवों की जाने-अनजाने हो जानेवाली हिंसा को बचाने के लिए मुहपत्ती। 'इस नियम के परिपालनार्थ ही केशो का लोच, पूर्ण कष्ट कर होते हुए भी, किया जाता है, कि जो दीक्षा लेने के समय ही, प्राचीन प्रथानुसार, उतारे जाते है। केशलोच की यह प्रथा जैनो की विशिष्ट प्रथा है और भारत के अन्य किसी तपस्वी समाज मे यह नही पाई जाती है।'[1]

इसी प्रकार अहिंसाव्रत का भग नही हो जाए इस दृष्टि से एक गृहस्थ जैनी भी दैनिक जीवन मे बहुत सावधान रहता है। इसमे भी एक विशिष्टता है और वह यह कि वे रात मे याने सूर्यास्त के पश्चात इसलिए नही खाते और सम्भव होते पानी भी नही पीते है कि अनजान मे भी कही जीव-जन्तु उनके खानेपीने मे नही आ जाए। इसीलिए हेमचन्द्र कहते है कि 'जिस रात्रि के अन्धकार मे मनुष्य भोजनादि मे पडनेवाले जीवजन्तु को देख नही सकता है, उस रात्रि मे भोजन करना ही कौन चाहेगा ?'[2] इन सब प्रथाओ का विचार करते हुए यही कहा जा सकता है कि किसी हिन्दूधर्म ने अहिंसा याने जीव मात्र की रक्षा के लिए इतने मान और त्याग भाव को महत्त्व नही दिया है।'[3]

व्यावहारिक जीवन मे नियमो की इन सब कठोरताओ मे एक क्षण के लिए भी किसी को यह नही मान लेना चाहिए कि उपरोक्त नियमो के पालने मे जैनधर्म जगत मे खडा रहा नही सकता है क्योकि उससे राष्ट्र मे गुलामी, अकर्मण्यता और दरिद्रता फैल जाएगी। 'जैनधर्म के विषय मे ऐसी खोटी समझ का कारण है कि इसकी अपूर्ण जानकारी और पूर्वग्रह।'[4] अपना कर्त्तव्य करते रहो। जितनी भी सहृदयता से वह कर सको करते रहो। 'यही सक्षेप मे जैनधर्म की प्रमुख और सर्वप्रथम शिक्षा है। अहिंसा किसी भी मनुष्य के कर्तव्य निर्वहन मे बाधक नही है।' जैनो की अहिंसा दुर्बलो की अहिंसा तो है ही नही। वह तो एक वीर आत्मा का आत्मबल है कि जो जगत के सब अनिष्ट बलो से उच्च है अथवा उच्च होने की अभिलाषा रखता है। हेमचन्द्र ने इसे इस सूत्र पर आधारित ठीक ही कहा है कि 'आत्मवत् सर्वभूतेषु।'[5] गरीब से गरीब, नीच से नीच और मान भूले हुए के प्रति एक जैन का भाव कैसा होता है इसका उत्तराध्ययन सूत्र मे एक बडा अच्छा दृष्टान्त दिया है जो इस प्रकार है —

हरिकेश एक श्वपच याने चाण्डाल था। वह इन्द्रियो का दमन कर उच्चतम गुण प्राप्त एक महान् साधू हो गया था। एक समय गोचरी (भिक्षाचरी) के लिए भटकते हुए वह ब्राह्मणो के यज्ञ के एक बाडे के पास आ पहुचा। उसने वहा कहा —

"हे ब्राह्मणो! आप किस लिए यह अग्नि जला, पानी द्वारा बाह्य पवित्रता प्राप्त करते हो ? सुज्ञ पुरुषो का तो यह कथन है कि जो बाह्य पवित्रता तुम खोज रहे हो, वह यथार्थ वस्तु नही है।"

---

1 व्हूलर, वही, पृ 15। 2 हेमचन्द्र, वही. हस्तपोथी, प्रकाश 3, श्लो 49, पृ. 8।
3. बार्थ, वही, पृ 145। 4 जैनी, वही, पृ 72।
5 आत्मवत् सर्वभूतेषु...हेमचन्द्र, वही, प्रकाश 2, श्लो. 20, पृ. 3।

तुम कुशघास यज्ञ-यूप काष्ठ और तृण का व्यवहार करते हो। प्रात साय पानी का आचमन करते हो और जीवित जन्तुओं का तुम नाश करते हो। इस प्रकार तुम अपने अज्ञान के कारण बारबार पाप करते हो।"

धर्म ही मेरा सरोवर है ब्रह्मचर्य मेरा स्नानागार है जो मलिन नहीं है परन्तु आत्माय अति विशुद्ध है। तप ज्योति है, धर्म व्यापार मेरे यज्ञ का चाटु है, शरीर सूम ज्ञा। है कर्म मेरी समिधा लकडिया है सयम मेरा य थ पुरुषार्थ है और शाति बलिदान है। इनकी साधु पुरुषों ने प्रशसा की है और वही मैं बलि देता हू।"

यह तनिक भी आश्चर्य की बात नहीं है कि उत्तराध्ययन पुकार पुकार कर कहता है कि तपश्चर्या का फल दीख पड रहा है। जन्म का कोई महत्व नहीं है। श्वपच के पुत्र हरिकेश पवित्रात्मा को देखो। उसकी शक्ति अनन्त है।[1]

उपरोक्त दृष्टान्त जनो के ग्राह्य उन नैतिक गुणो का स्पष्ट दिग्दर्शन करता है कि जिन्हे की प्राचीन काल के जैन पुन पुन उपदेश द्वारा शिक्षा दिया करते थे। वस्तुत यह है कि इस धर्म का विशिष्ट लक्षण इसकी सर्वव्यापकता ही है। और उसकी पृष्ठ भूमि में उसका महान् आदर्श अहिंसा है जो केवल मोक्षार्थी जन साधु का ही आदर्श नहीं अपितु उन सभी सघ के सदस्य साधुओ का आदर्श है जो दूसरो को भी पार लगाना चाहते है। यह मात्र कुलीनो आर्यों को ही नहीं, अपितु नाचकुल शूद्रो और भारत में अत्यन्त निरस्कृत माने जाते परदेशियो और म्लेच्छो तक को याने मनुष्य मात्र को मुक्ति की ओर थका उनके लिए अपना द्वार मुक्त करने का महान् उद्देश घोषित करता है।[2]

किसी भी वर्ग के व्यक्ति को अपने धर्म में स्वीकार करने की स्वतन्त्रता जैनो की सार्वभौमिक भावना और इस प्रकार सहयोगिता[3] के सिवा भी दूसरे धर्मों के प्रति जैनो की रखी गई उदार भावना भी कम प्रशसनीय नहीं है। यह बताता है कि दूसरे के भावो को ठेस नहीं पहुचे इस विषय में जैनधर्म किस सीमा तक सतर्क था। श्रीमती स्टीवन्सन को भी यह स्वीकार करना पडा है कि जैनधर्म की अद्वितीय प्रतिष्ठा यह है कि वह अपना ध्येय सिद्ध करने के लिए परधर्मियो की योग्यता का भी स्वीकार करता है जबकि भारत के अनेक धर्म यह बात स्वीकार नहीं करते हैं।'[4] दूसरे धर्मों के लिए बहुमान रखने की यह प्रशस्त भावना जैनधर्म की सर्वोत्तम प्रभावशाली अनेक विभूतियो का प्रमुख लक्षण है। षड्दर्शनसमुच्चय के जैनधर्म विभाग के प्रारम्भ में ही आचार्य हरिभद्रसूरी कहते है कि —

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेष कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचन यस्य तस्य कार्य परिग्रह ॥

---

1 याकोबी सबुई पुस्त 45, पृ 50 56।

2 ब्हूलर, वही पृ 3। 'जैनसघ यति और श्रावक ऐसे दो विभागो में विभक्त है। यदि भारत के किसी भी भाग में जैन जातिभेद का व्यावहारिक रूप में मानते है तो वह ठीक वैसा ही है कि जैसे कि दक्षिण भारत के ईसाईयो और मुसलमानो मानते है यही क्यो सिहलद्वीप के बौद्ध मानते हैं। इसका धर्म से जरा भी सम्बन्ध नहीं है। यह तो सामाजिक उच्चता की मान्यता हो कारण है कि जो भारतियो के मस्तिष्क में खूब गहरी ठसी हुई और जिसे धर्मसुधारको के वचन ही मिटा सकते हैं। —याकोबी कल्पसूत्र प्रस्तावना पृ 4।

3 कपिशी में निग्रन्थो याने दिगम्बरो के देख जाने पर ह्यूएनत्साग (बील की सी-य-का, भा 1, पृ 55) का टिप्पण प्रत्यक्ष रूप से यह तथ्य बताता है कि उनने कम से कम उत्तर-पश्चिम में तो भारत की परिसीमाओ में पर अपना धर्म का प्रचार किया था।'— ब्हूलर वही पृ 4।

4 स्टीवन्सन (श्रीमती) वही पृ 243।

अर्थात् 'मुझे न तो महावीर के प्रति पक्षपात है और न कपिलादि के प्रति ही कोई द्वेष है। जिसका कथन युक्तियुक्त हो उसको स्वीकार करने मे मेरा कोई भी पूर्वग्रह नही है।'[1]

सामायिक और प्रतिक्रमण की दो आवश्यक क्रियाए.—

जैनो की जहा एक ओर ऐसी उदार भावना है वहा दूसरी ओर उनके अहिंसा के आदर्श ने उन्हे अपने दोष या पाप–स्वीकरण को भी जैनसघ मे पोषण और पर्याप्त प्रमुखता देने को बाध्य किया है। मनुष्य जीवन मे हिंसा कुछ अ शो मे अनिवार्य सी ही है और इसलिए सारे दिन होने वाले पापो और स्खलनाओ का दिन प्रति दिन ध्यान रहना और उनका दैनिक स्वीकरण अन्तिम ध्येय सिद्ध करने के लिए आवश्यक है। इसे जैनधर्म का अद्वितीय लक्षण नही माना जा सके तो भी जैनधर्म मे दोष-स्वीकरण को जो महत्व दिया गया है वह अवश्य ही अद्वितीय है। इस दोष-स्वीकरण के तत्व मे से ही फलित होने वाले दो विधान याने सामयिक और प्रतिक्रमण साधु और श्रावक दोनो के ही जीवन मे महत्व के है। सुधर्मास्वामी का आवश्यकसूत्र तो यहा तक कहता है कि 'सामायिक से प्रारम्भ और बिंदुसार नामक चौदहवे पूर्व मे समाप्त होने वाला ज्ञान ही सत्य याने सम्यग्ज्ञान है। उनका परिणाम सत् या सम्यक्चारित्र है और ऐसे चारित्र से निर्वाण प्राप्त होता है।'[2]

सामायिक व्रत जिससे कि आत्मा स्वभाव की शिक्षा प्राप्त करता है का विधान है कि दिन मे कम से कम 48 मिनट अर्थात् दो घडी तो ध्यान मे बिताए ही जाए।[3] इस व्रत का अनिवार्यतम अ श 'करेमियंते' का पाठ है जिसका अर्थ इस प्रकार है.—

हे भगवत ! मै सामायिक करता हू। मै सब प्रकार पापमय व्यापारो से निवृत्त होता हू। जब तक मै जीवित रहू, मन-वचन और काया से न तो मै ही पाप करूगा, और न किसी दूसरे से ही पाप कराऊगा। हे भगवत ! मै किए पापो को भी वोसिराता याने छोडता हू। गुरू और आत्मा की साक्षी से मैं पाप का मिच्छामि दुक्कड देता हू। और पापमय कार्यो से मेरी आत्मा को मुक्त रखने के लिए मैं यह सामायिक व्रत स्वीकार करता हू।[4]

महावीर ने ससार का त्याग कर साधू की दीक्षा ली उस समय उनने उपरोक्त शब्द प्रतिज्ञा रूप से उच्चारण किए थे।[5] हरिभद्रसूरि ने आवश्यकसूत्र की टीका मे इस सामायिक की नीचे लिखी व्याख्या की है —

'जिसने सवभाव प्राप्त कर लिया है और जो सब प्राणियो मे अपनी ही आत्मा को देखता है उसीने यथार्थत सामायिकव्रत पालन किया है।[6] जहा तक आत्मा राग-द्वेष का त्याग नही करती है वहा तक किसी भी प्रकार का तप लाभकारक नही है जब जीव प्राणी मात्र के प्रति समभाव से देख सकता है तभी राग और द्वेष पर विजय प्राप्त उसने कर ली ऐसा कहा जाता है।[7]

---

1 हरिभद्र, वही, पृ 39, देखो यह भी

भवबीजाकुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य ।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ।।- हेमचन्द्र, महावीरस्तोत्र श्लो 44।

2 सामाइयमाईय...।...निव्वाण ।। आवश्यकसूत्र, गाथा 93, पृ 69।

3 देखो स्टीवन्सन (श्रीमती), वही, पृ 215। 4 करोमिमते...वोसिरामि। आवश्यकसूत्र 454।

5 कृतपचमौष्टिकलोचो भगवान्...करेमिसामाइअ...उच्चरति। कल्पसूत्र, सुबोधिका टीका पृ 96। देखो आवश्यकसूत्र, पृ 281। 6 य. 'सम' मध्यस्थ, आत्मानभिव पर..., 'सर्वभूतेषु'..., तस्य सामायिक भवति। आवश्यकसूत्र, पृ 329। 7 देखो दासगुप्ता, वही, भाग 1, पृ 201।

अब पडिक्कमणम् अर्थात् प्रतिक्रमण का विचार करें। इसमें पापों का मुक्त स्वीकरण और उनके लिए सच्चाई से क्षमा मांगी जाती है। संक्षेप में कहें तो आत्मा को लगे हुए दोषों या पापों का यह प्रायश्चित्त है। प्रतिक्रमण में किसी भी इन्द्रिय वाले जीव के प्रति किए हुए अपराध का स्मरण कर जैनी क्षमा मांगते हैं। इसके सिवा आरोग्य के नियमों के विरुद्ध किसी भी जीव-जन्तु की उत्पत्ति उनके द्वारा हो गई हो तो उसका भी इस समय विचार और प्रायश्चित्त किया जाता है।[1] अहिंसा के सिद्धान्त में से उत्पन्न विश्व-बन्धुत्व के गुणों का विकास ही इस शिक्षा का स्वाभाविक परिणाम है और व्यावहारिक दृष्टि से मुक्ति के लिए हो हो करती हुई मनुष्य जाति की सहायता करने का श्रेय इसमें से उद्भूत होता है। फिर जैनों का सामाजिक संगठन इस प्रकार का है कि उसमें उपरोक्त आदर्श व्यवहार में लाए जा सकते हैं।

स्याद्वाद या अनेकान्तवाद का सिद्धान्त —

अब हम जैन तत्वज्ञान के एक विशिष्ट लक्षण का विचार करें कि जो भारतीय न्यायशास्त्र को जैन दर्शन का विशिष्ट योगदान माना जाता है। सम्पूर्ण ज्ञान का प्रकाश और प्रचार ही सब धर्मों का हेतु होता है। प्रत्येक धर्म मनुष्य को जगत प्रपंचों से परे जाने या देखने की शिक्षा देने का प्रयास करता है। जैनधर्म का भी यही प्रयत्न है परन्तु इसके कथन में उनसे इतना ही भेद है कि वह किसी भी वस्तु का एकान्त स्वरूप यानि मर्यादित बिन्दु में नहीं देखता है।

सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए जैनधर्म के पास अपना ही तत्वज्ञान है जिसे स्याद्वाद या अनेकान्तवाद या सिद्धान्त कहा जाता है। नय का (दृष्टि बिन्दु का) सिद्धान्त जैन न्याय का विशिष्ट लक्षण है।[2] हम ने देख ही लिया है कि जैन अध्यात्मशास्त्र जगत को दो प्रकार याने जीव और अजीव में विभक्त मानता है और प्रत्येक में उत्पत्ति-उत्पाद, व्यय नाश और ध्रुवत्व नित्यत्व के गुण स्वीकार करता है।[3] यहां उत्पत्ति या उत्पाद का अर्थ नया सर्जन नहीं है क्योंकि जैन दृष्टि से सारा विश्व शाश्वत यानि नित्य अनादि हो है। यहां इसका प्रयोग इस अर्थ में हुआ है कि इस शाश्वत जगत में पदार्थों का निरन्तर रूपान्तर होता ही रहता है।[4] प्रत्येक वस्तु पदार्थ सहज स्वाभाविक गुणों की अपेक्षा से सत् ध्रुव-नित्य है। परन्तु दूसरे पदार्थ के गुणधर्म की अपेक्षा से वह सत् नहीं होने से, असत् है यह स्वतः सिद्ध हो जाता है। अनुभव में ऐसा भी मालूम होता है कि शाश्वत तत्व प्रत्येक क्षण कितने ही गुणों को त्याग नए गुण ग्रहण करता जाता है।[5] इसी को संक्षेप में अनेकान्तवाद कहा जाता है।[6] "बौद्धों के नानात्ववाद और उपनिषदों के ब्रह्मवाद के स्थान में ही जैनों का यह अनेकान्तवाद है।[7] इसी पर जैनों के स्याद्वादसिद्धान्त की रचना हुई है। इन परिस्थितियों में यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत पदार्थ को पृथक्-पृथक् दृष्टि बिन्दु से देखने पर नाना प्रकार के विरुद्ध दिखने वाले धर्म भी उसमें रह जा सकते हैं।[8]

प्रत्येक पदार्थ अनंतधर्म गुण रहे हुए हैं जो सब एक ही समय में व्यक्त नहीं हो सकते हैं। फिर भी पृथक् पृथक् अपेक्षा से ये सब धर्म उसमें सिद्ध किए जा सकते हैं। प्रत्येक पदार्थ का भिन्न भिन्न चार दृष्टियों से विचार

---

1 स्टीवन्सन (श्रीमती) वही पृ 101। 2 राधाकृष्णन वही भाग 1 पृ 296।

3 वस्तुतत्वं चोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकम् —हेमचन्द्र स्याद्वादमंजरी पृ 168। स्या वही श्लो 21 22। यनोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं यत्सत्तदिष्यते। अनन्तधर्मकं वस्तु तेनोक्तं मानगोचर ॥ —हरिभद्र वही श्लोक 57।

4 देखो वारेन वही पृ 22-23। 5 दासगुप्ता वही भाग 1 पृ 175।

6 तत्वं जीवाजीवलक्षणम् अनन्तधर्मात्मकमेव —हेमचन्द्र वही पृ 170।

7 दासगुप्ता वही भाग 1 पृ 174, नकानि मानानि अनेकमान इति। —विशेषावश्यकभाष्यम् गाथा 2186 पृ 895। 8 बेल्वलकर वही पृ 112।

किया जा सकता है याने द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव मे । इस प्रकार 'स्याद्वाद का सिद्धात यह प्रतिपादन करता है कि प्रत्येक पदार्थ अनन्तधर्मी होने के कारण चाहे जिस एक दृष्टि विन्दु से निश्चित किया उसका विधान एकदम सत्य नही माना जा सकता है ।[1] इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ मे भिन्न भिन्न अपेक्षा से नाना प्रकार के विरुद्ध धर्मो का स्वीकार करना ही स्याद्वाद है ।' पदार्थ को सयोगात्मक रीति से समझने की ही यह पद्धति हे ।'[2]

इस स्याद्वाद के सिद्धात को बहुधा सशयवाद कह दिया जाता है ।[3] परन्तु अधिक सत्य तो यह हे कि उसको वैकल्पिक शक्यता का सिद्धात मानना ही उचित हे ।[4] सुप्रसिद्ध विद्वान आनन्दशकर ध्रुव कहते है कि 'स्याद्वाद का सिद्धात सशयवाद तो नही ही है । वह मनुष्य को विशाल और उदार दृष्टि से पदार्थ को देखने को प्रेरित करता है और विश्व के पदार्थ किस प्रकार देखे जाए यह सिखाता है ।'[5] यह वस्तु का एकान्त अस्तित्व नही स्वीकार करता है और न वह उस प्रकार के स्वीकरण को एकदम अस्वीकार ही करता है ।[6] परन्तु वह कहता है कि वस्तु है, अथवा नही है अर्थात् अनेक दृष्टिविन्दु मे की एक दृष्टि से उसका विधान हुआ है यह वह स्पष्ट स्वीकार करता है । वास्तविकता का सच्चा और सचोट प्रतिपादन तो मात्र आपेक्षिक और तुलनात्मक ही हो सकता है और उस प्रतिपादन की शक्यता वह स्वीकार करता है । प्रत्येक सिद्धात सत्य होता है परन्तु कुछ निश्चित सयोगो मे ही याने परिकल्पना मे ही । अनेकधर्मी होने के कारण कोई भी बात निश्चय रूप मे नही कही जा सकती है । वस्तु के विविध धर्मो को वताने के लिए विधि-निपेध सम्वन्धी शब्द प्रयोग सात प्रकार के होते हैं, यही इस सिद्धात का वक्तव्य है ।'[7] इन सात प्रश्नो उत्तर देने की पद्धति को ही सप्तभगी नय अथवा सात-वचन-प्रयोग भी कहते है । यह तात्विक सिद्धात अत्यन्त गहन और रहस्यपूर्ण है, इतना ही नही अपितु वह विशिष्ट परिभाषिक भी है । यह स्पष्ट करने के लिए नीचे के वह सरल और सुन्दर विवरण से अधिक स्पष्ट कुछ नही हो सकता है ।

'अद्वैतवादियो का कहना है कि यथार्थ अस्तित्व तत्व एक ही है याने आत्मा । अन्य कुछ भी नही है । एकमेवाद्वितीयम् और वह नित्य है । इसके अतिरिक्त सव असत् होने सोयिक है । इस प्रकार आत्मवाद, एकवाद या नित्यवाद इसको कहा जाता है । इन अद्वैतावादियो का मात्र यही तर्क था कि जैसे प्याला तश्तरी जैसी कोई वस्तु ही नही है, वह तो पृथक पृथक नामो से कही जाती मिट्टी मात्र ही है वैसे ही भिन्न भिन्न नामो से पहचाने जाते विश्व के पदार्थ एक आत्म-तत्व के ही पथक भेद मात्र है । दूसरी ओर बौद्ध कहते है कि मनुष्य को नित्य आत्मा जैसे किसी तत्व का सच्चा ज्ञान ही नही है । वह तो मात्र अटकल है क्योकि मनुष्य का ज्ञान उत्पत्ति,

---

1 दासगुप्ता, वही, भाग 1, पृ 109 । 2 वारेन, वही, पृ 20 ।

3 देखो हुल्ट्ज, एपी. इण्डि , पुस्त 7, पृ 113 । 'शून्यवादी बौद्ध मान्यता के स्थान मे जैनो ने सशयवादी पक्ष स्वीकार किया है और इसलिए उन्हे कथचित् दार्शनिक' याने स्याद्वादिन कहा जाता है हापकिस, वही, पृ 291 । 4 देखो फ्लीट इण्डि एण्टी , पुस्त 7, पृ 107 । 'इस दृष्टि को स्याद्वाद दृष्टि कहा जाता है क्योकि इसमे ज्ञान सभावित ही माना जाता है । प्रत्येक स्थिति हमे केवल कदाचित्, स्यात् हो ऐसा ही कहती है । हम न तो किसी पदार्थ का पूर्णतया समर्थन ही कर सकते है और न इन्कार ही । कुछ भी निश्चित नही है क्योकि वस्तुए अनन्त भेदात्मक है ।' राधाकृष्णन, वही, भाग 1, पृ 302]

5 कन्नोमल, सप्तभगी न्याय, प्रस्तावना पृ 8 ।

6 उपाधिभेदोपहित विरुद्ध नार्थेष्वसत्व सदावाच्यते । च हेमचन्द्र, वही, श्लो 24, पृ 194 ।

7 राधाकृष्णन्, वही, भाग 1, पृ 302, स्याद्वादो हि सापेक्षस्तथैकस्मिन्...सदसत्वनित्यानित्यत्वाद्यनेक-धर्मान्युपगम । विजयधर्मसूरि, वही, पृ 151 ।

विनाश और नय पा कर बदलते हुए पदार्थों म परिमित हो जाता है। उनका यह सिद्धान्त इसीलिए अनित्यवाद कहा जाता है। मृत्तिका पदार्थ रूप मे नित्य हो, परन्तु घटरूप म वह अनित्य है यान अस्तित्व म आ कर वह नाश प्राप्त हो जाती है। अस्तित्व जैसा कि अद्वैतवादी कहते है उतना सरल नही है परन्तु जटिल है और इसके लिए उसके विषय का हर विधान सत्य का अश मात्र है। वस्तु के प्रत्येक धर्म का विधान तथा निषेध सम्बन्ध शब्द प्रयोग म सात प्रकार के हो सकते हैं जिनको जन सप्तभगी कहते है। यह विधान स्यात्' शब्द के उपयोग सहित अस्ति नास्ति और अवक्तव्य शब्दो के उल्लेख से व्यक्त किया जाता है। वस्तु के स्वपर्याय पर भार दिया जाए तो 'स्यादस्ति' परपर्याय सम्बन्धी उसके भेद पर भार दें तो स्यान्नास्ति' और जब उसके सत्' एवम् असत्' दोनो ही पर्यायो पर समान भार दिया जाए तो स्यादस्तिनास्ति' ही कहा जा सकता है। परन्तु किसी एक पर भी भार दिए बिना वह पदार्थ वाणी द्वारा व्यक्त नही किया जा सकता यह बताने के लिए स्यादवक्तव्य का व्यवहार किया जाता है। इसी प्रकार अमुक अपेक्षा से वह नित्य होते हुए भी अवक्तव्य है यह बताने के लिए स्यान्नास्तिअवक्तव्य का व्यवहार होता है। इसके सिवा अमुक अपेक्षा म वस्तु नित्य और अनित्य होने के साथ ही अवक्तव्य है यह बताने के लिए स्यादस्तिनास्तिअवक्तव्य' ऐसा कहा जाता है। इन सात प्रकारो म समझना इतना ही है कि सब समय सब प्रकार म और सब रूप म वस्तु अस्तित्व म है ऐसा विचारा ही नही जा सकता है। परन्तु वह एक ही स्थान म अस्तित्व रख सकती है और दूसरे स्थान म नही एक ही समय म अस्तित्व रख सकती है और दूसरे समय म नही।''[1]

'जैनधर्म का यह स्पष्टीकरण वेदान्ती और बौद्धो के दो अतिरेको का समन्वय है और वह बुद्धिग्राह्य अनुभव पर रचा हुआ है।'[2] याकोबी और बेल्वलकर सजयवलाठिपुत्र के अनेयवाद के विरोधात्मक सिद्धान्त रूप इसका मानते हैं। ''जब सजय कहता है कि वह है यह म नही कह सकता हू और वह नही है यह भी मैं नही कह सकता हू। तब महावीर कहते है कि ' मैं कहता हू कि एक दृष्टि से वस्तु है और विशेष म मैं यह भी कह सकता हू कि अमुक दूसरी दृष्टि से वह वस्तु नही है।''[3]

सक्षेप म स्याद्वाद जैन तत्वज्ञान का अद्वितीय लक्षण है। जन बुद्धिमत्ता का इससे अधिक सुन्दर गूढ और विस्तीर्ण दृष्टान्त दिया ही नही जा सकता है। जन सिद्धान्त की इस खोज का श्रेय महावीर को ही है।[4] दासगुप्ता के अभिप्रायानुसार इस विषय का जन शास्त्रो म सब से प्रथम उल्लेख भद्रबाहु की सूत्रकृतांग नियुक्ति (ई पूव 433-350) की टीका म है। यह उस विद्वान ने स्व डा सतीशचन्द्र विद्याभूषण के आधार से लिखा है।[5] और उनने प्रमाण म नियुक्ति से नीचे लिखी गाथा उद्धृत की है —

असियसय किरियाणं अक्किरियाणं च होई चुलसीती।
अन्नाणिय सत्तट्ठी वेणइयाणं च बत्तीसा॥

अर्थात् क्रियावाद के 180 अक्रियावाद के 84 अज्ञानवाद के 60 और वैनयिकवाद के 32 भेद[7]। इसम

---

1 देखो भण्डारकर रिपोट आन सस्कृत मैनुस्क्रिप्टस 1883-1884, पृ 95 96 गान्ध (ई पी) जनेरीज लिटरेचर, पृ 23 24। 2 दासगुप्ता वही, भाग 1 पृ 175।

3 बेल्वलकर वही, पृ 114। देखो सेवुई, भाग 45, प्रस्तावना पृ 27 बेल्वलकर और रानाडे वही पृ 433 टिप्पण 454 आदि। 4 बेल्वलकर वही पृ 114।

5 दासगुप्ता वही, भाग 1 पृ 181 टिप्पण 1। 6 विद्याभूषण हिस्ट्री आफ दी मेडीवल स्कूल आफ इण्डियन लोजिक पृ 8, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लोजिक पृ 167।

7 सूत्रकृतांग आगमोदय समिति गाथा 119, पृ 209।

स्पष्ट है कि स्व डा ऐसे खोटे खयाल मे थे कि निर्युक्ति की उपरोक्त गाथा मे सप्तभगी नय का उल्लेख है । जैनो को मान्य चार नास्तिक मतो के 363 भेद ही यहा तो प्राप्त होते है ।[1] निश्चय ही हमारा अभिप्राय यह है कि जैनो का स्याद्वाद सिद्धात और सात नयो का उल्लेख स्थानाग, भगवती और अन्य जैनशास्त्रो मे प्राप्तव्य है ।[2] अन्त मे लाला कन्नोमल के शब्दो मे कहे तो 'इस ज्ञान के तत्वे ज्ञा ने सत्य स्वरूप और उसकी खूबियो को समझाने के लिए अनेक महान् ग्रन्थ रचे है जो भारत मे प्रचलित परस्पर विरोधी दीखती धार्मिक प्रवृत्तियो को जो कि बहुधा विचारभेद बढा देती है, समझने के लिए इस विचार पद्धति का उपयोग किया जाए तो समाधान की ओर प्रत्यक्ष झुकाव होना सम्भव है ।'[3]

इस प्रकार यदि अहिसा को जैनधर्म का मुख्य नैतिकगुण-विशेष माना जाए[4] तो स्याद्वाद जैन आध्यात्मवाद का मुख्य और अद्वितीय लक्षण माना जाना चाहिए, और शाश्वत जगतकर्ता सम्पूर्ण ईश्वर का स्पष्ट निषेध करनेवाले जैनधर्म का यह सन्देश है कि 'हे मनुष्य ! तू ही अपना मित्र है उसके विधिविधानो का केन्द्रविन्दु कहा जाना चाहिए । अहिसा के आदर्श के साथ उपरोक्त सब बातें हमे सिखाती है कि—

He prayeth well who loveth well
Both man and bird and best.
He prayeth best who loveth least
all things both great and small,

—कोलोरिज (Coleridge)

अर्थात् जो मनुष्य अथवा पशु-पक्षी को प्रेम से चाहता है, वही ठीक प्रार्थना भी कर सकता है जो छोटे बडे सब पदार्थो को उच्च भाव से चाहता है वही उत्तम प्रकार की प्रार्थना करता है । यही कारण है कि जैन सदा ही कहते है कि—

खामेमि सव्वजीवे, सव्वे जीवा खमतु मे ।
मेत्ती मे सव्वभूएसु, वेर मज्झ न केणई ।।

अर्थात् मै सब जीवो को क्षमा करता हू । सब जीव मुझे क्षमा करे । सब जीवो के साथ मेरी मैत्री है । मेरा किसी के साथ वैर नही है ।[5]

इन सिद्धान्तो के एक भी लक्षण के विषय मे गलतफहमी खडी करना अथवा विपरीत रीती से उन्हे समझना जैनधर्म के सत्य स्वरूप के प्रति ही अन्याय करना है । हमे खुले मन मे स्वीकार करना चाहिए कि महावीर के उद्देश उच्च और पवित्र थे और मनुष्य जाति एवम् सर्व जीवात्मा की समानता का उनका सन्देश भारत के यज्ञयागादि से त्रासित और जातिभेद से क्षुभित लोगो के लिए उदार और महान् आशीर्वाद रूप थे ।

---

1 देखो याकोबी, वही, प्रस्तावना पृ 26, वही, पृ 315 आदि ।

2 स्थानाग (आगमोदय समिति), पृ 390 सूत्र 552, भगवती (आगमोदय समिति) सूत्र 469, पृ 592 । अन्य सन्दर्भो के लिए देखो सुखलाल और बेचरदास, सिद्धसेन का सम्मतितर्क, भाग 3, पृ 441 टिप्पण 10 । 3 कन्नोमल, वही, प्रस्तावना पृ. 7 ।

4 दासगुप्ता, वही, पृ 200 । 5 आवश्यक सूत्र पृ 763 ।

जनधम मे पड़े हुए मुख्य भेद—

महावीर द्वारा सम्कारित जनधम विषयक विचार करने के पश्चात् अब हम उसमे हुए प्रमुख मतभेदो का भी सक्षेप म विचार कर लेना चाहिए। महावीर के सघ म हुए इन मतभेदो को जन समाज कैसे पचा सका उसका भी साथ साथ थोड़ा विचार हम करना होगा।

सभी पगम्बरो और धमसुधारको के सम्बध मे जैसा हुआ करता है एसा ही महावीर का दुर्भाग्य म अपने जीवन काल म और उनके धम को पीछे भी पाखण्डी धमगुरुओ का सामना करना पड़ा था। एम पाखण्डियो मे ही जनो म सुप्रसिद्ध सात निण्हगा (निन्हवा)।[1] अर्थात् जिन प्ररूपित धम के विरुद्ध मत प्रचारको का भी समावश हो जाता है।[1] जमाली तीसगुप्त आषाढ अश्वमित्र गग छलुए और गोष्ठा माहिल य सात निन्हव है। परन्तु विरोधियो म सबसे विख्यात और महावीर का प्रचण्ड प्रतिद्वन्द्वी गोशाल मखलिपुत्र था जो कि पाली सूत्रो म उल्लिखित बुद्ध के छह पाखण्डी प्रतिस्पर्धियो मे के एक मक्खलि गोशाल के साथ बराबर ठीक उतरता है।[3] उसका और उसके आजीवक सघ का हम नगण्य परिचय ही मिलता है। अभी तक अस्तित्व म रहने वाले जन और बौद्ध दोनो ही मत्त्वपूर्ण सघो की एक समय सख्या और महत्व म प्रतिद्वन्द्विता करने वाले इस सम्प्रदाय के सिद्धात और क्रियाकाण्ड के सम्बध म हम वास्तविकतया अन्धकार म ही है।[4] गोशाल के बाद हम महावीर के जामाता जामाली जन सघ के एक पवित्र साधु तीसगुप्त आदि अन्य मतभेदकारको का नाम ले सकते है।[5]

मखलीपुत्र गोशाल —

गोशाल पहल पहल महावीर को राजगृह म मिला था और वहा वह उनका तुरन्त ही शिष्य हो गया। वह गोशाला मे जन्मा था इसलिए गोशाल कहलाता था।[6] उसका पिता एक भिक्षुक था। य सब सयोग आजीवक कहे जाने वाले भिक्षुओ का धम सम्प्रदाय के सस्थापक की हीनता उत्पत्ति बताने के लिए पर्याप्त है।[7] सातवें अगशास्त्र न सद्दालपुत्र म गोशाल का आजीवक सम्प्रदाय स्वीकार किया था ऐसा कहा गया है। फिर पाचवें

---

1 बहुरय । मरागणिण्हगा वद्धमाणस्स। आवश्यकसूत्र गाथा 776 प 311 । अथ मतनिन्हवस्वरूप निरूपत। महतु म विचारश्रेणी जसास भा 2 म 3–4 परिशिष्ट प 11–12।

2 भगवतीसूत्र आगमोदय समिति भाग 2 प 410–450।

3 याकोबी कल्पसूत्र प्रस्तावना पृ 1।

4 हरनोली उवासगदसाओ भाग 2 प्रस्तावना प 12। देखो इलाइट इण्डियन एण्टी पुस्त 20 प 362।

5 महावीर के केवलज्ञानी तीर्थंकर होने के पश्चात चौदहव वष म उनके भानज और जमाई जामाली ने उनका विरोध का नतृत्व किया और इसी प्रकार इसके दो वष पश्चात ही सघ म से एक साधु तीसगुप्त न उनका विरोध किया था। य दोनो ही विरोध नगण्य बात के सम्बध म थ जमाली अपने विरोध म अपने जीवन पर्यन्त दृढ रहा था। शार्पेटियर केम्ब्रिज भाग 1 पृ 163।

6 कल्पसूत्र सुबोधिका टीका पृ 102। गोशाला भिक्षुकवृत्ति मखली और उसकी भार्या भद्रा का पुत्र था। उसने गोबहुल ब्राह्मण की गोशाला म सर्व प्रथम दिन का प्रकाश देखा था यानि वह जन्मा था। शास्त्री (बनर्जी) विउप्रा पत्रिका स 12 प 55।

7 आजीवक नाम एसा लगता है कि मूल म गोशालक और उसके सम्प्रदाय का व्यवसायी भिक्षु वह कर निन्दा करने का ही सूचक था हालांकि बाद म जब वह साधुओ की एक सम्प्रदाय विशेष का नाम हो हो गया तो इसका फिर वह निन्दापरक अथ नहीं रहा। हरनोली एरिग भाग 1 पृ 259।

अगशास्त्र भगवतीसूत्र मे उस सम्प्रदाय के मुखी गोशाल का हमे पूरा वृत्तात मिलता है । बुद्ध के उपालम्भ क चुने हुए छह भिक्षुसघो के नेताओ मे का एक नेता रूप मे गोशाल मखलिपुत्र का उल्लेख बौद्ध धर्मग्रन्थो मे अनेक बार मिलता है । फिर भी स्पष्ट रीति मे उनमे कही भी उसका आजीवक सम्प्रदाय के साथ सम्बन्धित होने के रूप मे उल्लेख नहीं मिलता है । परन्तु जैन और बौद्ध दोनो ही स्वतन्त्र इच्छाशक्ति और नैतिक उत्तरदायिता के निषेध के तात्विक सिद्धात याने नियतिवाद के प्रचारक के रूप मे उसे स्वीकार करते है । इस प्रकार जैन और बौद्ध परम्परा की इस विषय के समान मान्यता स्पष्टत हे ।'[1]

जिस समय का यहा विचार किया जा रहा है वह प्राचीन भारत के धार्मिक-जीवन का सक्रानि-काल अर्थात् देश के इतिहास मे बुद्धिवाद का युग था । वह एक उत्थान का युग था जब कि गोशाला मखलिपुत्त, सजय वेलट्ठिपुत्त और अन्य तत्ववेत्ता उत्पन्न हुए थे । सच तो यह है कि भारतवर्ष तब ऐसी धार्मिक जागृति मे से गुजर रहा था कि . हमे यह जोरो के साथ कहना चाहिए कि उस समय मे तत्वज्ञान का जीवन और व्यवहार को तलाक देकर मात्र विद्वत्ता या क्रियाकाण्ड के लिए शोभारूप माना जाना बद हो गया था ।...इसने दृढ और ससारत्यागी व्यक्तियो को विकसित कर दिया था और अनेक प्रकार के अद्भुत तप और आचरण का प्रवेश भी जीवन मे पा गए थे । . इन अवैदिक स्वतन्त्र विचारको को ही इसका श्रेय दिया जाना चाहिए कि उनने तत्वज्ञान की विवेचना का द्वार मुक्त कर दिया और उसे जन साधारण के दैनिक जीवन और व्यवहार की समस्याओ का समन्वय करने को बाध्य कर दिया था । इसी लिए मखलि गोशाल के आजीवक सम्प्रदाय के विषय मे हम यह पढते है कि सब "ये प्रकार के वस्त्रो का तिरस्कार करते है, सभी शिष्टाचारी स्वभाव का उनने त्याग कर दिया है, अपने हथेलियो मे लेकर ही ये भोजन चाट जाते हैं ।.. वे मछली और मास नही खाते हे, मदिरा अथवा मादक पदार्थ का सेवन नहीं करते है । कितने ही एक घर से और एक ही ग्रास भिक्षा लाते है, अन्य दो अथवा सात घरो मे भिक्षा की याचना करते हैं । कितने ही एक बार ही भोजन करते है, कितने दो दिन मे एक बार, सात दिन मे अथवा एक पखवाडे मे एक दिन ही भोजन करते हैं ।" और यह कोई अपवाद रूप ही नही था । ऐसा लगता है कि मानो विचार मौलिकता और सुप्रकटता एवम् व्यवहार स्वातत्र्य और उत्केन्द्रता का तब बहुमूल्य हो गया था ।[2]

यह तो स्पष्ट ही है कि गोशाल महावीर के सघ को पुष्ट करने के स्थान मे प्रारम्भ मे ही उनके सस्कारित जैनधर्म की प्रगति मे बाधारूप हो गया था । उसने बौद्धो की सत्ता सुदृढ होने देने और महावीर की बढती प्रतिष्ठा को भारी चोट पहुचाने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया था ।[3] इस दृष्टि से निरीक्षण करते हुए महावीर और गोशाल के प्राथमिक सयोग के परिणाम गुरु और शिष्य दोनो के लिए निश्चय ही भयावह थे । "चारित्र और स्वभाव से दोनो ही इतने अधिक भिन्न थे कि छह वर्ष के सहवास बाद गोशाल की धूर्तता और अविश्वास से दोनो का सम्बन्ध टूट ही गया और वे अलग-अलग हो ही गए ।"[4]

---

1 वही । 2 वेल्वलकर और रानाडे, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलोसोफी, भाग 2, पृ 460-461 ।

3 विवाद का मुख्य विषय पुनर्जीवन का सिद्धान्त था जिसको गोशाल ने वनस्पतिक–जीवो के मौसमी पूनर्जीवन के प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर किया था और इसको उसने यहाँ तक साधारणीकरण कर दिया था कि वह यह सिद्धान्त प्रत्येक प्रकार के जीवो पर ही लागू करता था ।" –बरुआ, जेडी एल, स 2, पृ 8 । देखो शास्त्री (बेनरजी), वही, पृ 56 भी ।

4 हरनोली, वही, पृ 259 । "तेजोलेश्या अर्थात् दाहक शक्ति प्रक्षेप की विद्या कैसे प्राप्त की जाती है यह महावीर से जानकर, और पार्श्वनाथ के कुछ शिष्यो से आठ अगो का महानिमित्ता पढकर, गोशाल ने अपने आपको जिन घोषित कर दिया और अपने गुरु से वह पृथक हो गया ।" –विलसन, वही, भाग 1, पृ 295-296 ।

अपने गुरु से पृथक होने के पश्चात् गोशाल ने श्रावस्ती में एक कुंभारिन के घर में अपना मुख्य स्थान बना कर बहुत प्रभाव जमा लिया था।[1] महावीर से पृथक होकर तुरन्त ही उसने अपनी साधुता की सर्वश्रेष्ठ दशा अर्थात् जिन पद प्राप्त होने की घोषणा कर दी थी। महावीर ने स्वयम् केवलज्ञान प्राप्त किया उसके दो वर्ष पूर्व ही गोशाल ने अपना यह दावा प्रस्तुत कर दिया था। जैन दन्तकथानुसार महावीर ने गोशाल को फिर कभी प्रत्यक्ष में नहीं देखा। उनके केवल ज्ञानी हुए पश्चात् चौदहवें वर्ष में कदाचित् पहली बार ही वे श्रावस्ती पहुँचे मालूम होते हैं और वहीं उसके जीवन के अंतिम दिनों में उनसे उसका द्वन्द्व हो गया लगता है।[2] ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि यहाँ गोशाल का क्रुद्ध और अस्थिर स्वभाव बहुत प्रकट हो गया था और अपने गुरु[3] के प्रति अशिष्ट वर्तन का उसे अन्त समय में पश्चात्ताप हुआ था।[4]

इतना होते हुए भी एक बात हमें नहीं भूल जाना चाहिए कि महावीर और गोशाल का सम्बन्ध या यों कहिए कि भारत के धार्मिक उत्थान की महान लहर में मखलिपुत्त का स्थान कुछ अधिक स्पष्टता से विचारे जाने की अपेक्षा रखता है। डा. बरुआ कुछ भ्रान्ति पूर्वक कहता है कि इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जैन अथवा बौद्ध आधारों से मिलने वाली सूचनाओं से यह प्रमाणित नहीं होता है कि गोशाल महावीर के ढोंगी शिष्यों में से, जैसा कि जैन मानते हैं, एक था। उन प्रमाणों से तो इससे विपरीत बात ही सिद्ध होती है अर्थात् मैं यह कहना चाहता हूँ कि इस विवादग्रस्त प्रश्न पर निश्चित अभिप्राय देने का इतिहासवेत्ता यदि प्रयत्न करेंगे तो उन्हें यह कहना ही पड़ेगा कि इसके लिए यदि कोई भी ऋणी हो तो निःसंदेह वह गुरु है न कि जैनों का माना हुआ ढोंगी शिष्य।[5]

इस विद्वान को यह भ्रान्ति हो गई है कि महावीर पहले पहल पार्श्वनाथ की धर्म सम्प्रदाय में थे परन्तु साल भर पश्चात् जब वे नग्न रहने लगे आजीवक सम्प्रदाय में वे जा मिले।[6] यह मान्यता प्रमाणिक जैन आधारों और दन्तकथाओं की उपेक्षा करती है इतना ही नहीं अपितु गोशाल के अनुयायी आजीवक क्यों कहलाए इस तथ्य का अज्ञान भी प्रकट करती है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि पार्श्व और महावीर के धर्म सिद्धान्तों में भेद महावीर की विचार प्रगति का ही था और आजीवक शब्द उस जाति के प्रति घृणा प्रदर्शित करने के लिए ही था कि जिस जैन एवम् अन्य लोग आजीवक सम्प्रदाय की मूल स्थिति व्यक्त करने का प्रयोग किया करते थे।[7] इस प्रकार यह असम्भव था कि महावीर आजीवकों की सम्प्रदाय में जा मिलते। फिर इस नाम का कोई सम्प्रदाय गोशाल के अपने गुरु से विद्रोह करने के पूर्व कोई था ही नहीं क्योंकि गोशाल स्वयम् ही इस सम्प्रदाय का मूल संस्थापक था।

---

1 स्वामिन पार्श्वात्स्फटित श्रावस्त्या तेजोनिसर्गमातापयति। —आवश्यक सूत्र पृ 214।

2 शार्पेंटियर कहिइ भाग 1 पृ 159।

3 कुछ जनों का यह विश्वास है कि मृत्यु से पहले इतना घोर पश्चात्ताप करने के कारण वह नरक में नहीं अपितु किसी एक देवलोक में ही हो गया होगा।" —स्टीवन्सन श्रीमती वहीं पृ 60।

4 देखो वही। उसका अन्तिम कार्य था अपने शिष्यों के समक्ष महावीर के अपने सम्बन्ध के वक्तव्य की मान्यता को स्वीकार करना और उन्हें अपनी लज्जा का प्रकट घोषणा करने एवम् हर प्रकार की अवज्ञा पूर्वक अपना अंतिम संस्कार करने का आदेश दिया था।' —हरनोली वही पृ 260।

5 बरुआ वहीं प 17 18। 6 वहीं। 7 यह स्पष्ट है कि आजीवक शब्द बौद्धों में भी घृणासूचक ही था और वह सम्भवतः या एक दम्भिन जैसे हीन साधुओं के लिए ही प्रयोग किया जाता था। —हरनोली वही पृ 260।

यह स्पष्ट तथ्य है कि गोशाल और उसके अनुयायियो के विषय मे जो भी हम जानते है उसका आधार जैन और बौद्ध ग्रन्थ ही है । "इनका वर्णन अवश्य ही हमे सावधानी से स्वीकार करना होगा । परन्तु आवश्यक तथ्यो मे दोनो आधारश्रोत एक मत है । इसलिए वह वर्णन विश्वस्त होना चाहिए । दो स्वतत्र आधारो मे उनकी प्राप्ति उन्हे और भी विश्वस्त कर देती है।[1] चाहे जहा से छुटपुट दो चार बातें सग्रह कर लेने से ऐसा सप्रमाण साधन नही मिल जाता है कि जिससे हम यह कहने को प्रेरित हो कि "ऋगि कोई हो तो वह निश्चय ही गुरु है न कि जैनो का माना हुआ ढोंगी शिष्य ।" ऐसा कहने का खास कारण तो यह है कि जिन साधनो से उपरोक्त व्यापक अनुमान किया गया है, वे ही उसके विरूद्ध जाते है ।

एक या दूसरा निर्णय करने के पूर्व विद्वान पण्डित आलोचको को यह विचारने को कहते है कि "महावीर के पूर्व गोशाल के जिनपद प्राप्ति की बात भगवती मे दिए मखलिपुत्त के इतिहास से निशक सिद्ध होती है और उसमे की प्रमुख प्रमुख घटनाए कल्पसूत्र मे दिए महावीर चरित्र से भी समर्थित होती है ।[2]

अच्छा तो यही होता कि विद्वान आलोचक को उक्त तथ्य का विचार करने की बात ही नही कहना । ऐसा लगता है कि विद्वान जानबूझ कर समस्त घटना के विषय मे गभीर भ्रम उत्पन्न करना चाहता है । सूत्र मे कोई भी स्थान पर या समस्त जैन साहित्य मे कही भी गोशाल के जिनपद प्राप्ति का उल्लेख नही है । वहा इतना ही कहा गया है कि गोशाल स्वत अपने आप जिन अथवा तीर्थ कर बन बैठा था ।[3] बुद्ध ने उसके प्रति अब्रह्मचर्य का दोष लगाया है ।[4] फिर महावीर भी उसके प्रति ऐसा दोष लगाते हैं इतना ही नही अपितु वे उस विषय मे इतने ही जोरदार शब्द भी प्रयोग करते है । सूत्रकृताग मे महावीर के शिष्य आर्द्रक और गोशाल मे हुए सवाद मे गोशाल कहता गया है कि हमारे नियमानुसार कोई भी साधू...कुछ भी पाप नही करता है...स्त्री के साथ सभोग करता है ।[5] वह अपने अनुयायियो को 'स्त्रियो के दास' का दोष लगाता है और कहता है कि 'वे सयमी जीवन नही बिता रहे है ।'[6] ऐसे नैतिक-नियम-विरुद्ध सिद्धान्तो के प्रचार से कुख्यात व्यक्ति जिनपद, प्राप्ति योग्य और प्राप्त कैसे कहा जा सकता है ? यह तो सुनने मे ही अद्भुत लगता है कि जब कि यह कहा जाता है कि उसके जिनपद प्राप्ति का समर्थन जैनसूत्र ही करते है ।

एक अन्य स्थान पर विद्वान लेखक भगवतीसूत्र मे बताए गोशाल के छह पूर्व जन्मो का विशिष्ट समयों की बात कहता है और यह निष्कर्ष निकालता है कि 'गोशाल के छह पूर्व जन्मो का भगवती का उल्लेख चाहे विचित्र या काल्पनिक ही लगता हो परन्तु आजीवक पथ के इतिहास को गोशाल से 117 वर्ष पूर्व खीच ले जाने की इतिहास-कार को सहायता करता है ।.. '[7] इस पर से प्रकट है कि महावीर के सत्ताईस भवो की कथा यहा भुला दी गई है । 'आजीवक पथ का प्राक्मखलि इतिहास' रचने के लिए लेखक किस प्रकार प्रेरित हुआ है यही समझा नही जा सकता है ।'[8]

इस प्रकार डा बरुआ ने समीक्षक के विचार के लिए अनेक बाते प्रस्तुत की है, परन्तु प्रत्येक बात के लिए उसने स्वयम् यह भी कहा है कि 'यह कल्पना का महा प्रयोग है ।'[9] आजीवक के प्रति बुद्धिगम्य सहानुभूति पर

---

1 वही, पृ 261 । 2 बरुआ, वही, पृ 18 ।

3 अजिणे जिणप्पलावी...अकेवली केवलिप्पलावी.. विहरइ । भगवतीसूत्र, आगमोदय समिति, शतक 15, पृ 659 । देखो आवश्यकसूत्र, पृ 214, शार्पेटियर, वही, पृ 159 ।

4 देखो हरनोली, वही, पृ 261 । 5 याकोबी, सेबुई, पुस्त 45, पृ 411 । 6 वही, पृ 245, 270 । विजयराजेन्द्रसूरि, अभिधानराजेन्द्र, भाग 2, पृ 103 ।

7 बरुआ, वही, पृ 5 । 8 बरुआ, वही, पृ 7 । 9. वही, पृ 22 ।

रचित अनुमानों या व्याख्या करने को प्रस्तुत किए गए सभी तर्कों का एक एक करके बुद्धिपूर्वक विचार किया जाए तो गोशाल पर एक छोटा सा निबन्ध ही लिखना होगा। फिर भी इतना तो कह देना आवश्यक है कि विन्टरनिट्ज ने जैन और बौद्ध दंतकथाओं को बहुतांश में असत्य सिद्ध करने का ही इसके द्वारा प्रयत्न किया है जब कि डा याकोबी कहता है कि 'खास प्रमाणों की अनुपस्थिति में इन दंतकथाओं का अवश्य ही हम विशेष ध्यान न देखना चाहिए।[1]

फिर भी इतना तो अवश्य ही सत्य है कि गोशाल का तत्त्वज्ञान इस देश में एकदम ही नया नहीं था।[2] यह निश्चित है कि अनेक विरोधी सिद्धांतों और परस्पर असंगत मान्यताओं के अनिष्ट वातावरण में महावीर ने जैनसंघ की जितनी भी सफलता प्राप्त की वह निःसंदेह भारतीय विचार के पद्धति पूर्वक विकास के अनुरूप ही थी।[3] फिर डा याकोबी के अनुसार मक्खलि गोशाल से यह कहने में भी कोई विरोध नहीं है कि महावीर के सिद्धांत पर अधिक से अधिक प्रभाव मक्खलि के पुत्र गोशाल का पड़ा है।[4] क्योंकि गोशाल के व्यावहारिक और अव्यावहारिक जीवन का निश्चित रूप से स्थायी प्रभाव महावीर के मानस पर संभवतया पड़ा था। एक बात और भी कही जा सकती है और वह यह कि विचार दृष्टि से गोशाल प्रारब्धवादी था। वह यह मानता था कि 'उद्यम परिश्रम या पौरुष अथवा मनुष्यत्व जैसी कोई भी वस्तु नहीं है। सब कुछ अपरिवर्तनीय रूप में निश्चित है।'[5] व्यवहारिक जीवन में वह अब्रह्मचारी ही था।[6] इसलिए स्वभावतया उसके जीवन के पापमय और निर्लज्ज व्यवहारों ने साधु समाज के लिए खूब कठोर नियमों का बनाना उन्हें अनिवार्य प्रतीत हुआ और नितान्त प्रारब्धवाद का उसका सिद्धान्त चरित्रहीन अनैतिक जीवन में परिणत होना भी लगने लगा। जैनधर्म ऐसे प्रारब्धवाद को स्वीकार नहीं करता है क्योंकि उसकी तो यह शिक्षा है कि यद्यपि कर्म ही सब बात का निर्णायक है फिर भी हम पूर्व कर्मों पर अपने वर्तमान जीवन द्वारा प्रभाव डाल सकते हैं।[7]

इस प्रकार महावीर के जीवन पर और उनके संस्कारित धर्म पर गोशाल का कुछ भी प्रभाव पड़ा है तो वह इतना ही पड़ सकता है न कि इससे कुछ भी अधिक। फिर यह भी हम एक बार और कह दें कि जैनसंघ के इन अनिष्ट मतभेदों के कारण भारत भर में एक धर्मचक्र स्थापन करने की महावीर की प्रवृत्ति अत्यन्त नष्टप्राय हो गई थी।[8]

---

1 वही। 2 याकोबी वही प्रस्ता पृ 33। 3 बरुआ वही प 27।

4 जब कि संजय के तर्क सब नकारात्मक हैं गोशाल ने अपने तैराशिय' यानि त्रिभंगी न्याय कि कथंचित् हो कथंचित् न हो और कथंचित् हो और न हो द्वारा महावीर के सप्तभंगी न्याय का यानि स्याद्वाद का मार्ग पहले से ही प्रशस्त कर दिया था। बेल्वलकर और रानाडे वही प 456 7। देखो हरनाली वही प 26?।

5 याकोबी, वही प्रस्तावना प 29।

6 हरनाली उवासगदसाओ भाग 1 पृ 97 115 116। देखो वही भाग 2 प 109 110 132।

7 श्रीमती स्टीवन्सन [वही प 60। गोशाल के चरित्र के कारण ही कथंचित् महावीर को पार्श्वनाथ के चतुर्याम धर्म में ब्रह्मचर्य का पांचवा व्रत बढ़ाना पड़ा हो। —वही प 59। देखो वही प 185 हरनाली वही पृ 264। 8 शास्त्री बनरजी वही प 56। ई पूर्व छठी से तीसरी सदी में बौद्धधर्म एक नायक के नेतृत्व में सारे भारतवर्ष में और उससे परे के देशों में भी फैल गया था। परन्तु मतभेद ने जैनों को प्रारम्भ से ही रोक दिया था फिर भी जैसा कि यही जानकर गम्भीर होना है कि एक समय के शक्तिशाली आजीवक तो आज केवल स्मरण में ही अवशेष हैं। —वही प 58।

गोशाल के लिए इतना ही कहना पर्याप्त है। हम देख आए है कि महावीर के केवली जीवन के चौदहवें वर्ष मे गोशाल को मृत्यु हुई थी। यह घटना स्वभावतया इस बात से मेल खा जाती है कि उसकी मृत्यु महावीर निर्वाण के 16 वर्ष पूर्व हुई कि जो महावीर के कुल 30 वर्ष के केवली जीवन मे से 14 वर्ष घटाने मे बच रहते है। महावीर निर्वाण की तिथि जो हमने ई पूर्व 480-467 के बीच मे होना माना है, मे गोशाल की मृत्यु ई पूर्व 486-483 के बीच मे कभी भी हुई कही जा सकती है। भगवतीसूत्र के अनुसार गोशाल की इस मृत्यु तिथि का इस बात से भी समर्थन होता है कि उसकी मृत्यु और राजा कुणिया (अजातशत्रु) व वैशाली के राजा चेडग के बीच मे अद्वितीय सचेनक हाथी के स्वामित्व के कारण हुए युद्ध की घटना समकालिक है।[1] यह हाथी कुणिय के पिता बिबसार ने चेडग राजा की पुत्री चेल्लणा नाम की अपनी पत्नि मे उत्पन्न कनिष्ठ पुत्र विहल्ल को दिया था। राज्यगादी पर बलात् अधिकार कर अजातशत्रु ने अपने कनिष्ठ भाई के पास यह हाथी प्राप्त करने की चेष्टा की। परन्तु विहल्ल उस हाथी को लेकर अपने नाना वैशाली मे भाग गया।[2] जब कुणिय शाति से उसे लौटा लाने मे सफल नही हुआ तो उसने चेडग से युद्ध प्रारम्भ कर दिया।" इस प्रकार यह युद्ध कुणिय ने राजसत्ता प्राप्ति की उसी समय मे ही किया ऐसा सभव लगता है और इसे ई पूर्व 496 मे रख सकते हैं।[3]

आजीवक सम्प्रदाय का ऐतिहासिक दृष्टि से यदि विचार करे तो हम देखते है कि वह उसके प्रवर्तक के साथ ही समाप्त नही हो गया था। बौद्धो के साथ के उसके सम्बन्ध का विचार करने पर मालूम होता है कि बौद्धो को "जैन अथवा आजीवक किसी के साथ भी खास वैर रखने का कोई कारण नही था।" अशोक और दशरथ जैसे बौद्ध राजो ने आजीवको को नागार्जुनी और बराबर पहाडी पर की गुफाए इसी भाव से अर्पित की थी कि जिस भाव से उनने अन्य स्थलो पर बौद्ध स्तूप का निर्माण कराया था और ब्राह्मणो को दक्षिणा दी थी। बौद्धो का वैरभाव आजीवको अथवा जैनो पर नही उतरा था। परन्तु बाद मे जाकर ब्राह्मणो पर उनकी वैर बुद्धि हो गई थी।[4]

आजीवको का सबसे पहला उल्लेख अशोक के तेरहवे वर्ष अर्थात ई पूर्व 257 मे[5] गया के पास की बराबर की टेकरी की चट्टान मे खोदकर बनाई गई दो गुहाओ की दीवालो पर खुदे सक्षिप्त शिलालेख मे मिलता

---

1 हरनोली, वही, परिशिष्ट 1 पृ 7। एगहत्थिणापि ण पभू कणिए राया पराजिणित्तए। भगवती, आगमोदय समिति, पृ 316, सूत्र 300। देखो हेमचन्द्र, त्रिपष्टि–शलाका, पर्व 10, श्लो 205-206।

2. हरनोली, वही और वही स्थान। देखो टानी, कथाकोश, प 178-9 भी।...न दद्यास्तदायुद्धसज्जो भवेमीति —आवश्यक सूत्र, पृ 684।

3 डॉ हरनोली, महावीर निर्वाण ई पूर्व 484 मे मनाते हुए, गोशाल की मृत्यु और अजातशत्रु एव उसके नाना के बीच युद्ध की तिथि ई पूर्व लगभग 500 बताते है। देखो हरनोली, एरिए, भाग 1, पृ 261।

4 शास्त्री-बैनरजी, वही, पृ 55।

5 अशोक का राज्याभिषेक ई पूर्व 270–269 मे मान कर ही। देखो स्मिथ, अशोक, 3 य सस्क, पृ 73, मुकर्जी, राधाकुमुद, अशोक पृ 37।

है जो कि इस प्रकार है— राजा प्रियदर्शी ने अपने राज्य के तेरहवें वर्ष में यह गुफा आजीवकों को दी है। [1]

दूसरा उल्लेख अशोक के सुविख्यात स्तंभ प्रज्ञापनों में मिलता है जहां राजा अशोक अपने धर्माधिकारियों के कर्तव्यों को गिनाते हुए आजीवकों की सम्हाल रखने का कार्य भी उनको सौंपता है। [2] फिर राज्यारोहण के बीसवें वर्ष में अर्थात् ई. पूर्व 250 में उस राजा ने एक तीसरी मूल्यवान गुफा आजीविकों के निवास के लिए दी है।"[3] इसके अतिरिक्त एक उल्लेख उसके अनुगामी दशरथ के राज्य के प्रथम वर्ष यानि ई. पूर्व 230 का नागार्जुनी टेकरी पर चट्टान से खोदी तीन गुहाओं की भीतों पर उत्कीर्णित छोटे से लेख में मिलता है। यह लेख इस प्रकार है। यह गुफा महाराजा दशरथ ने अपने राज्यारोहण के तुरन्त बाद ही मामान्य आजीवकों को चन्द्र सूर्य तप वहां तक निवास स्थान रूप से उपयोग करने को दी है। [4]

इस प्रकार सात गुफाओं में की याने दो बराबर टेकरी की और तीन नागार्जुनी टेकरियों की गुफाएं आजीवकों को (आजीवकेहि) देने का उल्लेख है। 'आजीवकेहि' शब्द तीन स्थानों पर से जानबूझ कर कुरेद कर निकाल दिया गया सा लगता है जब कि अन्य प्रत्येक शब्द जस के तस देख जाते हैं। यह कुकृत्य किसने किया होगा यह कहना कठिन है। परन्तु इतना तो स्पष्ट दीखता है कि राजा दशरथ के बाद बराबर टेकरियां जैन राजा खारवेल के हाथ में आ गई थी। उसके राज्य के 8वें वर्ष में अर्थात् अशोक दशरथ काल के बाद ही वह गोरठगिरि में था। शिल्प के नियमानुसार लोमसऋषि गुफा पर से भी यह निश्चय किया जा सके ऐसा है। [6] एक पवित्र श्रद्धावान जैन होने से खारवेल ने ढोंगी गोशाल के आजीवक अनुयायियों का तिरस्कृत नाम घिस कर मिटा दिया और उनके चिन्ह तक का नाश कर देने का प्रयत्न किया होगा। [7]

---

1 हरनोली वही पृ 266। देखो इण्डि एण्टी पुस्त 20 पृ 361 आदि। स्मिथ, अशोक 1 म संस्क पृ 144। आजीवकों के प्रति झुकाव अशोक को बहुत सम्भव है कि, उसके मातापिता से ही वारसे में मिला था। यदि हम दंतकथा में विश्वास करें। विहावंशटीका (पृ 126) में जैसा कि पहले ही संकेत किया जा चुका है, उसकी माता के गुरु का उल्लेख है जिसका नाम जनसान था (दविमा कुलूपगा जनमाना नाम एको आजीवक) जिसको राजा बिंदुसार ने रानी के स्वप्नों का मर्म बताने के लिए बुलाया था अशोक के जन्म पूर्व। फिर दिव्यावदान (अध्या 26) में बिन्दुसार ने स्वयम् आजीवक संत पिंगलवत्स को प्रथम समस्त पुत्रों की परीक्षा लेकर उनमें से कौन उसका राज्य उत्तराधिकारी होने योग्य है यह बताने को बुलाया लिखा है। मुकर्जी राधाकुमुद वही पृ 64 65। आजीवक संत पिंगलवत्स ने राजा के बुलाए जाने पर उसके पुत्रों में से अशोक को ही उत्कृष्ट उत्तराधिकारी बताया था।' वही पृ 3।

2 स्मिथ, वही पृ 155 एपी इण्डि पुस्तक 2 पृ 270 272 274।

3 स्मिथ वही तीसरा संस्करण पृ 54। 4 हरनोली वही पृ 266। देखो इण्डि एण्टी 7 पुस्तक 20 पृ 361 आदि स्मिथ वही 1 म संस्क पृ 145। 5 शास्त्री—बनरजी वही पृ 59।

6 वही पृ 60। देखो यह भी दोनों स्थानों की तुलना करें भी सन्देह नहीं रहने देती है कि गोरथगिरि का हम्यगुम्फ और लेख उदयगिरि (खारवेल) के गुफा और हम्यगुम्फों में बहुत निकट सम्बन्धित हैं और दोनों ही जैनों के बनवाए हुए हैं जिनने आजिवकेहि शब्द को भ्रष्ट कर अपना धर्मराग लिखा दिया है। वहां पृ 61।

7 वही पृ 60। उसने (खारवेल ने) प्रकृतया आजीवकों को उनमें से निकाल भगाया उनका नाम भी मिटा दिया और निर्ग्रन्थों को इन बराबर गुफाओं में ठहरा दिया था। अपूर्ण लोमसऋषि गुफा भी इस काल गुविधायक हुई होगी। तथ्य जो भी हो ऐसा लगता है कि खारवेल ने मौर्य काल पश्चात् के कारीगरों द्वारा उनको सीता का ठीक करने में लगाया था।' शास्त्री—बनरजी बिउप्रा पत्रिका म 12 पृ 310

शिल्पशास्त्र के प्रदेशो मे इस जैन-आजीवक वैमनस्य पर लिखते हुए श्री मुखर्जी लिखते हैं कि "यहा की वरावर की गुफाओ के अन्तिम दो अशोक के शिलालेख और दशरथ के नागार्जुनी गुहाओं के तीन शिलालेख आजीवको को उन गुफाओ के दिए जाने का उल्लेख करते है। परन्तु इनमे के तीन शिलालेखो मे "आजीवकेहि" शब्द घिस देने का प्रयत्न किया गया दीखता है। ऐसा लगता है कि इस सम्प्रदाय का नाम किसी को सहन नही हुआ हो और उसी ने इसको मिटा देने का यह प्रयत्न किया हो। परन्तु यह कौन होगा ? हुल्ट्ज की धारणा है कि वह मखरि अवतिवर्मन होना चाहिए जिसने कि बरावर गुफाओ मे एक गुफा कृष्ण को और नागार्जुनी की दो गुफाए शिव और पार्वती को अर्पित की हैं और उसका कट्टर हिन्दू-मानस आजीवको को सहन नही कर सका होगा। डॉ बैनरजी-शास्त्री ने इससे अधिक विचारशील वात कही है। वह खारवेल पर इस अपकृत्य का दोष मढता है कि जो कट्टर जैन था और आजीवको के प्रति जैनो का विरोध परम्परा प्रसिद्ध था। यह कार्य मखरि के समय से बहुत पूर्व जब कि अशोक की ब्राह्मी लिपि भूली जा रही थी, तब ही हो जाना चाहिए।[1]

इस प्रकार व्यवहारिक दृष्टि से आजीवक सम्प्रदाय भारतवर्ष मे से ई पूर्व दूसरी सदी के अन्त मे नष्ट हो गया था,[2] यद्यपि वाद के साहित्य मे अर्थात् वराहमिहिर, शीलाक की सूत्रकृताग-टीका, हलायुद्ध की अभिधान रत्नमाला और विरचिपुरम् निकटस्थ पोयगेई के पेरुमल मन्दिर की भीतो पर के शिलालेख आदि वाद के साहित्य मे उनका उल्लेख अवश्य ही मिलता है।[3] परन्तु इन उल्लेखो का आजीवको से सीधा सम्बन्ध नही है और न वे आजीवको सम्बन्धी ही है। अनेक स्थलो पर तो आजीवक शब्द जैनो के दिगम्बर सम्प्रदाय के लिए ही प्रयुक्त हुआ है।[4]

जैनो के पहले पथभेद के विषय मे इतना कहने के पश्चात् अब हम जैनो के श्वेताम्बर-दिगम्बर भेद का विचार करेगे। वस्तुत इस सम्प्रदाय-भेद का मूल कहा है यह कहना अत्यन्त ही कठिन है दिगम्बर और श्वेताम्बर दन्तकथाए इसके सम्बन्ध मे जो कुछ भी कहती है, वह कही-कही तो निर्बोध और बहुताश मे बिलकुल अनैतिहासिक है। फिर भी इतना तो निश्चय ही कहा जा सकता है कि इस मतभेद ने जैन जाति की सर्व साधारण प्रगति और उन्नति मे बहुत ही हानि पहुचाई है। जैन साहित्य और इतिहास मे मिलने वाली विरुद्ध दन्तकथाओ के कारण दोनो ही सम्प्रदायो को बहुत ही सहन करना पडा है। पारस्परिक विद्वेष और कभी-कभी तो इससे

---

1 मुकर्जी, राधाकुमुद, वही, पृ 206। हुल्ट्ज का मत अग्राह्य है—1 वह प्रमाण दिए विना ही यह मान लेता है कि अनतवर्मन छठी-सातवी सदी मे अशोक की ई पूर्व तीसरी सदी की ब्राह्मी लिपि का ज्ञाता और परिचित था।...शास्त्री—बेनरजी, वही, पृ 57। 'विद्वान पण्डित द्वारा दूसरा कारण यह कहा गया है कि अनतवर्मन जो कि हिन्दू था, को आजीवको के प्रति यद्यपि कोई खास वैमनस्य नही था, परन्तु वह लोगो मे विष्णु या कृष्ण भक्त प्रसिद्ध था। वही। यह बात कर्न के कथन पर आधारित है (इण्डि एण्टी, पुस्त 20, पृ 361 आदि), परन्तु जैन सिद्धात ग्रन्थ अथवा अन्य साहित्य से इसका समर्थन कुछ भी नही मिलता है। फिर भी, यह विना किसी जोखम के कहा जा सकता है कि यह अपकृत्य हिन्दुओ या बौद्धो का कभी नही हो सकता है, वस, जो विकल्प शेष रहता है वह जैनो का है। 'ऐतिहासिक दृष्टि से भी जैन-आजीवक विरोध इसे लगभग विश्वस्त बना देता है।' शास्त्री—बेनरजी, वही, पृ 60। हुल्ट्ज के वक्तव्य के लिए देखो कोरपस इन्स्क्रिपशनम् इण्डिकारम्, पुस्त 1 प्रस्ता पृ 28 नया सस्क 1925 का।

2 शास्त्री—बैनरजी, वही, पृ 53। 3 हरनोली, वही 266, 267।

4 "इसमे कोई भी सन्देह नही रहता है कि छठी सदी ईसवी मे जब कि वराहमिहिर ने इस शब्द का प्रयोग किया, उसका लक्ष्य जैनो का दिगम्बर सम्प्रदाय ही रहा था" वही पृ 266।

भी ईर्षा घृणा से एक दूसरे को देखते रहे हैं।[1] महावीर के धर्म के मूल अनुयायी कहलाने के उत्साह में दोनों में से एक भी अपनी उत्पत्ति के विषय में कुछ नहीं कहता है परन्तु दोनों ही प्रतिस्पर्धी सम्प्रदाय की उत्पत्ति और उनके मान्यताओं की व्यंगपूर्ण और कभी कभी अपमानजनक टीका करते है।

पहले दिगम्बर दन्तकथाओं का ही विचार करें। उनके अनुसार हम देखते हैं कि दिगम्बर स्वयम् जैनसंघ में हुए इस सम्प्रदाय भेद के विषय में एक मत नहीं है। आचार्य देवसेन अपने ग्रन्थ 'दर्शनसार' में कहते हैं कि श्वेताम्बर संघ का प्रारम्भ विक्रम राजा की मृत्यु के पश्चात 136 वर्ष में सौराष्ट्र के वल्लभीपुर में हुआ था।'[2] इस विद्वान आचार्य के अनुसार श्वेताम्बरों की उत्पत्ति का कारण पूज्य भद्रबाहु के शिष्य आचार्य शांतिसूरि के शिष्य जिनचन्द्र का दुष्ट और व्यभिचारी जीवन था।'[3]

जिस भद्रबाहु का यहां उल्लेख किया गया है यह स्पष्ट नहीं है यदि वह चन्द्रगुप्त मौर्य कालीन भद्रबाहु ही हैं तो मतभेद का उक्त समय ठीक नहीं हो सकता है। परन्तु दिगम्बर दन्तकथानुसार चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में पड़े महा दुष्काल के कारण भद्रबाहु और उनके शिष्यगण उत्तर से दक्षिण देश में चले गए थे और उसके परिणाम स्वरूप श्वेताम्बर और दिगम्बर दो सम्प्रदायों में जैनसंघ के विभक्त हो जाने का अनुमान सत्य हो तो यह निर्विवाद है कि वह भद्रबाहु वही होना चाहिए अन्य नहीं याने भद्रबाहु श्रुतकेवली।

देवसेनसूरि ने यही बात भावसंग्रह में भी कही है परन्तु उसमें भद्रबाहु के जीवन से सम्बन्धित दुष्काल के विषय में भी वह कुछ कह देता है। वहां भी जिनचन्द्र को उसी घृण्य रूप में चित्रित किया है। पर अधिक में यह कहा गया है कि उन्मूल मार्ग पर चलने के लिए उपालम्भ दिए जाने पर उसने अपने गुरु शांतिसूरि का वध ही कर दिया था।[4] अभिभूत करने वाली बात तो यह है कि यहां भी इस सम्प्रदाय भेद की तिथि वही कही गई है।[5]

इस प्रकार दोनों दन्तकथाओं में निर्दिष्ट भद्रबाहु के सम्बन्ध में स्पष्ट ही कुछ भ्रम या अपूर्णता है। हो सकता है कि इनमें किसी दूसरे भद्रबाहु का उल्लेख किया गया हो अथवा ऐतिहासिक घटना के सम्बन्ध में काल क्रम का विचार किए बिना ही दन्तकथा बना दी गई हो। ये दोनों ही दन्तकथाएं निर्दोष हों इसलिए भट्टारक राजनन्दि ने भद्रबाहुचरित में यह अधिक कह दिया है कि भद्रबाहु के समय में अर्धफालक (अर्ध वस्त्र परिधान किए) के नाम से मतभेद प्रारम्भ हुआ और स्थूलभद्र ने जब इस परिवर्तन करनेवाले का विरोध किया तो उसको मार डाला गया। इसके बहुत समय पश्चात् वल्लभीपुर में रानी की राजा उज्जयिनी के राजा की पुत्री चन्द्रलेखा के कारण अन्त में दो अलग सम्प्रदाय बन ही गए।[6]

---

1 दस उप्पत्ती कहिया सवइयाण च मग्गभट्टाणं। आदि—देवसेनसूरि भावसंग्रह (माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला) गाथा 160 पृ 39। देखो प्रेमी दर्शनसार पृ 57। मिच्छादंसणमिणमो आदि। —आवश्यक सूत्र पृ 324।

2 छत्तीसे वरिससए … सोरट्ठे उप्पण्णो सेवडो संघो। —प्रेमी दर्शनसार गाथा 11 पृ 7।

3 वही गाथा 12–15।

4 सीस सीसेण … अविरो धाएण मुओ आदि। देवसेनसूरि वही गाथा 153 पृ 38। देखो प्रेमी वही पृ … । 5 छत्तीसे वरिससए सोरट्ठे उप्पण्णो सेवडसघो आदि। देवसेनसूरि वही गाथा 137 पृ 35। देखो प्रेमी वही पृ 35।

6 प्रेमी वही पृ 60। दिगम्बरों के अनुसार भद्रबाहु महावीर के पश्चात् आठवें पट्टधर के समय में अर्धफालक नाम का एक शिथिलाचारी सम्प्रदाय हुआ जिसमें श्वेताम्बरों का वर्तमान सम्प्रदाय विकसित हुआ है। नागगुप्त वही भाग I पृ 170।

इसके विपरीत मे एक अन्य दन्तकथा यह कहती है कि स्थूलभद्र का ही दिगम्बरो के नग्नतत्व के प्रति घोर विरोध था और उसके पश्चात् उसके शिष्य महागिरि ने नग्नता के आदर्श को पुनरुज्जीवित किया। वह सच्चा साधू था और यह मानता था कि स्थूलभद्र के शासन मे धर्म मे बहुत शिथिलता प्रवेश कर गई थी।'[1] उनके इस प्रचार कार्य का सुहस्ति ने विरोध किया। यह सुहस्ति महागिरि के नीचे अनेक जैनसघ नेताओ मे से एक था।[2]

पक्षान्तर मे श्वेताम्बर मान्यतानुसार इस पथभेद का मूल नीचे लिखी बातो मे दीखता है। रहवीर गाव मे शिवभूति अथवा सहस्रमल्ल नाम का एक व्यक्ति रहता था। एक समय उसकी माता उससे अप्रसन्न हो गई उससे वह घर छोड कर चला गया और जैन साधू बन गया। साधू की दीक्षा लेने के बाद राजा ने उसे एक मूल्यवान कम्बल भेट किया और वह उससे अभिमानी हो गया। उसके गुरु ने उसकी ओर उसका ध्यान दिलाया तो वह तब से ही नग्न रहने लगा। और उसने फिर दिगम्बर सम्प्रदाय चला दिया। उसकी बहन उत्तरा ने भी अपने भाई का अनुकरण करने का प्रयत्न किया। परन्तु स्त्रिया नग्न रहे यह उचित नही लगने से शिवभूति ने उसने कह दिया कि 'स्त्री मुक्ति की अधिकारिणी नही होती है।'[3]

इस पथभेद की तिथि श्वेताम्बर महावीर के पश्चात् 609 वर्ष कहते है।[4] महावीर निर्वाण और विक्रम के बीच 470 वर्ष के अन्तर के अनुसार यह घटना वि स 139 मे पडती है। इस प्रकार तिथि के विषय मे दोनो ही प्राय. सम्मत है क्योकि दिगम्बर विक्रम पश्चात 136 वर्ष मे और श्वेताम्बर वि. स 139 मे पथभेद हुआ कहते है। समय के विषय मे इस प्रकार ऐक्य होते हुए भी कारणो के विषय मे दोनो मे तनिक भी ऐक्य नही है। जिनचन्द्र और शिवभूति ऐतिहासिक की अपेक्षा काल्पनिक व्यक्ति ही लगते है क्योकि दोनो सम्प्रदायो की पट्टावलियो मे ऐसे किसी व्यक्ति का नाम नही हैं। इसी से दिगम्बर विद्वान श्री नाथूराम प्रेमी कहते है कि इस पर से हम यह अनुमान कर सकते हैं कि दोनो मे से कोई भी सम्प्रदाय भेद की उत्पत्ति नही जानता है। कुछ न कुछ लिखना या कहना चाहिए इस दृष्टि से बाद मे जो जिसके मस्तिष्क मे आया उसने वैसा ही लिख दिया है।[5] कुछ कटु होते हुए भी कहना होगा कि दोनो सम्प्रदाय महावीर के समय जम्बू तक जो कि महावीर के निर्वाण के पश्चात् 64 वे वर्ष याने ई पूर्व 403 मे निर्वाण हुए थे, के गुरुओ की वशावली स्वीकार करते है।[6] जम्बू के पश्चात् दोनो पक्ष अपने गुरुओ की भिन्न-भिन्न वशावलियो देते हैं। परन्तु चन्द्रगुप्त के समय मे हुए भद्रबाहु को दोनो ही स्वीकार करते है।[7] सत्य तो यह है कि इन सब परस्पर विरोधी दन्तकथाओ मे से सत्य बात का पता लग नही सकता है और इसलिए जैन समाज के इस महान् सम्प्रदाय-भेद की निश्चित तिथि बताना एक दम ही कठिन है।

---

1 श्रीमती स्टीवन्सन वही, पृ 73।

2 वही, पृ 74। 'मेरे विचार से ये भेद आर्य महागिरि और आर्यसुहस्ति के समय से स्पष्ट रूप मे व्यक्त हुए है।' झवेरी, निर्वाणकलिका, प्रस्तावना, पृ 7।

3 उपाध्याय धर्मसागर की प्रवचनपरीक्षा मे यह कथा दी गई है। देखो हीरालाल हसराज, वही, भाग 2, पृ 15। बोडियसिवभूइउत्तराहि इमय।.. रहवीरपुरे समुप्पण्ण। आवश्यकसूत्र, पृ 324।

4 छव्वाससयाइ नवुत्तराइ तभया सिद्धि गयस्स वीरस्स।
तो कोडियाण दिट्ठी रहवीरपुरे समुप्पण्णा॥ वही, पृ 328। 'दिगम्बरो की उत्पत्ति शिवभूति से कही जाती है (ई सन् 83) श्वेताम्बरो द्वारा और उसका कारण प्राचीन श्वेताम्बरो मे भेद पड जाना कारण बताया जाता है।'...दासगुप्ता, वही, भाग 1, पृ 17। 5 प्रेम, वही, पृ. 30।

6 देखो श्रीमती स्टीवन्सन, वही, पृ 69। 7 देखो प्रेमी वही और वही स्थान।

इम कठिनाई के साथ साथ दो बात और हमे विशेष रूप म लग्न म रखन की है । पहली यह कि दोना का विराध जैन साधू नग्न रह अथवा अपन शरीर को ढकन क लिए एक या अधिक वस्त्र रखें इस प्रश्न पर है। दूसरा यह कि दोनो मे सम्प्रदायभेद के समय के विषय म सब साधारण एक मान्यता है।

दोना सम्प्रदायो के नाम ही उनक अर्थ का सूचन करत ह। दिशा रूप वस्त्र ह जिनका ऐस दिगम्बरा की यह मान्यता है कि साधु के लिए एक दम नग्नता आवश्यक है। दूसरी सम्प्रदाय का श्वत वस्त्र पहनन वाले यह अर्थ होना है। महावीर नग्न रहत थ इसे श्वताम्बर भी स्वीकार करत है। फिर भी व कहत है कि वस्त्र के उपयाग मात्र स ही उच्चतम मोक्ष पद रुक नहा सकता है।[1] यदि यह निणय सत्य हा तो जनधम क मूल मे कौन सम्प्रदाय हाना चाहिए इस विषय म दोनो का ही वादविवाद करना आवश्यक नही ह क्योकि उनकी मान्यतानुसार तो जनधम आदि और अन्त रहित है। एतिहासिक और साहित्यिक दृष्टि स हम इतना ही कह सकते है कि श्वेताम्बर महावीर की अपेक्षा पाश्वनाथ का अधिक अनुसरण कर रह हैं । पक्षान्तर म दिगम्बर पाश्वनाथ की अपक्षा महावीर के अधिक निकट ह क्योकि महावीर न अपना साधु जीवन नग्नावस्था म ही बिताया था और पाश्वनाथ एवम् उनके अनुयायी सवस्त्र जीवन बिताते थ।[2] इसके सिवा यदि श्वेताम्बरा के शास्त्रीय प्रमाण स्वीकार किए जाए तो एक कदम आगे बढ कर यह भी कहा जा सकता है कि दिगम्बरा न महवीर के वचना का जहा अक्षरश पालन किया ह वहा श्वेताम्बरो ने किसी भी नियम का उल्लघन नही किया है क्योकि महावीर न अपनी निर्विकल्प ध्यानस्थ अवस्था म जो अनुभव किया उस चाहे जिस आध्यात्मिक दशा म उनके अनुयायी चिपके रह एसी उनकी धारणा नही थी।

इतना होने पर भी जनधम के मूल मे दोना म स कौन है यह प्रश्न ही चर्चा का विषय नही है क्योकि जनधम म जनधम का आदि अनुयायी कौन ह अथवा कौन हो सकता है इसका निणय करना ही कठिन ह । इतिहास के अभ्यासियो का यह विषय नही है। उनकी खोज का विषय यदि कुछ है तो यही कि जनसघ म यह पथभेद किस समय हुआ था ? जो तथ्य हम प्राप्त है उसकी विचार पूवक समीक्षा करना भी हमारे लिए सम्भव नही है। हम कुछ कर सकत ह तो इतना ही कि महावीर के समय मे मक्खलिपुत्त जब अपने मनस्वी मत की प्ररूपणा की तब ही इस सम्प्रदाय भेद का कीडा जनसघ को लग गया था। उसकी मृत्यु क बाद आजीवको का बल भी बहुत घट गया था फिर भी कुछ निगठ ऐस थे कि जो नग्नता कमण्डलु की अनावश्यकता जीवन विषयकउपेक्षा दण्ड का विशेष चिह्न और अन्य अनेक बाता मे आजीवका क साथ सहानुभूति रखत थ।[3] यह सहानुभूति बहुत सम्भव ह कि भद्रबाहु के समय म ही बताइ गइ हागी जब कि दिगम्बरो की मान्यतानुसार पथभेद का श्री गणेश

---

1 तपस्वियो म नग्नता महावीर काल म अनेक सम्प्रदायो म व्यवहार म थी परन्तु बौद्ध एवम् अन्य अनेक लोग कि इसका जगली और अशोभन मानत थ उनम यह निन्दित गहित भी थी।' —इलियट वहा पृ 112।

2 ज्वो याकावी सबुई, पुस्त 119 129। सभावना यह लगती ह कि सघ स सघ म दो मत या पक्ष रहे थ। वृद्ध और निबल जो कि वस्त्र पहनत थ और जो पाश्वनाथ क समय स चले आ रह थ और जो स्थविरकल्पी कहे जाते थे। श्वेताम्बरा क आध्यात्मिक गुरु य ही है। दूसरा पक्ष था जिनकल्पियो का जो महावीर का भाति ही नियम का अक्षरश पालन करते थ और य हा दिगम्बरा क अग्रदूत ह।' —श्रीमती स्टीवन्सन वही पृ 79।

3 हानाली वही प 267 आदि।

पहले पहल हुआ था।[1] परन्तु तब तो यह भेद स्पष्ट प्रकाश मे नही आया होगा। फिर जब हम स्थूलभद्र और आर्य महागिरि की दन्तकथाओ का विचार करते है और ई सन् की पहली सदी के अन्त तक पहुचते है तो हमे जैनसघ मे श्वेताम्बर और दिगम्बर भेद की मान्यताए स्पष्ट रूप मे दिखलाई देती है।[2] यद्यपि दोनो सम्प्रदायो द्वारा प्रस्तुत की गई दन्तकथाए अतिरंजित और निर्बोध दिखलाई देती है फिर भी एक बात उनसे स्पष्ट हो जाती है कि जैन इतिहास के इस विशेष समय मे कोई ऐसी विचित्र या साधारण घटना घटित हुई होगी कि जो इन सब साहित्यिक दन्तकथाओ के लिए कारणभूत कही जा सकती है। फिर भी हम ऐसा नही कह सकते हैं कि दोनो सम्प्रदायो का मतभेद यही से वस्तुतः है क्योकि मथुरा के शिलालेखो मे हमे कितने ही ऐसे तथ्य मिलते है कि जो यह प्रकट करते हैं कि दोनो सम्प्रदायो मे उस समय भी अनेक वस्तुए एक थी जो कि परवर्ती काल मे दोनो मे चर्चा का विषय हो गई।

वस्तुस्थिति को और भी स्पष्ट करने के लिए हम ऐसा भी कह सकते है कि जो मुख्य तथ्य दोनो सम्प्रदायो मे मतभेद के विषय है वे है—महावीर के गर्भ का अपहरण, स्त्रीमुक्ति और केवलीमुक्ति जिनको दिगम्बर अमान्य करते है और श्वेताम्बर मान्य। फिर जैनो का प्राचीन आगम साहित्य नाश हो गया यह भी दिगम्बर कहते है।[3] कितने ही विधिविधानो और सामान्य बातो को छोड दे तो ये ही मुख्य तथ्य दोनो सम्प्रदायो के मतभेद के है।[1]

मथुरा की शिल्पकला का विचार करते हुए पता लगता है कि महावीर के गर्भापहार के शिल्प मे महावीर को नग्न दिखाया गया है। शिल्प मे नेमेस के वाम घुटने के पास एक छोटे आकार का साधु खडा दिखाया है वह महावीर ही है। शिल्पशास्त्री ने उस प्रसग को प्रदर्शित करने के उद्देश से साधू के उपकरण भी दिखाए है।[4] और महावीर के तब तक जन्म नही लेने एवम् अर्हत्पद प्राप्त नही करने के कारण ही उन्हे इतने लघु आकार मे बताया गया है।[5] इस प्रकार मथुरा के एक ही शिल्प मे दिगम्बरो की नग्नता की मान्यता और श्वेताम्बरो के गर्भापहार की मान्यता दोनो ही आ जाती हैं। इससे यह देखा जा सकता है कि ई सन् की पहली सदी तक तो दोनो सम्प्रदायो का पथ-भेद निश्चय ही उत्पन्न नही हुआ था।

फिर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि जैनमूर्ति-शास्त्र प्रारम्भ मे जैन तीर्थ करो को नग्न ही बनाना है और अधिक नही तो कम से कम ई सन् की दूसरी सदी तक तो ऐसा ही। मनमोहन चक्रवर्ती उदयगिरी और खण्डगिरि

---

1 इससे ऐसा लगता है कि जैनसघ का दिगम्बर और श्वेताम्बर मे विभाजन, जैनधर्म के प्रारम्भ से ही पाया जाता है। इसका एक मात्र कारण महावीर और गोशाल, दो सहयोगी नेताओ का पारस्परिक विरोध है जो कि दो विरोधी सम्प्रदायो का नेतृत्व करते थे।' हरनोली, वही, पृ 268।

2. निर्वाणकलिका की प्रस्तावना मे श्री झवेरी लिखते है कि 'इस ग्रन्थ की प्रशस्ति से ऐसा मालूम देता है कि विक्रम की पहली शती मे दिगम्बर और श्वेताम्बर नाम से दो सम्प्रदाय जैनसघ मे अस्तित्व मे थे। सिद्धसेन दिवाकर की स्तुतियो की प्रशस्ति से भी प्राचीनकाल मे ऐसे सम्प्रदायो के अस्तित्व का समर्थन होता है।' प्रस्तावना पृ 7। 3 तेण किय मयमेय इत्थीण अत्थि तब्भवे मोक्खो।

केवलणाणीण पुणो अद्दक्खाण तहा रोओ।।

अवरसहिओ वि जई सिज्झइ वीरस्स गब्भचारत्त। प्रेमी, वही, गाथा 13-14, पृ 8।

4 'उसके (नेमेस के) वाम घुटने के पास एक छोटा नग्न पुरुष खडा है जिसके बाए हाथ मे साधू की भाति वस्त्र है और दाया हाथ ऊचा उठा हुआ है।' व्हूलर, एपी इण्डि, पुस्त 2, पृ 316। 5 वही, पृ 317।

वे स्मारको के विषय म लिखते हुए कहत हैं कि 'मात्र तीर्थ कर ही नग्नावस्था मे देख जाते हैं। किसी किसी स्थान म वे भी वस्त्र पहन दिखाए जात हैं जहा कि उनक मानवी जीवन के दृश्य या प्रसग बताए गए हैं स्त्रियो राजाग्रो च्वा, ग्रहता गधर्वो और परिचारको को बहुधा वस्त्र सहित बताया गया है। मथुरा शिल्प म नतकिया ;ग्रश्वासुर और कुछ तापस दिगम्बर थान नग्न बताए गए हैं। कभी कभी स्त्रिया भी नग्न बनाई गई है परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखन पर उनम वस्त्र की सूक्ष्म रेखाए दिखाई पडती हैं कि जिसम से शरीर की मरोड आरपार दीख ग्राती ह।[1] परवर्ती इतिहास म वराहमिहिर ने अपने वृहत्संहिता ग्रन्थ म जैन तीर्थकरो का वणन इन शब्दो में किया है— जना के दव नग्न युवान, स्वरूपवान शान्त मुख मुद्रा वाले और घुटनो तक लम्बे हाथो वाले चित्रित किए जाते हैं।[2]

इस प्रकार ईसवी सन के प्रारम्भ तक जनसघ म दो पथक सम्प्रदाय जसा कुछ भी यद्यपि नही देखा जाता है फिर भी इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि महान दुष्काल के समय की भद्रबाहु की ग्रौर ईसवी सन् 80 की जिनचन्द्र और शिवभूति की कथाए उस महान पथभेद के इतिहास की मुख्यतम वस्थाए हैं जिसने दिगम्बर के मतानुसार, ईसवी पूव 250 म महावीर निर्वाण मानते हुए देवर्धिगणि क्षमाश्रमण की प्रमुखता म[3] ईसवी 5वी सदी म जब दूसरी परिषद मिली तब दो स्पष्ट सम्प्रदायो म अन्तिम रूप स पृथक पृथक कर दिया था।[4] परन्तु ऐसा भी हो सकता ह कि इस स्पष्ट सम्प्रदाय इस समय म कुछ पूव ही हो गए हो और समग्र जन सिद्धान्त के अन्तिम स्थिरीकरण एवम् उस रूप म लेखन ने कुछ सिद्धान्तो और कुछ विश्वासो की भिन्नता के साथ इन्हे जनसघ के इन दो स्पष्ट विभागो म अन्तत प्रस्तुत कर दिया हो। इसे एक युग का जब कि सब बातें लिख लिखाकर सहितारुद्ध की जा रही थी स्वाभाविक ममनुपात भी निरापद कहा जा सकता ह।

पश्चिम भारत की गुफाओ के अध्ययन के आधार पर श्री जम्स बर्ड यही समय इस महान् सम्प्रदाय भेद का स्वीकार करता है और इस निणय पर पहुचता है कि दिगम्बर जैनो की उत्पत्ति इ सन् 436 के आसपास होना इन गुफाओ की तिथि स भी मेल खा जाता है। काठियावाड मे स्थित पालीताणा क जन मन्दिरो की कथा शत्रुजयमाहात्म्य भी दिगम्बरो की उत्पत्ति का समय यही निश्चित करती है।

इस पथभेद क इतिहास का उपसहार सक्षेप म सर चार्ल्स ईलियट के शब्दो म इस प्रकार किया जाता है कि समवतया दिगम्बर और श्वेताम्बर भेद जनधर्म की शैशवावस्था म ही चले ग्रात हो और श्वेताम्बर ही वह प्राचीन सम्प्रदाय हो जिसका महावीर न सस्कारित अथवा सुधार किया हो। हम यह कहा गया है कि वर्धमान न नियम वस्त्र का निषेध करते हैं परन्तु पुरसादानी पार्श्व के नियम एक अधो और एक उपरि इस प्रकार दो वस्त्रो की आज्ञा देते ह परन्तु यह पथ भेद बहुत वर्षो बाद निश्चित रूप म उस समय प्रकट हो ही गया कि जब दोनो के शास्त्रो का पृथक-पृथक निर्माण हुआ।[5]

---

1 मनमोहन चक्रवर्ती नोटस आन दी रिमन्स आन धौली एण्ड इन दी केव्ज आफ उदयगिरि एण्ड खडगिरि

2 वृहत्संहिता अध्याय 59 राएसा पत्रिका नयी माला स 4 पृ 328 म कर्न का अनुवाद। देखो (पृ 2)। चक्रवर्ती मनमोहन वही और वही स्थान। 3 देखो प्रेमी वही पृ 31।

4 यह निश्चित लगता है कि ई सन् 454 म सब शास्त्र लिख लिए गए थ और उनकी प्रतिया भी अनेक स्थानो म कराई गई कि कोई भी प्रमुख उपाश्रय उनके बिना नही रह जाए। — श्रीमती स्टीवन्सन वही, पृ 15।

5 बर्ड हिस्टारिकल रिसर्चेज पृ 72। 6 ईलियट वही पृ 112।

जैनसघ के इस पथभेद का पूर्व इतिहास इतना अधिक गु फित होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि दोनो सम्प्रदायो मे वास्तविक भेद बहुत ही अल्प है। कितने ही सिद्धान्तिक और विधिविधान की बातो मे दोनो मे मतभेद बडा अवश्य है फिर भी अनेक विरोधात्मक तथ्य अनावश्यक और परोक्ष है। आधुनिक युग के अत्यन्त सम्मान्य और अत्यन्त धर्मिष्ठ श्री रायचन्द्रजी के विचार बहुत कुछ ऐसे ही है।[1] वे एक महान तत्वज्ञ और आध्यात्मिक व्यक्ति थे और उनके विचार आज भी अनेक व्यक्तियो को स्वीकार्य है।

"दिगम्बरो ने, "डॉ दासगुप्ता कहता है कि, श्वेताम्बरो से बहुत प्राचीन काल मे ही पृथक होकर अपने विशेष धार्मिक क्रिया काण्ड रच लिये और अपना पृथक धार्मिक और साहित्यक इतिहास भी बना लिया हालाकि प्रमुख सिद्धान्त के विषय मे दोनो मे कुछ भी अन्तर नही दीखता है।"[2] तात्विक दृष्टि से दोनो सम्प्रदाए इस प्रकार परस्पर विशेष भिन्न नही है। जो भी अन्तर उनमे है वह सब व्यापारिक बातो का है और विलसन ठीक ही कहता है कि "उनका पारस्परिक विद्वेष जैसा कि सामान्यत होता है, उसकी उत्पत्ति के मूल की अपेक्षा तीव्रता मे अति ही असन्तुलित है।"[3]

जैनसघ के इस दूसरे पथभेद को यही समाप्त कर अब हम श्वेताम्बर जैनो के अमूर्ति पूजक भेद का भी विचार कर ले जिन्हे आज कल ढू ढिया अथवा स्थानकवासी कहा जाता है। जैनधर्म के इतिहास मे यह पथभेद बहुत ही पीछे से हुआ और यह कहने मे भी कुछ आपत्ति नही है कि भारतवर्ष के धार्मिक मानस पर मुसलमानधर्म की सीधा प्रभाव ही वह कहा जा सकता है। श्रीमती स्टीवन्सन कहती हैं कि "मुसलमान विजय का एक और तो यह प्रभाव हुआ कि मूर्तिभंजको के विरोध मे अनेक जैन अपने मूर्तिपूजक जैन साथियो के अत्यन्त निकट आ गए तो दूसरी ओर यह भी हुआ कि उसने कुछ को मूर्तिपूजा से बिलकुल चलित भी कर दिया। कोई भी पोर्वात्य अपने पौर्वीय बन्धु द्वारा मूर्तिपूजा विरोधी प्रचार का चीत्कार इसको औचित्य का मन मे सदेह जगाए बिना सुन ही नही सकता है।

"यह स्वाभाविक ही था कि गुजरात के प्रमुख नगर अहमदाबाद मे जो कि उस समय मुसलमानी प्रभाव मे अत्याधिक था, ही इस शका के पहले पहल चिन्ह हमे दिखलाई दिए। लगभग ई 1452 मे अमूर्तिपूजक प्रथम जैन सम्प्रदाय याने लौंका सम्प्रदाय का उद्भव हुआ और ई 1653 मे फिर ढू ढिया या स्थानकवासी सम्प्रदाय अस्तित्व मे आया। यह एक आश्चर्य की ही बात है कि भारत की यह प्रवृत्ति योरप की ल्यूथर और पवित्रपथी ईसाई सम्प्रदायो की ही समकालिक है।"[4]

जैनसघ के इस सम्प्रदाय के विषय मे अधिक कहने की यहा आवश्यकता नही है क्योकि यह हमारे निर्दिष्ट काल से बहुत ही बाद का है। परन्तु जैनसघ मे आज पाए जाने वाले भिन्न भिन्न सम्प्रदायो के विषय मे इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि दिगम्बर सम्प्रदाय चार उपसम्प्रदायो मे[5] आज विभक्त है और श्वेताम्बर मूर्तिपूजक 84 गच्छो मे एवम् स्थानकवासी 11 टोलो मे।[6] ईसवी दसवी सदी के पूर्व इनमे से किसी भी विभाग का जन्म

---

1 विवादसबन्धीनि बहुनि स्थलानि तु अप्रयोजनायमानान्येव तयो। —रायचन्दजी, भगवतीसूत्र, जिनागम प्रकाश सभा, प्रस्तावना, पृ 6।

2 दासगुप्ता, वही, भाग 1 पृ 170। 3 विलसन, वही, भाग 1, पृ 340

4 श्रीमती स्टीवन्सन, वही पृ 19। 5 दिगम्बर पुनर्यान्यलिंगा पाणिपात्राश्च। ते चतुर्धा, काष्ठासघ -मूलसघ-माथुरसघ-गोप्यसघभेदात—प्रेमी, वही, पृ 44।

6 देखो श्रीमती स्टीवन्सन, वही, पृ 13।

नहा हुआ था और स्थानकवामी जैना को छोडकर अनक भेद ता आज नाप भा हो गए है। यदि आज भी कुछ अस्तित्व म होंगे तो उनम श्वेताम्बर दिगम्बर विरोध जसा परम्परा स्पष्ट तिरस्कार या कटुता कदाचित् होगी।

यहा यह कह दना भी आवश्यक है कि महावीर के समय म कहा या उसके पहले स हा मतभेद का यह स्तर या पागलपन जैनधम की यह विशेषता ही प्रतीत होती है। भारतवष के अ य धर्मों म एसा पागलपन था नहा मैं कुछ भी नहा कह सकता हू। परन्तु इतना तो स्पष्ट ही मालूम होता है कि उनम मतभेद जना का जितनी सीमा तक कभी नही पहुचा होगा। 2000 वष स अधिक के इस अ तर काल म जनसघ के जीवन म जो मत भेद उत्पन्न हुए व अधिकाश निम्न कारणो स ही उद्भूत हुए लगते हैं। इनम स कितने ही तो महावीर के कथन को गलतसमझ या विसवाद म हुए ह। दूसरे इस कारण म कि जनधम ग्रहण करनेवाले जिस देश और जाति म उत्पन्न हुए थ व उनकी विशिष्ट परिस्थितिया और मयादा को नहीं छोड पाए थ, और तीसरे इससे कि जैन साधुओ के मुनी या साम न्याम आचार्यों की मान्यता पथक पथक मानी जा रही थी एवम् जन साधुसघो का पारस्परिक मत-भेद के कारण बढ गया था।[1]

इन सब मतभेदो और सम्प्रदायो के होते हुए भी जनधम आज पयन्त जीवित धम रूप म खडा ह यही एक विलक्षण बात है जब कि बौद्धधम अपनी जन्मभूमि भारतवष स अदृश्य हो ही गया है।[2] सरसरी दृष्टि म देखने पर यह एक विचित्र सा ही भासता है किन्तु श्री इलियट कहता है कि उसकी शक्ति और जीवित रहना उसके गृहस्थ अनुयायी की प्रीति सम्पादन करने और उन्हें एक रूप में सगठित करने की शक्ति के केंद्रित ह।[3] पर्यान्तर म बौद्धों में भिक्षुसघ ही वस्तुत बौद्धधम माना जाने लगा था और जन समुदाय (जसा की चीन और जापान में वस्तुत हुआ है वसे ही) अ य धार्मिक सस्थाओ के समान इस भिक्षुसघ का अपने से बाहर की वस्तु मान भिक्षुओ को पूज्य पुरुषो की भाति पूजने लग गया था। फिर जब बौद्धधम मठो और विहारो में गन्दगी फलने लगी या उनका नाश किया गया तो जिवित बौद्धधम जसा कुछ भी शेष नहीं रहा। परन्तु जना के परि-भ्रमण करने वाले साधुओ न धम की सारी सत्ता अपने म इतनी केंद्रित नहीं की थी और उनके अनुशासन की कठोरता स उनकी सख्या भी सदा ही परिमित रही थी। गृहस्थ धनवान थे और एक सघ बना कर रहते थे और अत्याचार उन्हें सदा उत्साहवधक रहता था। परिणाम यह हुआ कि जन जाति यहूदियों पारसियो क्वेकरो आदि

---

1 इन सब के उदाहरण स्वरूप हम पहला सात निह्नवो और दिगम्बर श्वेताम्बर भेद का स्थान देंगे जिनका कि विचार हम कर ही चुके ह। दूसरा उदाहरण हम ओसवाल श्रीमाल का भेद का देंगे जिसम कि श्रीमाल श्रीमाल या भिल्लमाल (आधुनिक भीमल मारवाड के धुर दक्षिण का) गाव के नाम से पाते हैं। (एपी इण्डि पुस्त 2 पृ 41) और तीसरा उदाहरण हैं श्वेताम्बरो के 84 गच्छ भेद जिनमे स तपा खरतर और अचल गच्छ ही विशेष रूप से उल्लेखनीय ह। इनम से खरतरगच्छ जिन परिस्थितियो म उद्भव हुआ थे इस प्रकार कही जाती ह –जिनदत्त एक अभिमानी व्यक्ति थ। उनका यह अभिमान उनके दिए तुरक उत्तरो म स्पष्ट दीखता ह जिनका कि सुमतिगणि न उल्लेख किया है। इसीलिए वह खरतर कहलाने लगे थे। परन्तु उन्होंने इस व्यग को सम्मानसूचक समझ खुशी स स्वीकार कर लिया। हीरालाल हसराज वही भाग 2 प 19 20।

2 ईलियट वही, पृ 122।

3 डा हरनोली नि सदेह यह ठीक ही कहते हैं कि जन श्रावको यह उत्तम सगठन जैनसध के समस्त जीवन म बडे महत्व का रहा होगा यही नही अपितु भारतवष म जनधम के अपना स्थिति बनाए रखने का प्रधान कारण भी रहा होगा जब कि इसका अत्यन्त प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी बौद्धधम ब्राह्मणो की प्रतिक्रिया द्वारा देश म बिलकुल झाडपुछ हो गया था। जार्पेटियर केम्ब्रि हि भा 1 पृ 168-169।

जातियो की ही भाति हो गई कि जिनमे गृहस्थो का श्रीमतपन, थोटा या बहुत क्रियाकाण्डपन और अत्याचार-सहनशीलता आदि समान लक्षण हैं ।"[1]

दूसरे विद्वानो की भी ऐसी ही मान्यता है ।[2] परन्तु जब हम जैनधर्म को टिकाए रखने वाली सब परिस्थितियो का विचार करते हैं तो अनेक अन्य कारणो की उपेक्षा भी हम नही कर सकते हैं । यदि साधारण समुदाय के लिए जैनधर्म मुक्त करने मे यह टिक सका हो तो साथ ही हमे यह भी कहना होगा कि बौद्धधर्म की अपेक्षा सकुचित प्रचार कार्य और पूजा के मुख्य केन्द्रो के लिए चुने गए एकात स्थान भी इस स्थायित्व के कारण है ।[3] इसमे मुसलमान अत्याचारो और ब्राह्मणो के पुनरुत्थान के दवाव मे भी जैनधर्म सही सलामत टिका रह सका था जब कि बौद्ध धर्म हिन्दूधर्म के दवाव के नीचे भारतवर्ष मे बिलकुल ही दब गया था ।[4] "जैनो को नास्तिक मानते हुए भी ब्राह्मणो ने उनके प्रति दिखाई सहिष्णुता मे उस समय अनेक बौद्धो ने जैनसम्प्रदाय मे आश्रय ले लिया ।"[5] इस प्रकार जहा तक मुसलमानो की सत्ता ने "राष्ट्र की धार्मिक, राजसिक और सामाजिक सत्ता को तोड नही दिया और छोटी-छोटी जातियो, समाजो तथा धर्मों के लिए सर्वत्र अनुदारता दिखाई"[6] वहा तक जैनो ने अपनी हस्ति टिकाए हो रखी थी ।

डॉ शार्पेटियर और डॉ. यकोबी के अनुसार भारत मे बहुत से सम्प्रदाय नष्ट हो गए थे तब जैनधर्म के टिके रहने का कारण महावीर के समय मे चले आते सिद्धान्तो मे दृढता के साथ चिपके रहने की उत्कट लग्न या

---

1 ईलियट, वही पृ 122 । बौद्धो मे भी उपासको और भिक्षुओ का सगठन ऐसा ही था, परन्तु जैसा कि स्मिथ कहता है, उपासको के सघ की अपेक्षा उनने अधिकाशतया उपसम्पदा प्राप्त भिक्षु-सघ पर भरोसा किया था । देखो स्मिथ, आक्सफर्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ 52 । जैनो मे दोनो पक्षो के सम्बन्धी अधिक सतुलित थे और इसलिए उनका सामाजिक सतुलन स्थिर था । देखो श्रीमती स्टीवन्सन, वही, पृ 67, मैकडोन्येल, इण्डियाज पास्ट, पृ 70 ।

2 डॉ हरनोली का इस विषय पर बगाल की एशियाटिक सोसाइटी मे 1898 मे दिए सभापति-पद के भाषण मे विवेचन अद्वितीय रूप से प्रकाशवान था क्योकि उसमे जैनो के सगठन मे श्रावको को प्रारम्भ से ही उपादान मूलक भाग का स्थान प्राप्त, इस बात पर उनने पूरा-पूरा बल दिया है । बौद्धसघ मे, पक्षान्तर मे, उपासकवर्ग को कोई भी औपचारिक मान्यता नही थी । इस प्रकार "जैन साधारण के सासारिक जीवन मे विस्तृत स्तर के साथ सम्बन्ध के अभाव मे बौद्धधर्म बारहवी और तेरहवी सदी मे हुए उनके भिक्षु-विहारो पर के मुसलमानो के घोर आक्रमणो के सामने टिके रहने मे अशक्त ही नही रहा, अपितु देश की भूमि से लोप ही हो गया ।" श्रीमती स्टीवन्सन, वही प्रस्ता पृ 12 । देखो शार्पेटियर, वही, भाग 1, पृ 168-169, हरनोली, बगाल एशियाटिक सोसाइटी, विवरण-पत्रिका, 1898, पृ 53 ।

3 "...बौद्धो की अपेक्षा न्यून साहसी परन्तु अधिक परिचितनशील होने और उसकी भी प्रारम्भिक अवस्था की सी सक्रिय प्रचारवृत्ति नही रख कर जैनधर्म ने अपेक्षाकृत तग परिसीमाओ मे शात जीवन बिताने मे सन्तुष्ठ रहा और इसीलिए आज भी पश्चिमी और दक्षिणी भारत न केवल सम्पन्न मुनि सस्था ही उसकी दीख रही है अपितु श्रावक भी सख्या मे कम होते हुए भी प्रभावशाली धनी है । श्रीमती स्टीवन्सन, वही, प्रस्तावना पृ 12 । 'अप्रतिरोधक शिखर पर नहीं पहुच कर परन्तु साथ ही प्रतिस्पर्धी बौद्धधर्म की भाति अपनी जन्मभूमि मे से सम्पूर्णतया विलोप भी नही हुआ है । शार्पेटियर, वही पृ 169-170 ।

4 देखो कुक, एरिए, भाग 2, पृ 496 । 5 टीले वही, पृ 141 । 6 बार्थ, वही, पृ 152 ।

तत्परता ही मालूम होती है। छोटी सी जैनजाति का अपने मूल सिद्धान्तों और सम्प्रदायों को चिपके रहने की आग्रहपूर्ण अनुदारता ही बहुत करके घोर अत्याचारों के सामने उसे टिकाए रखने का मुख्य कारण है क्योंकि बहुत समय पूर्व, जैसा कि डा. याकोबी कहता है ईसा से पूर्व लगभग 300 में भद्रबाहु के समय में प्रथम पंथभेद हुआ तब से ही जैनधर्म के मुख्य सिद्धान्त बहुत कुछ अपरिवर्तित ही रहे हैं। इसके सिवा यद्यपि साधुओं और गृहस्थों के लिए जितने ही सामान्य अनुशासन नियम जो कि शास्त्र में देखने में आते हैं अनुपयोगी और विस्मृत हो गए हों फिर भी ऐसा निश्चय कहा जा सकता है कि दो हजार वर्ष पूर्व जो धार्मिक जीवन था लगभग वही आज भी वैसा ही दीख पड़ता है। यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि परिवर्तनों का एकदम अस्वीकार ही जैनधर्म के मुख्य अस्तित्व का कारण हो गया है।"[1]

यह अनुदार स्वभाव जैन समाज के लिए जैसा कि आज भी उसकी स्थिति है लाभदायक है या नहीं यह सारी शंकास्पद बात है। आज के समकालिक धर्मों के अध्ययन को वह विपरीत ही लगता होगा। स्थिति स्थापकता में असहिष्णुता अस्थिरता और धार्मिक दंभ के चिह्न ही उसे दीख पड़ेंगे। उत्सर्ग लेखों और अन्य प्रमाणों से सर चार्ल्स ईलियट कहता है कि इन उल्लेखों से हम जानते हैं कि जैन जाति बहुत से उपविभागों और सम्प्रदायों की बनी है पर इससे हम यह विचार कर लेना नहीं चाहिए कि भिन्न भिन्न गुरु एक दूसरे के प्रति वैमनस्य रखते थे। परन्तु उनका अस्तित्व यह प्रमाणित करता है कि उनकी प्रवृत्ति और व्याख्या की स्वतन्त्रता ही आज के अनेक उपसम्प्रदायों का कारण होगी।

परन्तु एक बात बिलकुल स्पष्ट है और वह यह कि सारी जैन समाज के सामान्य हित का विचार किए बिना ये सब भिन्न भिन्न गुरु अपनी ही हांकते रहे थे।

कर्नल टाड कहता है कि तपागच्छ और खरतरगच्छ ने प्राचीन कितनी ही पुस्तकों का नाश करके मुसलमानों से भी अधिक हानि पहुंचाई है।[3] यही बात जैनों के श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायों के विषय में भी कही जा सकती है। भूत काल में ही नहीं अपितु आज भी इनकी एक दूसरे के प्रति प्रवत्तियां महावीर के अनुयायी को शोभा दे ऐसी नहीं हैं। स्थिति यह है कि कोई भी जाति के प्रति गैरसमझ उत्पन्न किए बिना यह अवश्य ही कहा जा सकता है कि इस प्रकार का विरोधी वातावरण और पारस्परिक विवाद जैन समाज में कुछ अधिक काल तक चलता रहेगा तो एक समय ऐसा आ जाएगा कि जब जैन जाति अपने बन्धु बौद्धधर्म की भांति इस देश से नाश हो जाएगी।

---

1 शार्पेंटियर वही पृ 169। देखो याकोबी जेडडीएमजी संख्या 38 पृ 17 आदि।

2 इलियट वही पृ 113।

3 टाड ट्रेवल्स इन वेस्टर्न इण्डिया पृ 284। कर्नल टाड की यह बात मानी जा सके ऐसी नहीं है क्योंकि इसके लिए न तो उसने ही कोई प्रमाण दिया है और न ऐसा प्रमाण कहीं और उपलब्ध ही है।

तीसरा अध्याय

राजवंशों मे जैनधर्म

ई पूर्व 800–200

1

पिछले अध्याय मे हमने जैनधम के विषय मे विचार किया था। पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक पुरुष थे और महावीर का अपने समय के कितने ही प्रमुख राज-कुटुम्बों के साथ रक्त-सम्बन्ध था, ये दोनो ही बातें अत्यन्त महत्व की है क्योंकि हमें अब यह देखना है कि किन सयोगो मे 'जैनधर्म अमुक राज्यों का राज्यधर्म बना और कितने राजाओं ने उसे अपनाया या उसे उत्तेजन दिया एवम् अपनी प्रजा को भी अपने ही साथ जैनधर्मी बना दिया।[1]

हमारा यह प्रयत्न सिवा इसके और कुछ भी नही है कि हम उत्तर–भारत के जैनो का इतिहास को देश के उस विभाग का सब वैध ऐतिहासिक पृष्ठभूमि सहित आरोप करें। या यो कहिए कि इस अध्याय का लक्ष्य उस काल के राजवशो का उत्तर-भारत के जैनो के साथ क्या सम्बन्ध रहा था उसका तादृश चित्र खींचना है।

पहले पार्श्वनाथ के समय का विचार करते हुए हम देखते है कि ऐसा एक भी उपयोगी साधन उपलब्ध नही है कि जिस पर हम कुछ भरोसा कर सकते है। 'उनके नाम के साथ यद्यपि साहित्य का बहुत अधिक भाग सबद्ध है, फिर भी पार्श्वनाथ के जीवन और धर्मकथन सम्बन्धी हमारी जानकारी बहुत ही परिमित है।[2] जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, उस सब साहित्य मे ऐतिहासिक वस्तु यदि कुछ है तो बस इतनी ही कि वे इक्ष्वाकु वश के वाराणसी के राजा अश्वसेन के पुत्र थे[3] और बगाल (आजकल बिहार) मे स्थित समेत शिखर पहाडी पर निर्वाण प्राप्त हुए थे। उनका सासारिक सम्बन्ध राजा पसेनजित के राजकुल के साथ हुआ था जिसका पिता पृथ्वीपति नरवर्मन था और जो कुशस्थल मे राज्य करता था एवम् जीवन के अन्तिम दिनो मे जैन साधु बन गया था। प्रभावती नामक उसकी पुत्री के साथ पार्श्वनाथ का विवाह हुआ था।[4]

---

1 स्मिथ, वही, पृ 55। 2 चार्पेंटियर, वही, पृ 154।

3 ..अनुगग नगर्यस्ति वाराणस्यभिधानत ॥
तस्यामिक्ष्वाकुवशो भूदश्वसेनो महीपति ॥ हेमचन्द्र, त्रिषष्ठि-शलाका, पर्व 9, श्लो 8, 14, पृ 196।

4 पुर कुशस्थल नाम...। तित्रासीन्नरवर्मेति...।... पृथिवीपति ॥ जैनधर्मरतो नित्य ..। उपादत्त परिव्रज्या सुसाधुगुरुसन्निधौ ॥ . राज्ये भून्नरवर्मण । सूनु प्रसेनजिन्नाम.. ॥ तस्य प्रभावती नाम। ..कन्यका ॥ . पार्श्वो.. ।...उदुवाह प्रभावतीम् ॥ हेमचन्द्र, वही, पर्व 9, श्लो 58, 59, 61 62, 68, 69, 210, पृ 198, 203।

ये तथ्य ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य तत्व माने जा सकते हैं या नहीं यह कहना कठिन है। दुर्भाग्य यह है कि इस मत के लिए हम उन साधनों का ही आधार ले सकते हैं कि जिन्हें जैन प्रस्तुत करते हैं। उनके समर्थन के अन्य कोई ऐतिहासिक साधन या उल्लेख ऐसे मिलते ही नहीं हैं कि जिनका विचार किया जा सके। परन्तु यह कठिनाई तो महान् अलेक्जण्डर के पूर्व के ही नहीं अपितु उसके परवर्ती समय के भारत के सारे ही इतिहास के लिए भी है। सौभाग्य से जैसा कि पहले कहा जा चुका है चौबीसवीं युग पूर्व का जैनधर्म शास्त्रीय और अन्य जैन साहित्य को हमारे युग के प्रमुख पण्डितों और ऐतिहासिकों ने जो प्रतिष्ठा दी और उसका साहित्यिक मूल्यांकन किया है उससे यह कहना जरा भी अतिशयोक्तिक नहीं है कि बौद्ध एवं हिन्दू इतिवृत्तों की भांति ही जैन इतिवृत्त भी अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं और इसलिए उन्हें भी यथोचित विचार या आदर मिलना चाहिए।

डा. याकोबी के शब्दों में कहें तो जैनधर्म की उत्पत्ति और विकास के विषय में आज भी कितने ही विद्वान सशंकित सावधानी रखना ही सुरक्षित देखते हैं, हालांकि समस्त प्रश्न की वर्तमान स्थिति की दृष्टि से इसका समुचित कारण नहीं है क्योंकि प्रचुर और प्राचीन साहित्य हमें उपलब्ध हो गया जो जैनधर्म के प्राचीन इतिहास की प्रचुर सामग्री उन लोगों को प्रदान करता है कि जो उससे लाभ उठाने के इच्छुक हैं। इतना ही नहीं अपितु यह सामग्री ऐसी भी नहीं है कि हम उसे अविश्वास्त रहें। हम जानते हैं कि जैनों के पवित्र धर्मग्रन्थ प्राचीन हैं स्पष्टतः उस संस्कृत साहित्य से भी प्राचीन जिसे आप खरे ही के अभ्यस्त हो गए हैं। प्राचीनता में ये धर्मग्रन्थ उत्तरीय बौद्धों के प्राचीनतम धर्मग्रन्थों से भी तुलनीय हैं। जब कि ये बौद्धधर्म ग्रन्थ बुद्ध और बौद्धों के इतिहास की सामग्री के रूप में बारबार प्रयुक्त किए जा चुके हैं हमें कोई भी कारण नहीं लगता कि फिर जैनों के ये पवित्र ग्रन्थ उनके इतिहास के संकलन की प्रमाणपूर्ण सामग्री के रूप में अविश्वस्त माने जाएं। यदि वे विरोधी वर्णनों से भरे हैं अथवा उनमें दी गई तिथियां परस्पर विरोधी परिणामों पर हमें पहुंचाती हैं तो वैसी सामग्री पर आधारित सब सिद्धान्तों को शंका से देखना हमारे लिए उचित कहा जा सकता है। परन्तु जैन साहित्य इस विषय में बौद्ध साहित्य से विशेषतया उत्तरीय बौद्धसाहित्य से कुछ भी भिन्न नहीं है।[1]

इस प्रकार हमारे पास जो साधन हैं उनसे काशी अथवा वाराणसी के राजा अश्वसेन और कुशस्थल का राजा प्रसेनजित अथवा उसका पिता नरवर्मन को ऐतिहासिक व्यक्ति रूप मानना हमारे लिए यद्यपि कठिन है फिर भी अन्य अनेक ऐतिहासिक एवम् भौगोलिक घटनाएं ऐसी हैं कि जिनसे हम ऐसे अनेक अनुमान निकालने में सक्षम हैं कि जिनके पीछे कुछ ऐतिहासिक महत्व निहित हो सकता है।

---

1 याकोबी, सेबुई पुस्त 22 प्रस्ता. पृ. 9। हम भावी शोधकों के लिए इसका विवरण खोजने का काम छोड़ दें परन्तु मैंने उस सन्देह को अवश्य ही निर्मूल कर दिया होगा कि जो कुछ पण्डितों का है कि जैनधर्म एक स्वतन्त्र धर्म नहीं है और उसके धर्मशास्त्र उसके प्राचीन इतिहास के प्रगटीकरण में विश्वस्त अभिलेख नहीं हैं। —वही, प्रस्ता. पृ. 47। देखो शार्पेटियर, उत्तराध्ययनसूत्र प्रस्ता. पृ. 25।

2 अश्वसेन नाम के किसी भी व्यक्ति के होने का ब्राह्मण उल्लेख नहीं जाना जाता है। इस नाम का एक मात्र व्यक्ति जिसका वीरगाथा में उल्लेख है नाग राजा था और उसे हम किसी भी प्रकार से जैन तीर्थंकर पार्श्व के पिता से सम्बन्धित नहीं कर सकते हैं। —शार्पेटियर, कहि. भाग 1 पृ. 154। प्रसंगवश यहां यह भी स्मरणीय है कि पार्श्वनाथ का सम्बन्ध जीवन भर नागों से रहा था और आज भी उनका लाञ्छन या चिह्न नाग का फण–छत्र है। देखो श्रीमती स्टीवेन्सन, वही पृ. 48-49।

था। यही नही अपितु उनके समय के ही पार्श्वानुयायियो के जैनागमो मे उल्लेखो से यह प्रमाणित होता है कि उत्तर भारत के बहुत बडे भाग मे तब जैनधर्म खूब ही प्रचार मे था हालाकि उसकी निश्चित भौगोलिक सीमाए आज नही खीची जा सकती है।[1] यह भी पहले कहा जा चुका है कि पार्श्वनाथ के 16000 साधु 38000 साध्वियां, 164000 श्रावक और 327000 श्राविकाओ के अतिरिक्त कितने ही हजार व्रतधारी स्त्रीपुरुष भी अनुयायी थे।[2]

पार्श्वनाथ से महावीर के समय तक के ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्यवान कोई भी तथ्य नही मिलते हैं। जैन इतिहास मे 250 वर्ष का यह काल एकदम कोरा ही कहा जा सकता है क्योंकि उस काल के न तो कोई ऐतिहासिक अभिलेख और न स्मारक ही ऐसे प्राप्त होते है जिन पर इतिहास सकलन के लिए विश्वास किया जा सके। फिर भी इतना तो निश्चित है ही कि इन दोनो तीर्थकरो के अन्तरिम काल का ऐतिहासिक अवच्छेद भरा जाना सम्भव नही होने पर भी विना किसी जोखम के यह कहा जा सकता है कि इस समस्त अन्तरिम काल मे भी जैनधर्म एक जीवित धर्म रहा था।[3] हम यह भी देख आए है कि पार्श्व के शिष्यो ने अपना धर्मप्रचार कार्य यथावत् चालू रखा था और महावीर एवम् उनके शिष्यो ने ई पूर्व छठी शती मे सस्कारित जैनधर्म के प्रति आकर्षित करने और उस वर्ग के अनेक प्रतिनिधियो का अपने मत मे लाने के लिए मिलते रहना पडा था।

महावीर-काल का विचार करते समय ऐसा अनुमान होना स्वाभाविक है कि कुछ स्थिति अच्छी होगी। परन्तु यहा भी जैन और बुद्ध धर्मशास्त्रो को एवम् कुछ अन्य दन्तकथाओ को छोडकर ऐसा कुछ भी नही मिलता है जिस पर हम विश्वास कर सके।[1] यह हमारा सौभाग्य ही है कि जैनशास्त्रो मे सत्य तथ्य और घटनाए सुरक्षित मिलती है जो छुटीछवाई और अशाश मे होते हुए भी इस काल के जैन इतिहास का सजीव चित्र हमारे नेत्रो के समक्ष प्रस्तुत करने को पर्याप्त हैं। पार्श्व की भाति ही महावीर भी उस काल के राजवशो से रक्त सम्बन्ध से सम्बन्धित थे। उनके पिता सिद्धार्थ स्वयम् बडे उमराव थे और ज्ञातृ क्षत्रिय वश के थे। उनका मुख्य निवास स्थान कुण्डपुर या कुण्डग्राम (कुण्डगाम)[5] था और जैनशास्त्रो मे जैसा वर्णन उनका किया हुआ मिलता है

1 हम नही कह सकते कि मजुमदार किन आधारो से पार्श्व के समय के जैनधर्म की सीमाओ की भौगोलिकता निश्चित की है। "उसका जैनधर्म" विद्वान लेखक कहता है कि "वगाल से गुजरात तक फैला हुआ था। मालदह और वोगडा जिला उसके धर्म के मुख्य केन्द्र थे। उसके धर्म मे आने वाले अधिकाशतया हिन्दुओ के निम्न वर्ग और अनार्य लोग थे ..। राजपूताने मे उसके अनुयायी वडे शक्तिशाली थे .."—मजुमदार वही और वही स्थान। 2 देखो याकोवी, सेवुई, पुस्त 22, पृ. 274। एव विहरतो भर्तु. सहस्रा. षोडशर्षय। अष्टात्रिशत्सहस्राणि साध्वाना तु महात्मानाम्॥...श्रावकाणा लक्षमेक चतु षष्ठिसहस्रयुक॥ श्राविकाणा तुत्रिलक्षी सहस्र सप्तविंशति। . —हेमचन्द्र, वही, श्लो 312, 314 315, पृ 219। देखो कल्पसूत्र, सुवोधिका—टीकासूत्र 161-164, पृ 130-131।

3 देखो हरनोली, उवासगदसाओ भाग 2, पृ 6 टिप्पण 8।

4 भारत का प्राचीन इतिहास आज भी हमारे पुरखो के उन नक्शो के समान ही है जिनमे 'भूगोलवेत्तानगरो के अभाव के कारण पथहीन वनो मे हाथी चित्रित कर देते थे' ..हालाकि जैनो ने अपनी दृष्टि ही से ऐतिहासिक के ज्ञात का तथ्यो से मेल वैठाना वडा ही कठिन है। श्रीमती स्टीवन्सन, वही, पृ 7।

5 मुजफ्फरपुर (तिरहुत) जिले की वैशाली (आधुनिक वसाढ) का ही यह दूसरा नाम है। वस्तुत. (कुण्डग्राम) जिसे आज कल वसुकुण्ड कहते है, प्राचीन वैशाली नगर का जो कि तीन भाग याने वैशाली(वसाढ) कुण्डपुर (वसुकुण्ड) और वाणियगाम (वाणिया) का था, एक भाग था! देखो, वही, पृ 107।

उसम लगता ह कि वह अपन कुल का नायक और किसी राज्य का चाहे वह छोटा हो या बडा राजा था ।[1] जसा कि हम आग देखेंगे वह एक एस प्रजासत्ताक राज्य का अधिकारी ही होगा कि जिसका मुख्य स्थान कुण्डपुर होगा । परन्तु तात्कालिक समाज म जो स्थान उसे प्राप्त था वह एक स्वतन्त्र राज्य क सामान्य अधिकारी की अपेक्षा विशिष्ट अर्थात स्वतन्त्र राज्यकर्ता के रूप मे ही वह जीवन विताता होगा ।[2]

सोलह महाजनपदो का विचार करत हुए हम ज्ञात होता है कि वज्जियो का राज्य जैन और बौद्ध दोनो ही धर्मो को मानता था । डा रायचौधरी कहता ह कि प्रो ह्रिस डेविडस और कनिघम क आधार पर वज्जियो का राज्य आठ सहकारी जातियो या कुलो का बना था जिसम विदेही, लिच्छवी नातक और वज्जि विशेष महत्त्व के थे । अन्य कुलो का ठीक से पहचाना नही जा सका है और भी इतना तो उल्लेखनीय है ही कि सूत्रकृताग के एक वाक्य म उग्र भोग इक्ष्वाकु और कौरव जातियो का नात और लिच्छवी जातियो क साथ ही राज्य की प्रजा और एक ही सभा क राज्यो क रूप म उल्लेख किया गया ह ।[3]

पश्चात म बौद्धो के विशिष्ट प्रमाणो क आधार पर डा प्रधान इस सहायकारी मण्डल म एक और जाति का भी समावेश करत हुए कहता ह कि वह नौ जातियो का बना हुआ सघ था । उनम की कितनी ही जातियो ह लिच्छवी वज्जि यान वज्जी ज्ञातक और विदेह । य सहायकारी मण्डल लिच्छिवी अथवा वज्जिक मण्डल क रूप म ही पहचान जाते थे क्योकि उन नौ जातियो म लिच्छिवी और वज्जि ही महत्व की थी । नौ लिच्छवी जातियो नव मल्लिक जाति और कासी कोसल क अठारह गण राजो क साथ सम्मिलित हो गई थी ।[3] विद्वान पण्डित के इस कथन का समथन जैनसूत्र भी करत ह ।[4]

डा याकोबी कहता है कि राजा चेटक न कि जिस पर चम्पा के राजा कुणिक न भारी सना के साथ धावा

---

1 कल्पसूत्र म महावीर की माता त्रिशला के स्वप्नो का अर्थ बतानेवाले को सिद्धार्थ ने रत्न समान अत्यन्त सुन्दर महल के मुख्य द्वार तक आना कहा गया ह । याकोबी वही प 245 । उसी सूत्र म एक अन्य स्थान पर सिद्धार्थ का महावीर जन्मोत्सव मनाने का वर्णन करत हुए कहा गया है कि उसन अपन दण्डनायको को कुण्डपुर नगर क सब बन्दियो को मुक्त कर देने माप और तोल को बडा कर देने आदि आदि की आज्ञाए दी । देखो वही पृ 252, हमचन्द्र वही पव 10 श्लो 128 132 प 16 ।

2 बार यद अन्तगडदसाओ और अनुत्तरोववाइयदसाओ प्रस्ता प 6 । डा याकोबी जनो की इस मूल मान्यता का कि कुण्डग्राम एक बडा नगर था और सिद्धार्थ एक शक्तिशाली राजा भण्डाफोड करने के लिए एक दूसरी अन्य कल्पना कर डाली है कि इस सबम यह स्पष्ट होता है कि सिद्धार्थ कोई राजा नहीं था वह अपन कबील का नायक भी नही था परन्तु बहुत सम्भव है कि वह ऐसे अल्प धनवाला वा प्रयोजना मात्र हो कि जाकी पूव क देशो मे भूस्वामियो और विशेषकर देश के मान्य अधिवशो क भूस्वामियो को सामान्यत प्राप्त था जात ह ।—याकोबी वही प्रस्तावना पृ 12 ।

3 रायचौधरी वही प 73-74 । उग्र और भोग क्षत्रिय थ । जनो की मान्यतानुसार उग्र उनके वशज थ कि जिन्ह ऋषभदेव प्रथम तीर्थकर न नगर कोतवाल रूप म नियुक्त किया था और भोग उनक वशज थ कि जिन्ह उनन सम्मान व अधिकारी रूप म माना था । —याकोबी सबुई पुस्त 45 प 71 टि 2 । देखो हरनाली वही परिशिष्ट 3 प 58 । 3 प्रधान वही प 215 ।

4 नव मल्लइ नव लच्छइ कासीकोसलगा अट्ठारसवि गणरायाणो -भगवती सूत्र 300 पृ 316 । देखो हमचन्द्र वही प 165 ।

बोला था, कासी, कोसल लिच्छवी और मल्लिक आदि अठारह सहायकारी राजो को बुलाकर पूछा था कि कुणिक की मागो को वे स्वीकार करना चाहते है अथवा उसके विरुद्ध युद्ध करेगे। इसके सिवा महावीर के निर्वाण प्रसग मे उपर्युक्त अठारह राजो ने प्रसगोचित उत्सव किया था।'[1]

इन सब बातो से स्पष्ट है कि उन सब सहायकारी मण्डलो का एक लक्षण यह था कि वे इनमे से अधिकाश महावीर और उनके उपदेश के प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव मे आ गए थे। वे सब धर्म मे जैन थे या नही यह कहना तो कठिन है, परन्तु इतना तो निश्चय है कि ये सब शाब्दिक सहानुभूति की अपेक्षा उनको कुछ अधिक गहरी सहायता करते थे।

पहले मण्डल विदेह का विचार करने पर जाना जाता है कि 'उसकी राजधानी मिथिला थी जिसको कितने ही नेपाल की सीमा मे आया 'जनकपुर' नामक छोटे से गाव के स्थान पर होना कहते है' परन्तु इन विदेहो का एक विभाग वेसाली मे आकर बस गया होना चाहिए महावीर की माता राजकुमारी त्रिशला जो विदेहदत्ता भी कही जाती है, प्राय. इसी विभाग की थी।[2] जैसा कि पहले कहा जा चुका है. जैनसूत्रो मे महावीर के विदेहो से सम्बन्ध के विषय मे यहा वहा छुटपुट उल्लेख मिलते है। आचारागसूत्र मे नीचे का उल्लेख है ' महावीर की माता के तीन नाम थे– त्रिशला, विदेहदत्ता और प्रियाकारिणी।"[3]

"उस समय मे, उस काल मे श्रमण भगवान् महावीर, ज्ञातृ क्षत्रिय, ज्ञातृपुत्र, विदेहवासी, विदेह का राजकुमार-विदेहे नाम से तीस वर्ष तक रहे थे।"[4]

"कल्पसूत्र मे लिखा है कि" श्रमण भगवान् महावीर..., ज्ञातृ क्षत्रिय, ज्ञातृ क्षत्रि के पुत्र, ज्ञातृवश के चन्द्रमणि विदेह, विदेहदत्ता का पुत्र, विदेह निवासी, विदेह का राजकुमार–विदेह मे जब कि उनके माता पिता का देहान्त हुआ तब तक तीस वर्ष रह चुके थे।"[5]

फिर जैनसूत्रो से नीचे लिखे तथ्य भी समर्थित होते है—1 विदेहो का एक कुल विदेह की राजधानी वैशाली मे आ कर बस गया था।[6] 2 त्रिशला देवी इसी विदेह कुल की थी और महावीर विदेहो के साथ गाढ सम्बन्ध से जुडे हुए थे। इतना होने पर भी पहले तथ्य को और भी अधिक स्पष्ट करना आवश्यक है। जैसे महावीर विदेही थे वैसे ही वे याकोबी के अनुसार, वैशालिक भी थे याने वैशाली-निवासी भी। इस प्रकार राजा सिद्धार्थ

---

1 याकोबी, सेबुई, पुस्त 22, प्रस्ता पृ 12। देखो वही, पृ 266, लाहा, वि. च समक्षत्रिया ट्राइब्स आफ एशेंट एण्डिया, पृ 1, रायचौधरी, वही, पृ, 128, भगवती, सूत्र 300, पृ 316, हेमचन्द्र, वही, वही स्थान, कल्पसूत्र, सुबोधिका टीका, सूत्र 128, पृ 121, प्रधान, वही, पृ 128-129, हरनोली, वही, भाग 2, परि. 2, पृ 59-60।

2 रायचौधरी वही पृ. 74 समणस्स ण भगवओ महावीरस्स माया...तिसला इवा विदेहदिन्ना इवा पीइकारिणी इ वा...। कल्पसूत्र सुबोधिका-टीका, सूत्र 109 पृ 89।

3 याकोबी, वही, पृ 193। 4 वही, पृ 194।

5 वही, पृ 256। 6 वही, प्रस्तावना पृ 11।

का कुण्डपुर या कुण्डग्राम लिच्छ के राजवश की राजधानी वैशाली के मुख्य भाग के सिवा और कुछ भी नही हो सकता है ।[1]

महावीर और विदेहा के बीच उपस्थित प्रगाढ सम्बन्ध के इन सब उल्लेखो के अतिरिक्त भी जैन शास्त्रो की अनेक बातें इसका समर्थन करता है कि विदेही जनधर्म म अच्छा रस लेते थ राज ज्योतिषी नाम के विषय मे उत्तराध्ययनसूत्र कहता है कि—

नमी नमेइ अप्पाणं सक्खं सक्केण चोइग्रो ।
चइऊण गेह च वदेहि सामण्णं पज्जुवट्ठिओ ॥

अर्थात् नमि ने अपने को नम्र बना लिया, शक्र द्वारा प्रत्यक्ष म प्रार्थना किए जाने पर विदेह के इस राजा न गृह का त्याग कर दिया और श्रमणत्व स्वीकार कर लिया ।[2]

फिर कल्पसूत्र म भी हम जानते है कि विदेह की राजधानी मिथिला म महावीर न छह चतुर्मास किए थ । यह बात प्रकट करती है कि महावीर का विदेहो के साथ गाढ सम्बन्ध था । संक्षेप म उनके विषय म जो कुछ भी हम जान पाए हैं इससे यह स्पष्ट है कि सारे ही नही तो विदेहियो का प्रमुख अंश तो जनधर्म अनन्य ही पालता होगा ।

लिच्छवियो का विचार करने पर हम देखते हैं कि ई पूर्व छठी सदी म पूर्व भारत म वह एक महान् और शक्ति सम्पन्न जाति थी । फिर यह भी इन्कार नही किया जा सकता है कि ज्ञातृको के साथ ये भी महावीर के व्यक्तित्व के प्रभाव म अवश्य ही आना चाहिए थ । उनकी माता त्रिशला क्षत्रिया की लिच्छवी जाति के वैशाली के राजा चेटक की बहन थी[3] और पिता की ओर से महावीर स्वयम् ज्ञातृक थ ।

यहा एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि त्रिशला लिच्छवी जाति की राजकुमारी थी तो उसको विदेहदत्ता नाम दिया जाना कुछ समझ म नही आता है ।[4] इसका समाधान कदाचित यह हो सकता है कि विदेह के नाम से पहले से सुप्रसिद्ध प्रदेश की होने के कारण ही वह विदेह दिन्ना कही जाती होगी और जैसा कि हमने अभी देखा कि विदेह की राजधानी वैशाली थी । डा रायचौधरी के शब्दो म कहे तो विदेह राजवश के अध पतन के

---

1 सम्भवत कुण्डग्रामविदेह की राजधानी वैशाली का तब उपनगर ही कदाचित था । यह कल्पना महावीर का वेसालिए या वेसालिक नाम जो कि सूत्रकृताग 1 3 म उद्धृत दिया गया है का समर्थन करता है । टीकाकार ने इस पाठ का दो प्रकार म समझाया है और एक अन्य स्थल पर इसकी तावरी भी व्याख्या या अर्थ किया है । वेसालिए का सामान्यत अर्थ वैशाली का निवासी ही होता है और महावीर सच्चे अर्थ म वैसा कहा जा सकता था जब कि कुण्डग्राम वैशाली का ही एक उपनगर था । जैसा कि इन्हम ग्रीन का निवासी लन्दनी कहा जा सकता है । –याकोबी वही और वही स्थान ।

2 उत्तराध्ययन सूत्र, अध्या 9 गाथा 61 । देखा वही गाथा 62 अध्या 18 गाथा 45 (याकोबी का अनुवाद सबुई पुस्त 45 प 41 87) । नमि की दतकथा के पूर्ण विवरण के लिए देखो मेयर ज ज हिन्दू टेल्स प 147 169 । 3 याकोबी कल्पसूत्र प 113 ।

4 अनेक पण्डितो के अनुसार चेटक लिच्छवी था । परन्तु उसकी भागनी के अन्य नाम (विदेहदत्ता) और पुत्र (वदेही) सम्भवत संकेत करते है कि वह वैशाली का निवासी हो जाने के कारण विदेही था । –रायचौधरी वही प 78 टि 2 ।

यहस्पष्ट पश्चात् वज्जियो का सगठन हुआ होगा । इस प्रकार भारत की उत्क्रान्ति गीरा के प्राचीन नगरो की उत्क्रान्ति के अनुरूप ही हुई दीखती है जहा कि वीर युग की राजसत्ताए प्रजासत्ताक के रूप मे परिवर्तित हो गई थी ।[1]

एक दूसरी दन्तकथा पर से भी यह कल्पना हो सकती है कि विदेह के अवः पतन के पश्चात उसमे एक विभाग लिच्छवी कहलाता हो ।[2]

इस प्रकार त्रिशला राजकुमारी होते हुए भी विदेहदत्ता कही जाती हो तो उसमे कुछ भी अस्वाभाविकता नही है । इस त्रिशला का लग्न सम्बन्ध सिद्धार्थ के साथ हुआ था जो कि जैन मान्यतानुसार महावीर के पुरोगामी पार्श्व-नाथ का अनुयायी था । इससे स्वाभाविक ही यह अनुमान हो सकता है कि या तो लिच्छवी का राजवश जैनधर्म पालता था अथवा सामाजिक परिस्थिति ऐसी थी की वह अपनी कन्या दूसरे जैनवश मे दे सकता था । इस विशेष प्रसग से यही फलित होता है कि लिच्छवियो को जैनो के लिए विशेष मान था । परन्तु जैनो की साहित्यिक और ऐतिहासिक दन्तकथाए ऐसे एक ही प्रसग मे समाप्त नही हो जाती है क्योंकि हम आगे चलकर देखेगे ही की राजा चेटक[3] की सात कन्याओ मे से सबसे छोटी पुत्री चेल्लणा जो वैदेही भी कहलाती थी, मगध के महान शैशुनाग बिबसार को ब्याही थी और वे दोनो ही जैन थे ।[4]

चेल्लणा के अतिरिक्त चेटक के छह पुत्रिया और थी जिनमे से एक साध्वी बन गई थी और शेष पाच पूर्व भारत के एक या दूसरे राजवश मे व्याही गई थी । यह तथ्य कितने अश मे ऐतिहासिक माना जा सकता है वह हम कुछ भी नही कह सकते है । परन्तु आधुनिक खोजो के परिणाम स्वरूप लिच्छवियो के साथ सम्बन्ध रखनेवाले सब राजवश सम्पूर्ण रूप से पहचाने जा सके, ऐसे है । इन लिच्छवी राजकन्याओ के नाम इस प्रकार है—प्रभावती, पद्मावती, मृगावती, शिवा, ज्येष्ठा सुज्येष्ठा और चेल्लणा ।[5]

इनमे सब से बडी प्रभावती वीतभय नगर के राजा उदयन को व्याही थी जिसका उल्लेख जैन साहित्य मे सिन्धु सोवीर देश की राजधानी रूप मे किया गया है ।[6] देश के किस भाग के लिए ये साहित्यिक उल्लेख हुए है

---

1 वही, पृ 76 ।

2 बौद्ध के समय मे ही नही परन्तु उसके बाद भी कई सदियो तक वैशाली निवासी लिच्छवी कहलाते रहे थे, और त्रिकाडकोश मे लिच्छवी, विदेही और तिरभुक्ति पर्यायवाची ही कहे गए है । कनिंघम, वही पृ 509 ।

3 वेसालिओ चेडओ...सत्त धूयाओ ..आवश्यकसूत्र, पृ 676 ।

4 बिंबसार के एक पुत्र का नाम पाली धर्मग्रन्थो मे वैदेहीपुत्त अजातशत्रु और जैनागमो मे कुणिक कहा गया है । बाद की दन्तकथाओ मे बौद्ध उसे कोसल देवी का पुत्र बताया गया है, जबकि जैन दन्तकथा उसे चेल्लणा का पुत्र कहती है जिसका प्राचीन बौद्ध धर्मग्रन्थ विदेह राजकुमारी का पुत्र वेदेहीपुत्त कहते समर्थन करते है । ह्रिस डेविड्स, कैंहिइ, भाग 1, पृ 183 ।

देव्या चेल्लणया सार्धमपराह्लेन्यदा नृप ।
वीर समवसरणस्थित वन्दितु मन्याणात् ॥
वन्दित्वा श्रीमदर्हन्त वलितौ तौ च दपति । हेमचन्द्र, वही, श्लो 11-12, पृ 86 ।

5, आवश्यकसूत्र, पृ 676, हेमचन्द्र, वही, श्लो 187 पृ 77 ।

6 सिंधुसोवीरेसु...वीतीभए नगरे.. उदायणे नाम राया...तस्स.. प्रभावती नाम देवी । भगवती, सूत्र 491, पृ 618 । देखो आवश्यकसूत्र, पृ 676, हेमचन्द्र, वही, श्लो 190, पृ 77, सिन्धुसोवीरदेशे स्ति पुर वीतभयाव्हयम् । वही, श्लो 327, पृ 147, मेयेर, जे जे, वही, पृ 97 ।

निर्देश नहा किया जा सकता है क्योंकि भिन्न भिन्न प्रमाणा के आधार पर भारत के उत्तर पश्चिम अथवा पश्चिमी प्रदेशा म इसका हाना माना गया ह ।कनिंघम इस खभात की खाड़ी के ऊपर का ईडर या बदरा प्रात होना कहता है ।[1] डा ह्रिस डविडस कनिंघम का कुछ कुछ समथन करता ह और सोवीर का अपन नक्श म काठियावाड के उत्तर मे कच्छ की खाडी की ओर बताता है ।[2] एलबरूनी उस मुलतान और मालावाड कहता है और श्री दे इस मत को स्वीकार करता है ।[3] प्रान्तर म जन दन्तकथाए इसके विषय म एसा कहती हैं —श्री अभयदेवसूरि भगवती सूत्र की अपनी टीका म इसकी व्याख्या यो करते हैं—सिंधुनद्या आसन्ना सौवीरा जनपदविशेषा सिंधुसौवीरस्तेषु विगता ईतयोभयानि च यतस्तद्वीतिमय विदर्भति कश्चित् ।[4]

उत्तराध्ययनसूत्र म से श्री मेयर की अनूदित्त उदायन की कथा म वीतमय के लिए इस प्रकार लिखा है—सिंधु और सौवीर के प्रदेशा म को वीतमय नगर म उदायन नाम का राजा था ।

शत्रुजय माहात्म्य उसको सिंधु या सिंध मे बताता है । [5]

इन सब अनुमाना से एसा लगता है कि वह प्रदेश मालवा की उत्तर पश्चिम के राजपूताना और सिंधु नदी के पूर्व तट पर आए सिंध के विभाग से बहुत कुछ मिलता हुआ होगा । यह इसस भी सबूत होता है कि अवन्ती के राजा के विरुद्ध किए युद्ध म उदायन मारवाड और राजपूताना के रेगिस्तानो म होकर ही गया था जहा कि उसकी सेना प्यास स मरने लगी थी

इन सब अनुमाना के अतिरिक्त भी हम वराहमिहिर के किए भारतवर्ष के विभागो म सिंधु सौवीर देश के विषय म यह बात मिलती है कि जिन नौ विभागो म देश तब बटा हुआ था उनम स ही यह एक था ।[8] इसस प्राप्त होने वाली ऐतिहासिक और भौगोलिक विज्ञप्ति कितने ही अश म जन आधारो का प्रमाणिक ठहराती है कि जो यह कहता है कि वीतमय सहित उदायन अ य 363 गावो का राजा था ।[9] फिर ई 12 वी सदी मे होन

---

1 कनिंघम वही पृ 569 ।

2 ह्रिस डविडस बुद्धीस्ट इण्डिया पृ 320 के सामने का नक्शा ।

3 सचाउ अल्बरूनीज इण्डिया भाग 1 पृ 302 देखो दे, वही पृ 183 ।

4 भगवती सूत्र 492 पृ 320–321 ।

5 मेयर ज ज वही पृ 97 । उत्तराध्ययन के कथानक के लिए देखो लक्ष्मीवल्लभ की दीपिका (धनपतसिंह संस्करण), पृ 552 561 । 6 देखो दे वही पृ 183 ।

7 ‘तत्रस्था च मरु स्कन्धावारस्तृषा मृतु मारेभ ।–आवश्यकसूत्र पृ 299 । देखो मेयर ज ज वही, पृ 109 । यहा यह भी कह देना चाहिए कि बौद्ध दन्तकथाओ के अनुसार, सौवीर की राजधानी रोरुक थी । देखो कहिद भाग 1, पृ 173 दे वही पृ 170 । कनिंघम के अनुसार रोरुक सिंध का प्राचीन नगर आलोर ही सम्भवतया था । —कनिंघम वही पृ 700 ।

8 वराहमिहिर प्रत्येक खण्ड का वर्ग कहता है । उसका कथन है कि उनस (वर्गों स) भारतवर्ष यानि आधा ससार नौ खण्डो म विभाजित हो गया है । चन्द्रवश पूर्वी वर्ग आदि आदि —सचाउ वही पृ 297 । देखो वही पृ 298-302 कनिंघम, वही पृ 6 । इस योजनानुसार सिंधु सौवीर का पश्चिम का प्रमुख जिला था परन्तु वराहमिहिर के इस वर्णन और उसकी विगत म कुछ अन्तर है क्योंकि विगत म सिंधु सौवीर को दक्षिण पश्चिम म आनत के साथ रखा गया है । —वही पृ 7 ।

9 वीतभयादिनगरसिंधुप्रष्टित्रिशताप्रभु —हेमचन्द्र क० श्लो 328 पृ 147 । ‘यह राजा उदायन सिंधु सौवीर वगैरह 16 देशो और वीतभयनगर को लेकर 363 नगरो का अधिपति था ।’ —मेयर, वही पृ 97 ।

वाले कुमारपाल राजा के चरित्र पर से हमे पता लगता है कि उसके कार्यकाल मे वह एक जैन प्रतिमा[1] वहा से पाटण[2] मे लाया था कि जो हेमचन्द्राचार्य के कथनानुसार उदायन के समय से वीतमय के खण्डहरो म पडी हुई थी ।[3]

सिन्धु-सौवीर देश और उसके वीतमय-नगर के विषय मे इतना ही कहना पर्याप्त है । अब उसके शासक उदायन के विषय मे ऐतिहासिक अनुमानो का विचार करे हालाकि वे बहुत ही कम है । डॉ रायचौधरी कहते है कि "लौकिक दन्तकथाओ के जाल मे से ऐतिहासिक तत्व का निकाल पाना कठिन है ।"[4] फिर भी यह स्वीकार करना ही उचित है कि बहुत थोडे तथ्य ही ऐसे है कि जो जैन साहित्य मे से मिल जाते है और जिनका इतिहासवेत्ताओ को ध्यान मे लाना कुछ अश मे उचित है । जैन साहित्य के अनुसार सौवीर देश के उदायन ने अपने आश्रित अवन्ती के चण्डप्रद्योत राजा को लडाई मे हराया था ।[5] यह चण्डप्रद्योत एक ऐतिहासिक पुरुष है और इसके विषय मे हम चेटक की चोथी पुत्री शिवा के पति कि हेसियत से विस्तार के साथ आगे विचार करेगे । फिर हम यह भी जानते है कि उदायन के पश्चात् उसका भानजा केसी राजा हुआ था जिसके राज्यकाल मे वीतमय का सर्वथा नाश हो गया था ।[6] यह कहना कठिन है कि यह सब कपोलकल्पित ही है अथवा इसका यही कारण है कि हमे देश के इस महा भू-भाग के इतिहास का पता कोई भी नही लग रहा है हालाकि हम विश्वस्त प्रमाणो से यह जानते ही है कि एक समय वह भारतवर्ष के नव-वर्गो मे का एक था ।

उदायन और उसकी रानी प्रभावती के जैनधर्म के प्रति झुकाव के विषय मे हमारे सामने विश्वस्त जैन सिद्धात शास्त्रो के, प्रत्यक्ष और परोक्ष, सभी प्रकार के प्रमाण है जिन पर हम अपनी धारणा बाध सकते है । एक

---

1 अनहिलपट्टण, वीरावलपट्टण जिसे गुजरात मे उत्तर का बडोदा कहा जाता है, वल्लभी के विनाश के बाद म 802–ई 746 मे वनराज या वजराज द्वारा बसाया गया था । नगर के अनहिल पाटण इसलिए कहा गया कि इसका स्थान एक गोवाल याने अहीर द्वारा बताया गया था .. –हेमचन्द्र, सुप्रसिद्ध वैयाकरण और कोशकार, अनहिलवाड के राजा कुमारपाल (ई 1142–1173) के दरबार मे चमका था और उसका धर्मगुरु था । 84 वर्ष की आयु पाकर इनका देहान्त ई 1172 मे हुआ था कि जिस वर्ष कुमारपाल ने जैनधर्म स्वीकार किया था । परन्तु अन्य प्रमाणो से यह धर्म परिवर्तन ई. 1159 मे हुआ था । 8वी सदी मे वल्लभी के पतन पश्चात् अनहिलवाडपाटण गुजरात का मुख्यनगर हुआ और वह 15वी सदी के अन्त तक यह स्थान भोगता रहा था ..-दे, वही, पृ 6 । 2 जयसिहसूरि, कुमारपाल-भूपाल-चरित-महाकाव्य, सर्ग 9, श्लो 261, 265, 266 ।

3 उदायने शिवगते...। तदेव प्रतिमा । भविष्यति.. भूगता ।। राज कुमारपालस्य ..पुण्येन...। खन्यमानस्थले मक्षु प्रतिमाविर्भविष्यति ।। –हेमचन्द्र, वही, श्लो 20, 22, 83, पृ 158, 160 ।

4 रायचौधरी, वही, पृ. 123 । दन्तकथानुसार दोनो मे यह युद्ध इसलिए हुआ था कि चण्डप्रद्योत उसकी एक दासी और एक जिनप्रतिमा अपहरण कर लाया था । "इसलिए उसने पज्जोय के पास दूत भेज कर कहलाया कि "मुझे दासी की परवाह नही है, परन्तु वह मूर्ति उसे लोटा दे ।" परन्तु प्रद्योत ने ऐसा नही किया.. । उदायन ने तुरन्त दस राजाओ को साथ लेकर उस पर धावा बोल दिया । ...जब पज्जोय सामने आया तो उदायन ने उसे बदी बना लिया ।" –मेयेर, जे जे, वही, पृ 109, 110 देखो आवश्यकसूत्र, पृ 299 भी ।

5 उदायनो राजा गत उज्जयिनो प्रद्योतो बद्धो ।-वही, पृ 298-299 । देखो हेमचन्द्र, वही, श्लो 508, पृ 156 ।

6 तएण से केसीकुमारे राया जाए...–भगवतीसूत्र, सूत्र 491, पृ 619 । "जब वह उदायन मरा तो एक देव ने नगर पर धूलि की वर्षा गिराई...आज भी वह नगर दबा पडा है । –मेयर जे जे, वही, पृ 115-116 ।

थान पर ता लिच्छवी राजकुमारी प्रभावती जिनप्रतिमा का पूजन करने के पश्चात् कहती है कि ,राग द्वेष ग्रौर मोह रहित सर्व ग्रष्टसिद्धियुक्त देवाधिदेव ग्रर्हत् भगवान् मुझे ग्रपने प्रिय दर्शन देने की कृपा करें।'[1] इससे प्रकट है कि सौवीर की राजमहिषी जनधर्म के प्रति कितना ग्रधिक सम्मान रखती थी। फिर उत्तराध्ययन एवं अन्य सूत्रग्रन्थों से हमें पता लगता है कि राजा भी जनधर्म का कुछ कम भक्त नहीं था[2] हालांकि मूलतः वह ब्राह्मण तापसों का भक्त था।[3] इतना ही नहीं परन्तु वह संसार त्याग करने की सीमा तक पहुंच गया था।[4] और जब स्वयं पुत्र ग्रभी के राज्याभिषेक का प्रश्न उसके समक्ष उपस्थित हुग्रा तो उसने विचार किया कि 'यदि मैं ... अनुसार ग्रभी को राज्यशासन देकर संसार त्याग करता तो ग्रभी राजसत्ता ग्रौर राज्यमोह से ... ... रहेगा ग्रौर ग्रनादि ग्रनन्त संसारचक्र में ... परिभ्रमण करेगा। इससे तो मैं ग्रपनी बहन के पुत्र केशी को राजपाट देकर संसार त्याग करूं तो ग्रधिक ग्रच्छा रहेगा।'[6]

उपरोक्त घटना ... उत्तराध्ययन के ग्रन्त ... परिचय दिया जा सकता है। ... उसका संसारत्याग ... ... हो गया है। ग्रतएव ... ग्रावश्यक ... उदायन के विषय में इस प्रकार ... कि फिर राजा उदयन ने उसी प्रकार संसार का त्याग किया जैसा कि उदायन ने किया था। ग्रन्तर इतना मात्र था कि उसने ग्रपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य कारबार सौंपा था।'[7] यहां यह कह देना ग्रावश्यक है कि इस पर टिप्पणी ... ... भूल से यह लिखा है कि वैशाली के राजा चेटक की पुत्री मृगावती से उत्पन्न हुए शतानीक के पुत्र कौशाम्बी के राजा उदयन का उक्त प्रसंग में निर्देश है।[8]

इसके सिवा, युद्धबन्दी चण्डप्रद्योत के प्रति उदायन का किया बर्ताव भी उसकी जनधर्म में ग्रनन्य श्रद्धा प्रमाणित करता है क्योंकि उसने पर्यूषणापर्व में घोरातिघोर वैरभाव त्याग कर क्षमा करने की जनधर्म की शिक्षा का तत्परता से पालन किया था।[9] यह घटना इस प्रकार है। पर्यूषणापर्व में उदायन का उस दिन उपवास था। परन्तु चण्डप्रद्योत को उसकी इच्छानुसार भोजन देने की उसने उचित व्यवस्था कर दी थी। जब भोजन चण्डप्रद्योत को दिया गया तो उसने विष के भय से उसके ही लिए बनाया गया भोजन करने से यह कह कर इन्कार कर दिया कि उसे भी जैन होने के कारण उदायन की ही भांति उपवास है। जब उदायन को सूचना

---

1 वही, पृ 105। 2 प्रभावत्या ग्रन्तःपुरे चैत्यगृहं कारितं ... भक्त्या ... ग्रावश्यक सूत्र, पृ 298। देखो मेयर ज ज वही वही स्थान हेमचन्द्र वही श्लो 404 प 150।

3 मेयर वही पृ 103। स च तापसभक्तः ग्रावश्यकसूत्र, पृ 298 हेमचन्द्र वही श्लो 388 पृ 149।

4 ... उदायणे राया ... भगवती सूत्र 492 प 620 मेयर वही प पृ 114। 5 सौवीर के राजों में वृषभ समान राजा उदायन ने संसार त्याग कर भगवती ... ली थी ग्रौर यह सिद्ध बुद्ध ग्रौर मुक्त हो गया। याकोबी सेबुई पुस्त 45 पृ 87। इसी स्थान पर ... टिप्पण में डा याकोबी लिखता है कि वह महावीर का समकालिक था। वही।

6 वही पृ 113–114। ... ग्रभीयीकुमारं ... ... भगवती, सूत्र 491, पृ 619। 7 चारपेंटर वही पृ 96। 8 वही प 96 टिप्पण 2।

9 भण्डारकर, ई 1883–1884 की प्रतिवेदन प 142 ... पर्यूषणा ... पर मनाया जाने वाला धार्मिक समारोह। देखो श्रीमती स्टीवन्सन वही पृ 76 ... कल्पसूत्र सुबोधिका-टीका सूत्र 59, प 191–192।

दी गई तो उमने कहा कि 'मै जानता हू कि वह धूर्त है। परन्तु जहा तक वह मेरा वन्दी है, वहा तक मेरी पर्यु-षरणा भी पवित्र और मगलकारी नही कही जा सकती है।'[1]

अब पद्मावती के विषय मे विचार करे। इसका विवाह जैनधर्म के एक ममय के केन्द्र स्थान[2] रूप मे प्रसिद्ध चम्पानगरी के राजा दधिवाहन से हुआ था।[3] आवश्यकसूत्र की टीका मे हरिभद्रमूरि स्पष्ट ही कहते है कि राजा दधिवाहन और रानी पद्मावती दोनो ही जैनधर्म के महान् उपासक थे। जैन इतिवृत्तो मे चम्पा को जितना ऐतिहासिक महत्व दिया गया है उसको देखते हुए यह मानना अनुचित नही है कि दधिवाहन का सारा ही कुटुम्ब जैनधर्म के सिद्धान्तो मे सक्रिय रस लेता था।[4]

"जैन दन्तकथानुसार इसका ममय ई पूर्व छठी सदी ह। उसकी पुत्री चन्दना अथवा चन्दनवाला ने महावीर के केवलज्ञान प्राप्ति के वाद ही स्त्रियो मे सबसे पहले जैन दीक्षा उनसे स्वीकार की थी।"[5] जैन वर्णनात्मक और अन्य साहित्य महावीर की इस सर्व प्रथम साध्वी की कथा मे भरा हुआ है। वर्धमान के समय की स्त्री साध्वियो और श्राविकाओ की अग्रणी यही थी।[6] उसकी जीवनी मे जुडी हुई राजनीति वात इस प्रकार है। जव कोसाम्वी के राजा शतानीक ने दधिवाहन की राजधानी चम्पा पर धावा वोला, चन्दना एक लुटेरे के हाथ पड गई, परन्तु वह निरन्तर अपने व्रत का पालन करती ही रही थी।"[7] रायचौधरी का यह वक्तव्य जैन कथानको पर ही अवलम्बित है और चन्दना की पूरी कथा सक्षेप मे इस प्रकार है उसके पिता और राजा शतानीक मे हुए युद्ध के समय मे वह दुश्मन के किसी सैनिक के हाथ पहले पड गई। इसने उसे कोसाम्वी के सेठ धनावाह को वेच दिया और सेठ ने उसका नाम चन्दना रख दिया हालाकि पिता का रखा हुआ उसका नाम वसुमति था। कुछ ही दिनो वाद इस धनावह सेठ की पत्नि मूला उससे डाह करने लगी और इसलिए उसने उसके केश काट

---

1 देखो भण्डारकर, वही और वही स्थान मेयेर, जे जे, वही, पृ 110-111, कल्पसूत्र, सुबोधिका टीका सूत्र, 59 पृ 192। अद्य पर्युषणा, राजापोषित, स भणति-अहमप्पुपोषित, ममापि माता-पितरौ सयतो, आदि। आवश्यकसूत्र, पृ 300।

2 दत्ता पद्मावती चम्पाया दधिवाहनाय। —वही पृ 676, 677। देखो मेयेर, जे जे, वही, पृ 122।

3 देखो दे, वही, पृ 44, दे, वगाल एशियाटिक सोसाइटी पत्रिका, नई माला, स 10, 1914, पृ 334।

4 हरिभद्र कहते है कि राज्य का भार अपने पुत्र करकण्ड को सौप, राजा और रानी दोनो ही ने जैनधर्म दीक्षा ले ले ली थी। पद्मावतीदेवी.. दन्तपुरे आर्याणा मूले प्रव्रजिता, ...द्वे अपि राज्ये द्रधिवाहनस्तस्मैदत्वा प्रव्रजित करकण्डूर्महाशासनो जात ... —आवश्यकसूत्र पृ 716, 717, 718। यही भी कहा जाता है कि कारकण्ड ने भी अपने पिता की तरह ही, अन्त मे दीक्षा ले ली थी। देखो वही, पृ 719। करकण्ड और उसके माता पिताओ के सम्वन्ध की अधिक जानकारी के लिए देखो मेयेर, जे जे वही, पृ 122-136 शात्याचार्य, उत्तराध्ययनसूत्र—शिष्यहिता, पृ 300-303, लक्ष्मीविलास उत्तराध्ययनदीपिका, पृ 254-58।

5 रायचौधरी वही, पृ 69। देखो दे, वही पृ 321।

6 समणस्स भगवओ महावीरस्स अज्जचदणापा मुक्खाओ छत्तीस अज्जियासाहस्सीओ...हुत्था। —कल्पसूत्र, सुवोधिका—टीका, सूत्र 133, पृ 123। देखो दे, वही, पृ वही।

7 रायचौधरी वही, पृ 69। देखो वही, पृ 84। "विवसार के राज्य मे मिला लेने के कुछ वर्ष पूर्व ही चम्पा को कोसाम्वी के राजा शतनीक राय ने अधिकार मे लेकर नष्ट किया था।" —प्रधान वही पृ 214।

वर एक कोठड़ी म बन्दी कर लिया। इसी बन्दी अवस्था म एक बार उसन महावीर को अपन आहार म स ही आहार दिया था और अत म वह उनकी साध्वी बन गई थी।[1]

चटक की सामरी पुत्री मगावती थी। परन्तु इसका विचार करन क पूव जन इतिहास की दृष्टि स चम्पा क विषय म कुछ कहना अप्रासंगिक नही होगा। अभी यह नगर भागलपुर क निकट थोडी ही दूर पर है और इसका उल्लेख चम्पपुरी चम्पानगर मालिनी और चपामालिनी आदि नामो म मिलता है।[2] जन इतिहास म इसकी उपयोगिता स्वयम् सिद्ध है क्योकि हम पता ह कि महावीर न अग की राजधानी चपा और उसक उपनगर पृष्ठ चपा म चतुर्मास बिताए थ फिर जैनो क बारहवें तीथकर श्रीवासु पूज्य की जम और निर्वाण भूमि भी यही कही जाती ह। चम्पा और उसक पिता क मुख्य नगर और जनधम क प्रमुख केन्द्र क रूप म भी यह जनो म प्रख्यात ह। यहा दिगम्बर और श्वताम्बर दोनो ही सम्प्रदायो क वासुपूज्य एवम् अय तीथकरो की मूल मूर्ति सहित प्राचीन और प्रभावान मन्दिर यहा देख जात ह।[3] उवासगदसाओ और अन्तगडदसाओ म उल्लेख ह कि महावीर के निर्वाण पश्चात् उनक ग्यारह गणधरो म स एक सुधम क समय म चम्पा म पुण्णभद्द नाम का एक चैत्य था।[4] जन सम्प्रदाय के युगप्रधानाचाय श्री सुधर्मास्वामी कुणिकअजातशत्रु क समय म चम्पा म आए थ तब नगर क बाहर उनक निवास स्थान पर दशन करन क लिए कुणिक नगे पाव पहुचा था। सुधमा क अनुगामी जम्बू और उनक अनुगामी प्रभव उनक अनुगामी शय्यभव जो इस नगर म रह थे और यहीं स शय्यभव न पवित्र जनसिद्धान्तो का सार रूप दस-अध्ययनवाला दशवकालिकसूत्र रचा था।[5]

बिबिसार के मृत्योपरान्त कुणिक अजातशत्रु न चम्पा को ही अपनी राजधानी बना लिया था। परन्तु उसकी मृत्योपरान्त उसक पुत्र उदायी न अपनी राजधानी पाटलीपुत्र म बदल ली थी।[6] चपक श्रेष्ठि क रास नाम क जनग्रन्थ म मालूम होता ह कि यह नगर बहुत ही समृद्ध था। इसकी प्रारम्भ की पक्तियो म यहा की जातियो और धधो क नाम आत ह। यहा सुगधी द्रव्य विक्रेता मसाले विक्रेता, शक्कर विक्रेता जौहरी चमड़ार (चमानवाल) हार बनानवाल सुनार बुनकर और धोबी थ।[7]

---

1 देखो कल्पसूत्र सुबोधिका-टीका सूत्र 118 पृ 106 107। देखो आवश्यकसूत्र 223 225 हमचन्द्र वही, पृ 59 62, चम्पा के विशेष विवरण क लिए देखो कारपेटर वही पृ 99 100 102 106।

2 देखो द ज्योग्राफिकल डिक्शनरी आफ ए शेंट एण्ड मडीवल इण्डिया प 44 कनिंघम वहा पृ 546 54 722 723। आज भागलपुर क पास गगा नदी पर का चपापुर का गाव ही यह ह। प्राचीन काल म आधुनिक भागलपुर जिला जिसे कहत ह उसी का अग देश कहा जाता था और यह चपा उस देश की राजधानी थी।

3 देखो वही पृ 44-45। अजमेर क किसी प्राचीन जन मन्दिर क पडोस म खनित कुछ जन मूर्तियो क लखो स मालूम होता है कि य मूर्तिया वासुपूज्य मल्लिनाथ पार्श्वनाथ और वधमान की 13 वी सदी म प्रतिष्ठित हुई थी यानि वि स 1239 स 1247 तक म। वही प 45 देखो बगाल एशियाटिक सोसाइटी पत्रिका भाग 7 पृ 52।

4 हरनोली वही, भाग 2 प 2 टिप्पण। नि भन्दह जम्बू उन दिनो म चम्पा नामक एक नगर था पुण्णभद्द-चैत्य कारपेटर, वही पृ 97-98 100। देखो वही और वही स्थान।

5 देखो वही और वही स्थान। अयदाधीशस्तत्र सुधमा। जगाम चपा ॥ तत्र कणिक श्रावका॥ सुधमस्वामिन दूरादूरादपि नमो करोत् ॥ हमचन्द्र परिशिष्टपर्व सग 4, श्लो 1 9 33 35।

6 वही सग 6, श्लो 21 आदि। 7 देखो वही और वही स्थान।

अब मृगावती की बात कहें। चेटक की तीसरी इस पुत्री का विवाह कोसाम्बी[1] के राजा शतानीक[2] से हुआ था और वह विदेह की राजकुमारी के नाम से प्रख्यात थी।[3] विनयविजयगणि कल्पसूत्र की सुबोधिका टीका में कहते हैं कि 'जब महावीर कोसाम्बी आए तो उस देश में शतानीक राजा मृगावती और रानी थी।[4] राजा और रानी दोनों ही महावीर के अनन्य भक्त थे यह भी जैन साहित्य से प्रमाणित होता है। जिस कुटुम्ब के वातावरण में उसका पोषण व वर्धन हुआ था उसको देखते हुए मृगावती से स्वाभाविक ही ऐसी आशा रखी जा सकती थी।[5] इतना ही नहीं अपितु जैन दन्तकथा स्पष्ट ही कहती है कि राजा का आमात्य और उसकी पत्नि भी जैनधर्मी थे।[6]

दधिवाहन और शतानीक में हुए युद्ध का वर्णन किया ही जा चुका है। ऐतिहासिक महत्व की दूसरी बात जैन साहित्य से यह मिलती है कि "उसका पुत्र और अनुगामी बिंबसार का समकालिक उदायन था।"[7] डॉ प्रधान कहता है कि "उदायन के पितामह का सहस्रणीक नाम भास ने सहस्रानीक और पुराणों में वसुदामन दिया है। यह सहस्रानीक बिंबसार का सममयी था और महावीर का धर्मोपदेश उसने सुना था। जैन उसे सानीक कहते हैं जो सहस्रानीक का ही सक्षेप रूप है और संस्कृत सहस्राणीक का प्राकृत रूप। सतानीक ही पुराणों का वसुदामन है और उसे शतानीक 2 य का नाम का एक पुत्र था। उदायन इसी शतानीक 2 य पुत्र था।"[8]

जैनों के पांचवें अंगसूत्र भगवती का पूरा-पूरा समर्थन इस बात में विद्वान डॉक्टर को मिलता है।[9] हम यह भी उससे जानते हैं कि शतानीक की बहन जयन्ति भी महावीर की दृढ अनुयायिनी थी।[10] उदायन, उसके श्वसुर

---

1 शतानीक ही परतप भी कहा जाता था। देखो ह्रिस डेविड्स, वही, पृ 3।

2 'कोसाम्बी, कोसाम्बीनगर अथवा कोसम, जमना के वाम तटस्थित प्राचीन गांव जो कि इलाहाबाद से पश्चिम में लगभग 30 मील दूर पर स्थित है।' दे, वही, पृ 96।

3 'शतानीक...ने विदेह की राजकुमारी से विवाह किया था क्योंकि उसका पुत्र वैदेहीपुत्र कहा जाता था।' रायचौधरी, वही, पृ 84। देखो लाहा, वि च, वही, पृ 136।

4 प्रधान, वही, पृ 250। तत क्रमेण कोशम्ब्या गतस्तत्र शतानीको राजा मृगावती देवी। कल्पसूत्र, सुबोधिका टीका, सूत्र 118, पृ 106।

5 महावीर, केवलज्ञान प्राप्ति के पूर्व भ्रमण करते हुए एक बार कोसाम्बी पहुंचे थे। उस समय ऐसी घटना घटी कि किसी अभिग्रह के कारण भगवान् महावीर को कई दिनों तक वहां आहार नहीं मिला और इसलिए मृगावतीपि...महता दु खेनामितता ..तेन (राज्ञा) आश्वासिता तथा करिष्यामि यथा कल्पे लभते .आवश्यकसूत्र, पृ 223। देखो स्टीवन्सन, श्रीमती, वही, पृ 40।

6 सुगुप्तो, मात्यो नन्दा तस्य भार्या, सा च श्रमणोपासिका. सा च श्राद्धीति मृगवत्या वयस्या,...आमात्यौपि सपत्निक आगत स्वामिन वदन्ते, आवश्यकसूत्र, पृ 222, 225। देखो कल्पसूत्र, सुबोधिका टीका, सूत्र 118, पृ 106। 7 रायचौधरी, वही और वही स्थान। देखो वारन्यैट वही, पृ 96, टिप्पण 2।

8 प्रधान, वही और वही स्थान। "कथासरित्सागर" कहता है कि शतानीक का पुत्र सहस्रानीक उदायन का पिता था। इस प्रकार कथासरित्सागर ने भूल से क्रम को उलटा दिया है।" देखो टानी (पेंजर संस्करण), कथासरित्सागर, भाग 1, पृ 95-96। रायचौधरी, वही, वही स्थान।

9 सहस्साणीयस्स रन्नो पोत्ते सयाणीयस्स रन्नो पुत्ते चेडगस्स रन्नो नत्तुए मिगावीतए देवीए अत्तए जयतिए समणोवासियाए भत्तिज्जए उदायणे नाम राया होत्था, आदि। —भगवती सूत्र 441, पृ 556।

10 तएण सा जयती समणोवासिया ..पव्वइया जाव सव्वदुक्खप्पहीणा।...—वही, सूत्र 443, पृ 558।

चण्डप्रद्योत प्रथम् उसके अनुयायी धार्मिक विषय में प्राय हम विस्तार से कहेंगे। यहाँ इसलिए इतना ही कह देना उचित होगा कि न तो उसे जैन होने का ही गौरव नहीं करते हैं अपितु यह भी मानते हैं कि वह एक महान् राजा था जिसने कितने ही युद्ध विजय किए थे और अवन्ती अंग तथा मगध के राज-कुटुम्बों के साथ वैवाहिक सम्बन्धों में भी वह जुड़ा हुआ था।'[1]

चेटक की चौथी पुत्री शिवा अवन्ती या प्राचीन मालवा की राजधानी उज्जयिनी[2] के राजा चण्डप्रद्योत को ब्याही थी।[3] यह चण्डप्रद्योत महासेन-भयंकर प्रद्योत महान् सेना का अधिपति[4] और वत्स अथवा वत्स देश की राजधानी कौशाम्बी के राजा उदायन के श्वसुर रूप से प्रसिद्ध है। डॉ. हिम इण्डिया कहता है कि बुद्ध के समय में अवन्ती का राजा भयंकर प्रद्योत था जो कि उज्जैन में राज्य करता था। उसके सम्बन्ध की दंतकथा कहती है कि वह और उसका पड़ोसी कौशाम्बी का राजा उदयन समकालिक थे। वे वैवाहिक सम्बन्ध से भी जुड़े हुए थे और युद्ध भी होता ही न रहता था।'[5] यह दंतकथा जैन साहित्य से सम्पूर्ण मिलती है। इन्हीं आधारों से हम जानते हैं कि वत्स राजा उदायन का विवाह वासवदत्ता[7] अवन्ती के प्रद्योत की पुत्री से हुआ था।[8] आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि चण्डप्रद्योत ने शतानीक से मृगावती को उसके पास भेज देने को कहलाया था और उसके इन्कार करने पर उसने उसके ऊपर धावा बोल दिया था इसी अरसे में शतानीक की मृत्यु हो गई और जब महावीर कौशाम्बी में आए थे तब चण्डप्रद्योत ने उनकी प्रतिभा चाँदियों पर बरवृत्ति छोड़ उदायन को कौशाम्बी का राजा बना देने का वचनबद्ध होकर मृगावती को जैन साध्वी हो जाने की आज्ञा दे दी थी।[9]

वत्स का राजा वह उदायन प्रेम और नाटकीय प्रणय संस्कृत कथाओं का महान् चक्र का केन्द्र व्यक्ति है। उसकी अनुपम सुन्दरी वासवदत्ता के पिता उज्जैन के राजा प्रद्योत का भी कुछ कम भाग नहीं है।'[10] जैसा कि ऊपर कहा गया है उसने अवन्ती अंग और मगध के राज कुटुम्बों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध बाँध लिया था। सम्पूर्णतः निश्चय न हो सकने पर भी हो तो भी भिन्न भिन्न प्रमाणों से हम पता लगाते हैं कि अवन्ती के राजा प्रद्योत की कन्या वासुलदत्ता अथवा वासवदत्ता और मगध के राजा दर्शक की बहन पद्मावती एवम् अंग देश के राजा दृढ़वर्मा की पुत्री उसकी रानियाँ थीं।[11] इनमें से वासवदत्ता उदायन की पटरानी थी। बौद्ध एवं जैन दोनों ही

---

1 प्रधान वही पृ 123। 2 देखो आवश्यकसूत्र पृ 677।
3 देखो वही पृ 209। 4 देखो प्रधान वही पृ 230।
5 देखो रायचौधरी वही पृ 83। कौशाम्बी नगर या कोसम उदायन के राज्य वत्सदेश या वत्स देश की राजधानी थी। –देखो वही पृ 96। देखो वही पृ 28। 6 हिम इण्डिया चरित्र भाग 1 पृ 185।
7 देखो आवश्यकसूत्र पृ 674 हेमचन्द्र त्रिषष्टि शलाका पर्व 10, पृ 142-145।
8 अवन्ती मोटे तौर पर आधुनिक मालवा, नीमाड़ और मध्यप्रदेश के आस पास के स्थानों तक फैला हुआ था। डा. भण्डारकर कहते हैं कि वह जनपद दो भागों में विभक्त था। उत्तरी भाग की राजधानी उज्जयिनी थी और दक्षिणी भाग की अवन्ती दक्षिणा पथ भी कहा जाता था की राजधानी महिष्मती या महिष्मती थी जो आज का मान्धाता ... का आधुनिक माना जाता है। –रायचौधरी वही, पृ 92।
9 हेमचन्द्र वही श्लो 332 पृ 107।
10 स्मिथ अर्ली हिस्ट्री भाग 1 पृ 311। देखो रायचौधरी वही पृ 122 पार्जीटर एन्शेंट हिस्टोरिकल ट्रेडीशन पृ 285। 11 देखो रायचौधरी वही और वहीं स्थान प्रधान वही पृ 21 246। दंतकथाओं में उदायन और उसकी नाना रानियों के साहसों की संख्या बड़ी गुम्फित है। –हिम इण्डिया वही पृ 187।

साहित्यो मे अवन्ती के प्रद्योत की कन्या वासुलदत्ता कौसाम्बी के राजा उदेन की रानी अथवा उसकी तीन रानियो मे से एक कैसे बनी इसकी अद्भूत और लम्बी कथा दी गई है।"[1] धर्म के प्रति उनकी मनोवृत्ति के विषय मे तो उसकी माता, बिंबसार, चेल्लणा एव उसके अन्य सम्बन्धी जो उस समय जैनधर्म मे अग्रणी थे, उसके आदर्श थे। स्वभावत ही इसलिए उसके मन मे जैनधर्म के प्रति सम्मान और सहानुभूति उत्पन्न हुए विना रह नही सकती थी।[2]

अवन्ति के प्रद्योत और उसकी पत्नि शिवा के जैनधर्म के प्रति आदर के सम्बन्ध मे आ हेमचन्द्र कहते है कि प्रद्योत को जैनधर्म के प्रति बहुत मान था और उसकी आज्ञा मिलने पर ही अगारवती आदि उसकी आठ रानियाँ कौसाम्बी की मृगावती के साथ जैन साध्विया हो गई थी।[3] सौवीर के उदायन के वर्णन मे जैसा कि हम देख आए है, प्रद्योत ने स्वयम् ही जाहिर किया था कि वह जैन है। यद्यपि बौद्ध और जैन दोनो ही इस अवतीपति के अत्याचारो और धूर्तता से परिचित है,[4] फिर भी इस विशेष प्रसग मे उसने अपने आपको किसी कारण विशेष मे जैन असत्य ही कहा हो। ऐसा कुछ समझ मे नही आता है। यदि उसे भोजन के विषय मे शका थी तो किसी दूसरे बहाने मे भी वह भोजन नही करने का कह सकता था। तथ्य जो भी हो फिर भी इतना तो स्पष्ट ही है कि इस विशेष प्रसग का लक्ष्य इस या उस राजा के बुरे स्वभाव की छाप पटकने की अपेक्षा दूसरा ही है। मुख्य लक्ष्य यह मालूम देता है कि प्रद्योत का घोर शत्रु होने पर भी उदायन पर्युषणा जैसे धार्मिक पवित्र दिनो मे किसी को भी चाहे कोई जैन हो या अजैन, बदी रूप मे देखना नही चाहता था।[5]

इस प्रकार चेटक की सात पुत्रियो मे से प्रभावती, पद्मावती, मृगावती, शिवा और चेल्लणा अनुक्रम से सौवीर, अंग, वत्स (वस), अवती और मगध के राजो के साथ व्याही थी। इनमे के अन्तिम चार देशो के नाम सोलह महाजनपदो की बौद्ध और जैन सूचियो मे आए हैं।[6] परन्तु सौवीर देश के विषय मे अधिक कुछ भी नही कहा जा सकता है। चेटक की शेष दो पुत्रियो मे से ज्येष्ठा तो महावीर के वडे भाई नन्दीवर्धन के साथ व्याही थी।[7] परन्तु सुज्येष्ठा महावीर की शिष्या जैन साध्वी हो गई थी।[8] यह सब स्पष्ट ही बताता है कि वर्धमान का प्रभाव उसकी माता लिच्छवी राजकन्या त्रिशला के कारण ही फैला। इससे यह भी स्पष्ट है कि महावीर-काल मे लिच्छवी क्षत्रिय हो माने जाते थे और उन्हे अपने उच्च कुल का अभिमान था और उनमे पूर्वी भारत के उच्च कालीन राजा लोग वैवाहिक सबध जोडना अपने लिए गौरवान्वित मानते थे।

---

1 देखो ह्रिस डेविड्स, बुद्धीस्ट इण्डिया, पृ 4, आवश्यकसूत्र पृ 674; हेमचन्द्र, वही, पृ 142-145।

2 सामी समोसड्ढे..। तएण से उदायणे राया ..पज्जुवासए। आदि—भगवती, सू 442, पृ 556।

3 महागृहलनृमृगावत्या प्रवज्या स्वामिसन्निधो।
अष्टावगारवत्याद्या प्रद्योतनृपते प्रिया ॥ —हेमचन्द्र, वही, श्लो 233, पृ 107।

4 देखो ह्रिस डेविड्स, वही और वही स्थान,...सो धुत्तो... आवश्यकसूत्र, पृ 300, भण्डारकर, वही और वही स्थान,...—कल्पसूत्र, सुबोधिका—टीका, सूत्र 59, पृ 192।

5 देखो आवश्यकसूत्र, पृ 300, मेयेयर जे जे, वही, पृ 110-111 कल्पसूत्र, सुबोधिका—टिका, सूत्र 59, पृ 192। 6 देखो रायचौधरी, वही, पृ 59-60।

7 देखो आवश्यकसूत्र, पृ 677, हेमचन्द्र वही, श्लो 192, पृ 77।

8 देखो आवश्यकसूत्र, पृ 685, हेमचन्द्र, वही, श्लो 266, पृ 80।

इन सब का सार यह है कि महावीर के सम्बन्धित जनधर्म को लिच्छवियों एवं वैशाली के राज्यकर्ता वंश द्वारा प्रारम्भिक दिनों में सभी ओर से प्रश्रय और मुख्य आश्रय प्राप्त हुआ था। इनके द्वारा ही महावीर का धर्म गौरव प्राप्त करता रहा और विशेष रूप से मगध में प्रचार पाया था और ये सभी उस काल के अत्यन्त शक्तिशाली राज्य थे। यही कारण है कि बौद्ध ग्रन्थों में वैशाली के राजा चेटक का कुछ भी वर्णन नहीं मिलता है हालांकि उनमें वैशाली के गणतान्त्रिक शासन का अच्छा वर्णन किया हुआ है।[1] डा. याकोबी के शब्दों में यह तो 'बुद्ध ने उनका कुछ भी उल्लेख इसलिए नहीं किया कि उसका प्रभाव प्रतिद्वन्द्वी धर्म के लाभ में प्रयोग हो रहा था। परन्तु जैनों ने अपने तीर्थंकर के मामा और आश्रयदाता की स्मृति सजीव रखी कि जिसके प्रभाव के कारण ही वैशाली जैनधर्म का गढ़ बन गई थी जब कि बौद्धों द्वारा वही पाखण्डियों और नास्तिकों के गढ़ के रूप में चित्रित की गई है।'[2]

इसके सिवा भी जो जैनसूत्रों में लिच्छवियों के सम्बन्ध में यत्र तत्र उल्लेख मिलते हैं उनसे यह प्रमाणित होता है कि वे जैनी ही थे। सूत्रकृतांग को ही पहले लें जहां कि जैनों द्वारा उन्हें बहुत सम्मान प्राप्त बताया गया है। उसका कथन है कि "जो मनुष्य ब्राह्मण या क्षत्रिय उग्र कुल का वंशधर अथवा लिच्छवी हो कि साधु होकर दूसरों से प्राप्त भिक्षा से निर्वाह करता है अपने प्रख्यात गोत्र का भी गर्व नहीं करता है।"[4]

कल्पसूत्र का कथन भी इसलिए जिस रात्रि में भगवान महावीर सब कर्मों का क्षय कर निर्वाण प्राप्त हुए थे उस रात्रि में काशी कोशल के अठारह राजा, नव मल्लिक, नव लिच्छवी राजाओं ने अमावस्या के दिन दीप जलाए, पोषध पर जो कि उपवास का दिन था। उनने कहा कि ज्ञान का दीपक क्योंकि आज अस्त हो गया है हम द्रव्य दीपक का प्रकाश करें।[6]

जनसूत्रों के इन दो उल्लेखों के सिवा उपासकदशांग में जितशत्रु राजा का उल्लेख है जो कि हरनाली के अनुसार जैन और लिच्छवी राजा चेटक के सम्बन्ध में परा रूप में अत्यन्त महत्त्व का है। जैनों के इस सातवें अंग के दस अध्ययनों में से पहले अध्ययन में सुधर्मा[7] जम्बू से कहते हैं कि "निश्चय ही हे जम्बू! उस समय में उस काल में वाणिज्यग्राम नाम का नगर था। वाणिज्यग्राम के बाहर ईशान कोण में एक द्विपलाश नाम का चैत्य था। उस समय में वाणिज्यग्राम का राजा जितशत्रु था। इस समय में उस गांव में आनन्द[8] नाम का गृहस्थ रहता था जो परम समृद्ध और सर्वश्रेष्ठ था।

उस समय में उस काल में श्रमण भगवान् महावीर वहां पधारे। लोक समूह उपदेश सुनने को वहां आया था। राजा कुणिक ने जैसा एक प्रसंग में किया था वैसे ही राजा जितशत्रु भी उनका उपदेश सुनने बाहर आया था और इस प्रकार वह उनकी सेवा में रहा था।

1 इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड इन अर्ली टैक्स्ट्स ऑफ बुद्धिज्म एण्ड जैनिज्म पृ. 322 & लाहा, क्षत्रिय क्लैन्स इन बुद्धिस्ट इण्डिया पृ. 27।

2 देखो याकोबी सेबुई पुस्त. 22 प्रस्ता. पृ. 12। इण्डियन एंटीक्वेरी पत्रिका पु. 7 पृ. 992।

3 याकोबी वही प्रस्ता. पृ. 13। 4 याकोबी सेबुई पुस्त. 45 पृ. 321।

5 कार्तिक महीने की अमावस्या की रात्रि को दिये जलाकर जैन महावीर निर्वाण का उत्सव मनाते हैं। वही पुस्त. 22 पृ. 266। 6 याकोबी सेबुई पुस्त. 22 पृ. 266।

7 महावीर के 11 गणधरों में से एक जो उनके बाद मुख्य स्थान रखते थे। उनको उत्तराधिकारी या पट्टधर कहते थे। हर्नोली वही पृ. 2 टिप्पण 5।

8 आनन्द अणुव्रती श्रावक का जैनों में उत्कृष्ट उदाहरण है। देखो इसमें उपासकदशांग प्रकरण 3 गा. 151 हर्नोली वही पृ. 7 आदि। 9 वही पृ. 3-7 9।

जिस जितशत्रु का यहा उल्लेख है, उसे डा हरनोली और डा वारन्यैट[1] ने उचित ही महावीर का मामा चेडग या चेटक बताया है क्योंकि जितशत्रु का वाणियगाम, जैसा कि आगे देखेंगे, वैशाली का ही दूसरा नाम था अथवा इस नाम से प्रसिद्ध उसका कोई भाग था, डा हरनोली के शब्दो मे कहे तो 'सूर्यप्रज्ञप्ति मे जितशत्रु को विदेह की राजधानी मिथिला का राजा कहा है.. यहा उसको वाणिगाम अथवा वैसाली का राजा कहा है। फिर महावीर के मामा चेडग को वैसाली और विदेह का राजा होना भी कहा गया है।...इससे लगता है कि जियसत्तु और चेडग एक ही व्यक्ति है।'[2] फिर राजा कुणिय जिसके साथ जितशत्रु की तुलना की गई है अन्य कोई नही अपितु मगध के राजा बिबसार का पुत्र और अनुगामी अजातशत्रु ही है। जब हम यह जानते है कि कुणिय उसके पिता जैसा महान् जैन था तो यह तुलना बिलकुल ही उचित लगती है। यह परिस्थिति उसके जीवन्त पर्यन्त टिकी रही थी या नही यह तो पीछे विचार करेंगे, परन्तु इतना तो निश्चित कहा जा सकता है कि उसको जैनधर्म के प्रति विशेष सहानुभूति थी[3] और वह महावीर के ससर्ग मे एक से अधिक बार आया था।

हमने पहले ही देख लिया है कि उस कुणिय या कूणिक का उसके नाना चेटक के साथ उस हाथी को ले कर युद्ध हुआ था जिसको ले कर उसका छोटा भाई वैसाली पलायन कर गया था। इससे ऐसा लगता है कि अजातशत्रु की प्रतिद्वन्द्वता मे चेटक जितशत्रु कहलाया होगा। एक बार फिर डा हरनोली का प्रमाण देते है कि 'मगध का राजा अजातशत्रु एक समय महावीर का अनुयायी था और बाद मे वह बुद्ध का अनुयायी बन गया होगा। जैसा कि सूचित किया गया है जियसत्तु (जितशत्रु) नाम अजातशत्रु के प्रतिद्वन्द्वी की दृष्टि से उसे दे दिया गया होगा। जैनो मे अजातशत्रु कुणीय नाम से ही परिचित है और इसी नाम से यहा और अन्यत्र भी जितशत्रु से उसकी तुलना की गई है।'[4]

इन सब दन्तकथाओ पर से लिच्छवी क्षत्रियो के विषय मे ऐसा लगता है कि वे भी विदेह की जैसे ही जैन थे।[5] यदि यह स्वीकार कर लिया जाए तो महान् और शक्तिशाली लिच्छवी वश महावीर के सस्कारित धर्म के लिए वास्तव मे ही शक्ति का मूल्यवान स्रोत सिद्ध हो जाता है। उनकी राजधानी ही महावीर काल मे जैन समाज की प्रमुख नगरी थी। जैन साहित्य से भी हम जानते है कि महावीर लिच्छवियो की राजनगरी से अत्यन्त निकट सपर्क मे थे। जैनो के इस अन्तिम तीर्थंकर को वैशाली अपना ही नागरिक घोषित करती है। सूत्रकृताग मे महावीर के विषय मे कहा है कि "पूज्य अर्हत्, ज्ञातृपुत्र, वैशाली के प्रसिद्ध निवासी, सर्वज्ञ, सम्यग्ज्ञान और दर्शन-युक्त इस प्रकार बोले।"[6] जैनसूत्र उत्तराध्ययन मे भी यही बात कुछ हेरफेर के साथ मिल जाती है।[7] महावीर वेसालिए अथवा वैशालिक या वैशाली निवासी कहलाते है। फिर अभयदेवसूरि भगवती-टीका मे (2, 1-12, 2) वैशालिक को महावीर ही बताते है और वैशाली को महावीर की जननी या माता कहते है।[8]

---

1 वारन्यैट, वही, प्रस्ता पृ 6। जियसत्तु सम्बन्धी जैनो के 8 वे और 9 वे अग के सदर्भो के लिए देखो, वही, पृ 62, 113।

2 हरनोली, वही, पृ 6 टि 9। 3 तएण से कुणिय राया...समण भगव महावीर ..वदतिणमसति .. औपपातिकसूत्र 32, पृ 7 4 हरनोली, वही और वही स्थान।

5 जैनधर्म की वैशाली मे प्रधानता के अधिक तथ्यो के लिए देखो लाहा, वि च, वही पृ 72-75। याकोबी वही, पृ 194। 6 याकोबी, सेबुई, पुस्त 45, पृ 261।

7 देखो उत्तराध्ययन-सूत्र, अध्ययन 6, गाथा 17, याकोबी, वही, पृ 27।

8 लाहा, वि च, वही, पृ 31-32।

इसके सिवा कल्पसूत्र से भी मालूम होता है कि महावीर अपने साधु जीवन में अपनी मातृभूमि को भूले नहीं थे और इसीलिए 42 चौमासों में से लगभग 12 उनने वैशाली में किए।

फिर भी जैनों के अंतिम तीर्थंकर और लिच्छवियों के इस निकट सम्बन्ध का महत्व इस बात से और भी बढ़ जाता है जब कि हम विभिन्न आधारों से यह जानते हैं कि वैशाली लिच्छवी राजनगर शक्तिशाली राजवंश के अधिकार में थी कि जो अपने काल के राजनैतिक और सामाजिक दोनों क्षेत्रों में बहुत ही प्रभावशाली था। 'वैशाली', डा लाहा कहते हैं 'महानगरी सब श्रेष्ठ भारतीय इतिहास में लिच्छवी राजा की राजधानी रूप में और महान् एवं शक्तिशाली वज्जि जाति के केन्द्र रूप में प्रख्यात है। यह महानगरी जैन और बौद्ध धर्म दोनों ही के प्राचीन इतिहास के साथ निकट का सम्बन्ध रखती है इतना ही नहीं अपितु इसका युगारम्भ के 500 वर्ष पूर्व में भारत के ईशान कोण में उत्पन्न और विकसित दो महान् धर्मों के संस्थापकों की पवित्र स्मृतियाँ भी इसके साथ जुड़ी हुई हैं।'[1]

एक बात और विचार करने को रह जाती है और वह यह कि वैशाली और कुण्डग्राम[2] में क्या सम्बन्ध था। ईसवी युगारम्भ के 500 वर्ष पूर्व में भारतवर्ष के नगरों में वैशाली अन्यतम समृद्ध नगर था इसको दृष्टि में रखते हुए एक बात निश्चित लगती है कि कुण्डग्राम जैसा कि पहले कहा जा चुका है वैशाली का ही विभाग होना चाहिए। जैन और बुद्ध दोनों ही की दंतकथाओं के आधार पर डा हरनोली[3] रॉकहिल[4] आदि विद्वान इससे सहमत हैं कि वैशाली तीन विभागों में विभाजित था। 'एक तो वैशाली खास दूसरा कुण्डग्राम और तीसरा वाणियगाम जो सारे नगर के क्षेत्रफल में अनुक्रम से नैऋत्य ईशान और पश्चिम में अवस्थित थे।[6] फिर ये तीनों ही खण्ड वैशाली से निकट सम्बन्धित थे यद्यपि महावीर कुण्डग्राम में जन्म होने पर भी वैशाली निवासी

---

1 वही पृ 31। यह लिच्छवीकुल की राजधानी थी, कि जो मगध के राजा के साथ विवाह सम्बन्ध से पहले से ही घनिष्टतम जुड़ी हुई थी यह वज्जि शक्तिशाली जनपद का प्रमुख स्थान थी। उन स्वतन्त्र वंशों के समस्त राज्यों में कि जो ई पूर्व छठी सदी के सामाजिक और राजनीतिक जीवन में प्रमुख स्थान रखते थे, एक यही महानगरी थी। वह अति सम्पन्न नगरी होना चाहिए। रिज डेविड्स वही पृ 40 41 शर्पेंटियर वहीं भाग 1 पृ 157। 2 कुण्डग्राम नाम से वैशाली नगर जैन तीर्थंकर महावीर की जन्मभूमि कही गई है जो कि वेसालिए भी कहलाते थे। बौद्धों का कोटिगाम भी यही है। —के ए नीलकण्ठ शास्त्री—एज ऑफ एशेंट एंड मिडीवल इण्डिया पृ 107। 3 हरनोली वही पृ 3 7।

4 रॉकहिल, दी लाइफ ऑफ बुद्ध पृ 62 63। 5 हरनोली वही, पृ 4। इसी तरह वि च वही पृ 38 6 वही पृ 17। यहाँ यह कह देना उचित है कि उवासगदसाओ में वाणियगाम के सम्बन्ध में निम्न प्रकार का उल्लेख मिलता है वाणियगामे नयरे उच्चनीयमज्झिमाइं कुलाइं (वाणियगाम नगर में उच्च नीच और मध्यम कुलों में)। हरनोली वही भाग 1 पृ 36। आश्चर्य की ही यह बात है कि दुल्व में दिए वैशाली के वर्णन से यह मिलता हुआ है। —रॉकहिल वही पृ 62। वैशाली के तीन भाग हैं एक भाग में सुवर्ण शिखर वाले 7000 भवन थे मध्य भाग में रौप्य शिखर के 14000 भवन थे और अन्तिम भाग में 21000 ताम्र शिखर के घर थे। इनमें उच्च मध्य और निम्न वर्ग के लोग अपनी अपनी स्थिति अनुसार रहते थे। देखो हरनोली वही भाग 2 पृ 6 टि 8। श्री दे ने इन तीनों विभागों को इस प्रकार माना है वैशाली खास (बसाढ) कुण्डपुर (बसुकुण्ड) और वाणियगाम (बानिया) जिनमें क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य रहते थे। —दे वही पृ 170।

कहलाते थे और जो बारह चौमासे उनने वैशाली मे बिताए उनके विषय मे कल्पसूत्र मे उल्लेख "वैशाली और वाणिज्यग्राम मे बारह"[1] कह कर किया गया है। डॉ हरनोली और नन्दलाल दे इससे एक कदम आगे बढकर कहते है कि ये तो वैशाली ही थे क्योकि वैशाली का प्राचीन नगर कुण्डपुर या वाणिजग्राम भी कहलाता था और अन्त मे वे यह स्वीकार कर लेते है कि लिच्छवियो की रियासत वैशाली के ये पृथक विभाग थे।[2]

इस प्रकार इतना तो स्पष्ट है ही कि कुण्डग्राम वैशाली के तीन प्रमुख विभागो मे से एक था और इस वैशाली का शासन ग्रीक नगर-राज्यो के शासन से मिलता जुलता सा मालूम होता है। इस काल की विचित्र राज्य व्यवस्था, स्वतन्त्र निगमादि सस्थाए, रीति-रिवाज और धार्मिक मान्यताए एवम् व्यवहार सब भारत के उस सक्रमण काल की झाकी हमे कराते है जब कि प्राचीन वैदिक सस्कृति नव-विकास साध रही थी और उस कल्पनाशील प्रवृत्ति से प्रभावित होकर अद्भुत परिवर्तन पा रही थी कि जिसमे नई सामाजिक-धार्मिक स्थिति का परिस्फुटन हुआ।

डा हरनोली कहता है कि 'वह एक अल्पजनसत्ताक (ओलीगार्गिक रिपब्लिक) राज्य था, उसकी सत्ता उसके निवासी क्षत्रियवशो के नायको के बने हुए मण्डल मे वेष्टित रहती थी। राजा का नाम धारण करनेवाला अधिकारी उस मण्डल का सभापतित्व करता था और उनको एक प्रधान और एक सेनाध्यक्ष सहायता करते थे।[3] ऐसे प्रजासत्ताक राज्यो मे वैशाली के वज्जि और कुशीनारा (कुसीनगर) एवम् पावा के मल्ल राज्य महत्व के थे। रोम के जैसे ही विदेह मे राजसत्ता के नष्ट हो जाने पर वज्जियो का प्रजासत्ता स्थापित हुई थी।'[4] इस प्रकार पुरानी राजसत्ता के स्थान मे कुण्डग्राम और अन्य स्थलो की क्षत्रिय जातियो की प्रमुखता मे वैशाली जैसे प्रजासत्ताक महाराज्य स्थापित हुए थे। यद्यपि देश के राजकीय वातावरण मे पसरी हुई शैशुनाग की महान सत्ता का विचार करते हुए ऐसे प्रजासत्ताक राज्य अल्पसमयी ही थे, फिर भी उस काल मे इनका अस्तित्व और प्रभाव तो स्वीकार किए बिना चल ही नही सकता है।

डा लाहा कहता है कि 'मौर्यो की सार्वभौम राजनीति की वृद्धि और विकास के पूर्व उत्तर भारत मे बसती भिन्न भिन्न आर्य-प्रजा मे प्रचलित राजकीय सस्थाओ की प्राचीन प्रजासत्ताक राजनीति का खयाल पाली भाषा के

---

1 याकोबी, वही, पृ 264।

2 "वाणियगाम (सस्कृ वाणिज्यग्राम), लिच्छवी देश की राजधानी वेसाली (सस्कृ वैशाली) के सुख्यात नगर का दूसरा नाम . । कल्पसूत्र मे.. इसको अलग बताया गया है, परन्तु वैशाली के बहुत निकट मे। बात यह है कि, जिसे वेसाली साधारणत कहा जाता है वह नगर बहुत व्यापक क्षेत्र मे फैला हुआ था जिसकी परिधि मे वेसालीखास (आज का बसाढ) के सिवा . अनेक और भी स्थान थे। इन अन्य स्थानो मे ही वाणियगाम और कुण्डगाम या कुण्डपुर थे आज भी वाणिया और बसुकुण्ड नाम के ग्राम रूप मे ये विद्यमान है। इसलिए सयुक्त नगर को जैसा अवसर हो, उसके किसी भी अवयवाश के नाम से परिचय कराया जाता है।" –हरनोली, वही, भाग 2, पृ 3-4।" वाणियागाम-वैशाली या (बसाढ), मुजफ्फरपुर (तिरहुत) जिले मे, वस्तुत वाणियागामा वैशाली के प्राचीन नगर का एक अश ही था..., कुण्डगाम–मुजफ्फरपुर (तिरहुत) जिले के वैशाली (आधुनिक बसाढ) का यह दूसरा नाम है वस्तुत कुण्डगाम (कुण्डग्राम) जिसे अब बसुकुण्ड कहते है, वैशाली के प्राचीन नगर के उपनगर का ही एक भाग था।" –दे, वही, पृ 23,107।

3 देखो श्रीमती स्टीवन्सन, वही, पृ 22, रायचौधरी, वही, पृ 75-76।

4 वही, पृ 52 116। देखो टामस, एफ डब्ल्यू, कैहिइ, भाग 1, पृ 491।

बौद्धशास्त्रों में ि ए वर्णना में ठीक ठीक होता है और उसका समर्थन मौर्य साम्राज्य की स्थापना के लिए उत्तर-दायी राजनीतिज्ञ महान् ब्राह्मण[1] कौटिल्य भी करता है। हमारे अभिप्राय के लिए इसलिए इतना ही कहना पर्याप्त है कि नाय या नात जाति के मुख्य पुरुष सिद्धार्थ ने राज्य और राज्यमण्डल में उच्चपद प्राप्त किया ही होगा कि जिसके फलस्वरूप वह एक प्रजासत्ताक राजा की बहन त्रिशला से विवाह कर सका था।[2]

अब नात्रिकों[3] का विचार करने पर हम देखते हैं कि उनने भारतवर्ष को एक सर्वोत्तम धार्मिक सुधारक दिया था। और जैसा कि हम ऊपर देख ही चुके हैं जब वज्जि या लिच्छवी राजमण्डल की मुख्य जातियों में भी इनका स्थान था तब क्षत्रिय जाति के रूप में उनका महत्व स्वतः सिद्ध हो जाता है क्योंकि वह वज्जि या लिच्छवी मैत्रीसंघ' के प्रमुख कुलों में से एक थी। सिद्धार्थ और उनके पुत्र तीर्थंकर महावीर भी यही ज्ञातिक कुल था। इनका प्रमुख नगर कुण्डपुर या कुण्डग्राम और कोल्लाग,[4] वैशाली के उपनगर थे। फिर भी ये वेसालिए अथवा वैशाली निवासी कहे जाते थे।[5]

राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशला का पुत्र महावीर निःसंदेह नातृक कुल का एक नर-रत्न था। इस शक्तिशाली व्यक्ति का महान् प्रभाव अपनी जाति भाइयों पर कितना था इस विषय में इनके घोर विरोधी बौद्धों के धर्मशास्त्रीय साहित्य में ही इस प्रकार उल्लेख मिलता है वह संघ का मुख्य पुरुष महान् गुरु महान् तत्त्वज्ञ, लोकमान्य, महान् अनुभवी दीर्घ तपस्वी वयोवृद्ध और परिपक्व आयु का है।[6]

हम देख ही आए हैं कि महावीर और उनके मातापिता श्री पार्श्वनाथ के धर्म के अनुयायी थे और इसलिए नाय क्षत्रियों की सारी जाति ही उसी धर्म की अनुयायिनी हो यह बहुत सम्भव है। ऐसा मालूम होता है कि यह नाय जाति महावीर के पुरोगामी पार्श्व के अनुयायी साधु समुदाय का पोषण करती थी और जब महावीर ने धर्म प्रवर्तन किया तब उनकी जाति के सदस्य उन्हीं धर्म के श्रद्धाशील अनुयायी हो गए।[7] सूत्रकृतांग में कथन है कि जिनने महावीर प्ररूपित धर्म का अनुसरण किया वे सदाचारी और प्रामाणिक हैं और वे 'परस्पर एक दूसरे को धर्म में दृढ़ करते हैं।'[8]

इस प्रकार महावीर की ही जाति के होने के कारण नात्रिकों पर ज्ञातृ के सिद्धांत का स्वभावतया अत्यधिक प्रभाव पड़ा। जैनसूत्र नात्रिकों का आदर्श चित्र प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि वे पाप और पापमय

---

1 लाहा, क्षत्रिय वही पृ 1–2।

2 देखो श्रीमती स्टीवन्सन वही पृ 22 याकोबी वही प्रस्तावना पृ 12।

3 कुल का नाम नाय या नाथ ही दिया गया है। देखो लाहा क्षत्रिय वही पृ 121 हर्नाली वही पृ 4 टिप्पण। 4 उवासगदसाओ में कोल्लाग के विषय में इस प्रकार कहा गया है वाणियगाम नगर के बाहर, उत्तर पूर्वी दिशा में कोल्लाग नाम का एक उपनगर था जो विस्तृत, सुन्दर महलोंवाला आदि आदि था। हर्नोली वही पृ 8। देखो वही पृ 4 टिप्पण। मुजफ्फरपुर (तिरहुत) जिले के वैशाली (बसाढ़) का उपनगर जिसमें नायकुल क्षत्रिय रहते थे। जैन तीर्थंकर महावीर इसी क्षत्रिय जाति के थे। दे वही, पृ 102।

5 रायचौधरी, वही पृ 74। देखो याकोबी वही प्रस्तावना पृ 6 हर्नाली वही और वही स्थान।

6 लाहा क्षत्रिय वही पृ 124-125।

7 देखो श्रीमती स्टीवन्सन वही, पृ 31, लाहा क्षत्रिय वही पृ 123।

8 देखो याकोबी सबुई पुस्तक 45, पृ 256।

व्यापार से दूर रहते थे ।[1] उदाहरणार्थ सूत्रकृतांग कहता है कि 'प्राणि नाश की अनुकंपा करने के लिए द्रष्टा, ज्ञातृपुत्रगण, सब पापमय प्रवृत्तियों से दूर रहते हैं । इसी भय से वे खास उनके लिए बनाया हुआ भोजन भी स्वीकार नहीं करते है । जीवित प्राणियों को पीड़ा पहुंचने के डर से वे दुष्ट कामों से दूर रहते हैं, किसी जीव को दुःख या पीड़ा नहीं करते हैं, इसीलिए वे ऐसा आहार भी नहीं करते हैं । हमारे धर्म के साधुओं यही का आचार है ।'[2]

उवासगदसाओ से हम यह जानते हैं कि ज्ञात्रिकों का अपनी राजधानी कोल्लाग की बाहर द्विपलास नाम का चैत्य था ।[3] डा हरनोली चैत्य शब्द का अर्थ 'जैन मन्दिर अथवा पवित्र स्थान करते है, परन्तु सामान्यतया इससे वह समस्त बड़ा ही समझा जाता है कि जिसमे उदयान, वनखड या वनखण्ड, मन्दिर और उनके पुजारी की कुटि आदि सब होते हैं ।'[4] जब हम यह जानते हैं कि शिष्यों सहित महावीर के कुण्डपुर या वैशाली में समय समय पर आगमन के समय ठहरने को स्थान रखना पार्श्वनाथ के अनुयायी होने से ज्ञातृकों को आवश्यक था तो चैत्य का उपर्युक्त व्यापक अर्थ एकदम समीचीन ही लगता है । और इस अर्थ के समीचीन होने का इससे भी समर्थन हो जाता है कि दीक्षित होने के पश्चात् महावीर अपनी जन्मभूमि में जब भी आए, उनने इसी चैत्य मे निवास किया था ।[5]

ज्ञातृको और उनके कुलकिरीट महावीर प्ररूपित धर्म के प्रति उनके बहुमान के विषय में इतना ही कहना पर्याप्त होगा । 'फिर भी हम यह बता देना चाहते हैं,' डा लाहा कहता है कि, 'वे महावीर ही थे जिनने ज्ञातृको का पूर्वी-भारत की पड़ोसी जातियों से निकटतम संसर्ग कराया था और ऐसे धर्म का विकास किया था कि जो आज भी लाखों भारतीय मानते पालते हैं । इसी ज्ञातृक जाति का दूसरा नर-रत्न आनन्द था जो कि महावीर का एक निष्ठ अनुयायी था । जैन अंगसूत्र उवासगदसाओ मे कहा गया है कि उसके पास चार करोड़ सौनैयों की निधी थी । फिर यह भी कहा गया है कि वह ऐसा महान् था कि अनेक राजा, महाराजा और उनके अधिकारी से लेकर व्यापारी तक भी उससे अनेक बातों की सलाह किया और लिया करते थे । उसके शिवनन्दा नाम की पतिव्रता भार्या थी ।'[6]

अब वज्जियों का हम विचार करें । हम देखते हैं कि लिच्छवियों और वज्जियों के बीच मे भेद करना अत्यन्त ही कठिन है । वे भी 'वैशाली के साथ जो कि लिच्छवियों की राजधानी में ही नहीं थी, अपितु समस्त जनपद की महानगरी भी थी, बहुत सम्पर्क मे थे ।'[7] डा लाहा के अनुसार लिच्छवी और अधिक व्यापक अर्थ मे कहें तो वज्जि दृढ धार्मिक भावना और गहरी भक्ति से प्रेरित मालूम होते है । मगध देश और वज्जि भूमि मे

---

1 लाहा, वि च, वही पृ 122 ।

2 याकोबी, वही, पृ 416 । डा याकोबी ने यहा टिप्पण दिया है कि ज्ञातृपुत्र शब्द यहा जैनों के लिए पर्यायवाची रूप से प्रयुक्त हुआ है । देखो वही ।

3 देखो हरनोली, वही, भाग 1, पृ 2 । 4 हरनोली वही, भाग 2, पृ 2 टिप्पण 4 ।

5 देखो वही, भाग 1, पृ 6, भाग 2, पृ 9 । कल्पसूत्र मे हमे दुइपलास चेइय का नाम नही मिलता है यद्यपि नायकुल के साण्डवन उद्यान का नाम वहा मिलता है । कल्पसूत्र, सुबोधिका टीका सूत्र 115, पृ. 95 । देखो योकोबी, सेबुई, पुस्त 22, पृ 257, हरनोली. वही, पृ 4–5, श्रीमती स्टीवन्सन वही, पृ 31 ।

6 लाहा. वि च, वही, पृ 125 । देखो हरनोली, वही पृ 7-9 ।

7 रायचौधरी, वही, पृ 74-75 ।

महावीर के अपने धर्म सिद्धान्त का विकास साध कर सब जीवों के प्रति असीम दयाधर्म का प्रचार करने के पश्चात् उनके अनुयायियों में लिच्छवी ही बहुत बड़ी संख्या में थे और बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार वैशाली के उच्चवर्गीय व्यक्तियों में से भी कुछ उनके अनुयायियों में थे।[1]

इस प्रकार विदेही लिच्छवी वज्जि और नातृक जैनधर्म के साथ कैसे सम्बन्ध थे यह हमने संक्षेप में देखा। ऐसा मालूम होता है कि वज्जि अथवा लिच्छवी का राज मण्डल महावीर के संस्कारित धर्म का शक्तिप्रद था। मल्लिकों का विचार करने पर मालूम होता है कि उनकी भी महान् तीर्थंकर महावीर और उनके सिद्धान्त के प्रति अपूर्व लगन थी और बहुत मान था।

मल्लों का देश सोलह महाजनपदों महान देशों में का एक कहा जाता है। और यह बौद्ध एवम् जैन दोनों ही स्वीकार करते हैं।[2] महावीर के समय में मल्ल दो भागों में विभक्त दीखते हैं। एक की राजधानी पावा और दूसरे की कुसीनारा थी।[3] दोनों राजधानियाँ एक दूसरे से थोड़ी सी दूरी पर ही थीं और वे जैनों एवम् बौद्धों के तीर्थरूप में आज तक प्रसिद्ध हैं क्योंकि दोनों के धर्म संस्थापकों का निर्वाण वहाँ हुआ था। हम देख ही आए हैं कि महावीर का पावा में निर्वाण जब हुआ वे हस्तिपाल राजा की लेखनशाला (रज्जुगशाला) में ठहरे हुए थे। और पान्री स्टीवन्सन के कल्पसूत्रानुसार जब कि वे पावा के राजा हस्तिपाल के मन्दिर में पर्यूषणा बिता रहे थे। आज यहाँ उनके निर्वाण स्मारक रूप में चार सुन्दर मन्दिर बने हुए हैं।[4]

मल्लों का जैनों के साथ सम्बन्ध यद्यपि लिच्छवियों जितना निकट का नहीं कहा जा सकता है फिर भी वह इतना तो गहरा मालूम होता ही है कि जिससे उन्हें अपने धर्म प्रचार में उनसे सहायता प्राप्त होती रही थी। डा. लाहा के अनुसार इस बात के प्रचुर प्रमाण हमें बौद्ध साहित्य से प्राप्त हैं। वह कहता है कि 'पूर्व भारत की अन्य जातियों जैसे कि मल्ल जाति में भी जैनधर्म के अनेक अनुयायी मिलते हैं। महावीर के निर्वाण पश्चात् जैनसंघ में पड़ी फूट के विषय में बौद्ध साहित्य में वर्णित बात इसको प्रमाणित करती है। महान् तीर्थंकर के निर्वाण के पश्चात् पावा में निगंठ नातपुत्त के अनुयायी पृथक् हो गए थे।[5] इन अनुयायियों में साधु व नातपुत्त अनुयायी श्रावक दोनों ही थे क्योंकि हमें लिखा मिलता है कि साधुओं की इस फूट के कारण, श्वेतवस्त्रधारियों के गृहस्थ अनुयायियों को भी निगंठों के प्रति तिरस्कार क्रोध और विराग हुआ था। ये गृहस्थ उपासक उक्त अवतरण से पता लगता है कि उसी प्रकार के श्वेत वस्त्रधारी थे जैसे कि आज के श्वेताम्बर साधू हैं। बुद्ध और उनके प्रमुख शिष्य सारिपुत्त ने महावीर के निर्वाण पश्चात् उनके अनुयायियों में हुई इस फूट का अपने धर्म प्रचार

---

1 लाहा, क्षि. च. वही पृ. 67-73। 2 दत्ता रायचौधरी वही पृ. 59-60।

3 लाहा, लाहा, बि. च. वही पृ. 147 रायचौधरी वही पृ. 79 हिम डेविड्स वहिन भा. 1 पृ. 175 कनिंघम ने मनस आधुनिक पडराना को पावा या पापा कह दिया है जहाँ कि बुद्ध ने चुण्ड के घर भोजन किया था। प्राचीन पापा या अपापापुरी का आधुनिक नाम पावापुरी है और यह बिहार नगर के पूर्व में सात मील पर है। यहाँ महावीर का निर्वाण हुआ था। —वही पृ. 148-155। कुसीनारा या कुसीनगर वह स्थान है जहाँ बुद्ध का निर्वाण ई. पूर्व 477 में हुआ था। प्रो. विल्सन और अन्य विद्वानों ने आधुनिक गाँव कासिया को ही जो कि गोरखपुर जिले के पूर्व में है, कुसीनारा बताया है। इसका प्राचीन काल में कुशावती भी कहते थे। दत्ता रायचौधरी वहां और वही स्थान लाहा, बि. च. वही पृ. 147-148 इ. ब. भा. पृ. 111।

4 वही पृ. 148। दत्तो ब्हूलर वही पृ. 27 पान्री स्टीवन्सन कल्पसूत्र पृ. 91।

5 दत्ता ब्हूलर, वही और वही स्थान।

के लिए लाभ उठाया दीखता है पासादिक सूत्तान्त मे कहा गया है कि पावा आने वाले चुण्ड ने ही मल्ल देश के सामगाम के आनन्द को तीर्थंकर महावीर के निर्वाण होने का समाचार दिया था और इस आनन्द को इस समाचार का महत्व तुरन्त ही समझ मे आ गया और इसलिए उसने कहा, "हे मित्र चुण्ड। इस महत्वपूर्ण सवाद को भगवान् बुद्ध के पास ले जाने की आवश्यकता है। इसलिए चलो हम ही यह समाचार उन्हे जा सुनाए। वे शीघ्र ही बुद्ध के पास पहुच गए जिनने उन्हे तब एक लम्बा प्रवचन दिया।"[1]

फिर जैन साहित्य से भी हम जानते है कि जैनो के अन्तिम तीर्थ कर महावीर के प्रति मल्ल लोगो की परम श्रद्धा-भक्ति थी। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है। कल्पसूत्र के अनुसार महान् तीर्थ कर के निर्वाण दिवस का उत्सव मनाने के लिए नौ लिच्छवियो के साथ नो मल्लिक सरदार भी थे। उन सब ने उस दिन उपवास व्रत किया था और जब 'ज्ञान का दीपक बुझ गया है तब द्रव्य दीपको से प्रकाश करें' ऐसा कहते सब ने दीपोत्सव किया था।[2] फिर जैनो के आठवे अगग्रन्थ 'अन्तगडदसाओ' मे उग्र, भोग, क्षत्रिय, और लिच्छवियो के साथ मल्लिको का भी उल्लेख किया गया है। जैनो के बाईसवें तीर्थंकर अरिट्ठनेमि अथवा अरिष्टनेमि बारवाई (द्वारका) शहर मे गए तब मल्लि भी उपर्युक्त सब लोगो के साथ उनका स्वागत और दर्शन करने गए थे।[3]

अब कासी-कोसल के अठारह गण राज्यो का विचार करे। यहा हम देखते है कि वे भी लिच्छवियों और मल्लको की भाति ही महावीर के भक्त थे। इनने भी महावीर के निर्वाण दिवस पर उपवास किया हुआ था और दीपोत्सव भी किया था।[4] फिर यह भी हम देख चुके है कि जैन साहित्य मे ऐसा भी उल्लेख है कि राजा कूणिक ने जब उनके विरूद्ध युद्ध घोषित किया तब राजा चेटक ने मल्ल सरदारो के साथ अठारह कासी-कोसल के गण-राजो को भी अपनी सहायता के लिए निमत्रित किया था।

कासी-कोसल जनपद का विचार करने पर हम देखते है कि कासी की प्रजा विदेह और कोसल की प्रजा के साथ शत्रु और मित्र दोनो ही प्रकार के सम्पर्क मे आयी थी।[5] 'सोलह महाजनपदो मे से कासी प्रथमतया सम्भवत अत्यन्त समृद्ध था,' और यह बात बौद्ध एवम् जैन दोनो ही स्वीकार करते है।[6] पार्श्वनाथ के काल मे जैन इतिहास मे इसकी महत्ता का विचार पहले ही किया जा चुका है। फिर महावीर भी साधू जीवन मे कासी गए थे।[7] यहा यह भी सूचन कर देना उचित है कि अन्तगडदसाओ मे वाराणसी के एक राजा अलक्खे का उल्लेख किया गया है कि जिसने भगवती दीक्षा ली थी।[8]

अन्त मे हम कोसल का विचार करें। कासी की भाति ही यह भी सोलह व्यापक एव समृद्ध जनपदो मे का एक था और जैन एव बौद्ध दोनो ही साहित्य मे इसका वर्णन है।[9] भौगोलिक दृष्टि से कोसल आज के अवध प्रान्त मे मिलता है और उसमे अयोध्या, साकेत और सावत्थी या श्रावस्ती नाम के तीन बड़े नगर होने को कहा गया है।[10] इसमे के 'कौसल की राजधानी'[11] श्रावस्ती मे महावीर एक से अधिक बार गए थे और वहा उनका

1 लाहा, वि च, वही, पृ 153-154। देखो डायलोग्स आफ दी बुद्धा, भाग 3, पृ 203 आदि, 203, 212।
2 याकोबी, वही, पृ 206। 3 बारन्यैट, वही, पृ 36।
4 देखो कल्पसूत्र, सुबोध टीका, सूत्र 128, पृ 121। 5 देखो रायचौधरी, वही, पृ 44।
6 वही, पृ 59–60। 7 देखो आवश्यकसूत्र, पृ 221, कल्पसूत्र, सुबोध टीका सू 106।
8 बारन्यैट, वही, पृ 96 9 रायचौधरी, वही और वही स्थान। 10 वही, पृ 62–63।
11 प्रधान, वही, पृ 214। 'सावत्थी राप्ती नदी के दक्षिणी तट पर एक बडा विध्वस नगर है जो आजकल सहेथ-महेथ कहलाता है और उत्तर-प्रदेश के बेहराइच और गोंडा जिले की सीमाओ पर स्थित है।' देखो रायचौधरी, वही, पृ 63। देखो दे, वही, पृ 189–190।

भारी सम्मान हुआ था ।[1] दन्तकथा के अनुसार श्रावस्ता अथवा चन्द्रपुरी या चन्द्रिकापुरी जनो के तीमर तीथ कर श्री सम्भवनाथ और आठवें था चन्द्रप्रभु की ज मभूमि कहा जाता है । आज भी वहा शाभानाथ का एव मन्दिर ह जो समवनाथ का अपभ्र श नाम ही मालूम दता ह ।[2, 3]

भिन्न भिन्न प्रमाणो स हम मालूम हाता है कि कोसल और शिशुनाग वैवाहिक सम्बन्ध स जुडे हुए थे । महाकोसल की पुत्री कामलदेवी महावीर के मुख्य श्राविका चल्लणा की साथ श्रेणिक का पत्निया म स एक थी ।' फिर जितनी ही बुद्ध दन्तकथाओ स हम यह सूचना मिलती है कि महाकोसल का पुत्र गिगर या मगधर सावत्थी के प्रसनजित का मुख्य अमात्य था और वह नास्तिक और निर्ग्रथ साधुओ का एक निन्दक था ।[4]

2

उपरोक्त सारा विवेचन यह सिद्ध कर देता ह कि प्राय सभी प्रमुख सोलह महाजन पद एक या दूसरी रीति स जनधम के प्रभाव म आ गए थ ।[5] सोलह महाशक्तियो म स मगध क विषय म अभी तक हमन कुछ भी नही विचार किया है । इसका कारण यह नही था कि मगध का विचार अ य महाशक्तिया क साथ ही साथ नहा किया जा सकता था परन्तु यह कि प्राचीन भारत का यह प्रावनामन वस्यैकम परवर्ती जन ऐतिहासिक चर्चा का केन्द्र स्थान था ।

डा रायचौधरी कहता है कि सोलह महाजनपदो म स प्रत्यक का समृद्धि समय ई पूव छठी सदी म या उसक लगभग समाप्त हो जाता है । उसक परवर्ती काल का इतिहास इन छोटे जनपदा के अनेक शक्तिशाली साम्राज्यो द्वारा निगल जाने एवम् अन्त म उन साम्राज्यो क भी मगध क महासाम्राज्य म समा जाने का ही है ।[6] हम इस विवरण म सीधे उतरने की आवश्यकता नहा ह कि प्राचीन भारत क इस एक महासाम्राज्य न आधुनिक जरमनी क इतिहास मे प्रशिया जैसा भाग कस अदा किया था । हमारा इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि इस साम्राज्य पर जिन भिन्न भिन्न राजवशो न राज्य किया व सब जैनधम के साथ कसा सम्बन्ध रखत थ । शिशुनाग नद और मौर्यो स प्रारम्भ कर हम खारवल क समय तक पहुचेंगे और देखेंगे कि उत्तरीय जना क इतिहास की विशिष्ट मर्यादा बाधन का अद्वितीय मान अशोक की भाति हा महामघवाहन खारवल क हिस्स म आता है ।

---

1 भगर सावत्थी लोगा बने ।। आवश्यकसूत्र, पृ 221 । दखो वही पृ 204 214 । कल्पसूत्र सुबाधिका टीका, पृ 103 105 106 कारपेटर वही पृ 93 याकोबी वही, पृ 264 ।

2 द वही प 109 । श्रावस्ती हो बौद्धा का सावत्थी या सावत्थीपुर और जना चन्द्रपुर या चन्द्रिकापुर है । वही पृ 189 । 3 दखो प्रधान वही पृ 213 रायचौधरी वही पृ 99 ।

4 दखो हरनोली वही, परिशिष्ट 3 पृ 56–57 राकहिल वही प 70–71 रोमटन बीफ्नसटिटयटन ट्रैक्ट म 7 पृ 110 प्रधान, वही प 215 ।

5 सोलह महाजनपदो क नाम बौद्ध परम्परा क अनुसार इस प्रकार है—कासी कोसल, अग मगध वज्जि मल्ल चेतिय (चेदि) वश (वत्स) कुरु पांचाल मच्छ (मत्स्य) सूरसेन अस्सक अवन्ती गधार और कम्बोज । जना क भगवतीसूत्र म इनकी सूची इस प्रकार दी ह—अग वग मगह (मगध) मलय मालव अच्छ वच्छ (वत्स) कोच्छ (कच्छ ?) पाढ (पाण्डय) लाढ (राढ) वज्जि (वज्जि) मोली कासी कोसल अवह सम्भुत्तर (सम्भोत्तर ?) । डॉ रायचौधरी न इस सूचियो पर इस प्रकार टिप्पण किया है— 'यह देखा जाता है कि अग मगध वस, वज्जि कासी और कोसल दोनो सूचियो म समान रूप स है । भगवती का मालव कदाचित् अगुत्तर का अवन्ती हो ह । मोली सम्भवतया मल्लो का अपभ्रश है । – रायचौधरी वही 59 60 ।

6 वही प 97 98 दखो लाहा क्षत्रि व वही प 161 ।

मगध के सत्तावाही विशेष राज्यवंशो का विचार करने के पूर्व जैन इतिहास की दृष्टि से मगध की ऐतिहासिक और भौगोलिक महत्ता के सम्बन्ध में कुछ कहना यहा अप्रासंगिक नही होगा। आज के बिहार प्रान्त के पटना और गया जिलो के ही लगभग समान वह मगध था। उसकी प्राचीन राजधानी गया के पास की राजगिर टेकरियों मे आई गिरिव्रज अथवा प्राचीन राजगृह थी।[1] यह राजधानी पाच टेकरियो से सुरक्षित होने के कारण अजेय गिनी जाती थी। "उसकी उत्तर मे वेभारगिरी और विपुलगिरी (पहली पश्चिम, और दूसरी पूर्व ओर), पूर्व मे विपुलगिरी और रत्नगिरि या रत्नकूट, पश्चिम मे वैभारगिरि का चक्र नामक विभाग और रत्नाचल, और दक्षिण मे उदयगिरि सोनगिरि और गिरिव्रजगिरि आए हुए है।"[2] ये सब टेकरिया आज भी जैन इतिहास मे महत्व की है। वैभार, विपुल, उदय और सोनगिरी पर महावीर, पार्श्व और अन्य तीर्थकरो के मन्दिर है।[3]

आगे हम देखेंगे कि महावीर केवल स्वतन्त्र उपदेशक ही नहीं थे, परन्तु अपने महान् धर्मप्रचार के लिए राज्य का प्रत्यक्ष आश्रय और सहानुभूति पा कर राजगृह और उसके मोहल्ले नालन्दा[4] मे उनने चौदह चतुर्मास बिताए थे।[5] कल्पसूत्र का यह उल्लेख मगध के साथ महावीर के वैयक्तिक सम्बन्ध का प्रत्यक्ष प्रमाण है। फिर उसमे दी गई स्थविरावली मे हम जानते है कि उनके ग्यारह गणधर भी अनशन की लम्बी और महान् तपश्चर्या के पश्चात् यहा ही निर्वाण प्राप्त हुए थे।[6]

अब मगध पर राज्य करनेवाले भिन्न भिन्न राज्यवंशो का हम विचार करें। इसका प्रारम्भ हम शैशुनाग वंशीय बिबसार से ही करेंगे। परन्तु ऐसा करने के पूर्व उस कडी की खोज करना भी आवश्यक है कि महावीर के पुरोगामी के युग के जैनधर्म और मगध मे भी कोई सम्बन्ध था या नहीं। 'जैन लेखको ने समुद्रविजय और उसके पुत्र जय का राजगृह के राजो के रूप मे वर्णन किया है।'[7] उन मे से जय जो कि ग्यारहवा चक्रवती कहा गया है, ने उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार हजारो अन्य राजो के साथ ससार त्याग कर सयम आराधना की थी और अन्त मे वह सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गया था।'[8]

जैन इतिवृत्तो की ऐसी अदृढिकृत बातो को एक ओर रखकर हम ज्ञात ऐतिहासिक एव अन्य तथ्यों की ही यहा जैन उल्लेखो के साथ परीक्षा करेंगे। शैशुनाग वशी बिबसार के विषय मे हम देखते है कि जैन ग्रन्थो मे इस

---

1 यह किन्ही अन्य नामो से भी प्रख्यात है। जैसे कि 'दी लाइफ आफ हुएनत्साग" मे लिखा है कि "राजगृह का प्राचीन नगर वह है जो कि उ-शे-की-ला-पो-लो (कुशाग्रपुर) कहलाता है। यह नगर मगध के केन्द्र मे है और प्राचीन काल मे अनेक राजा और महाराजा उसमे निवास करते थे।" —बील, लाइफ ऑफ हुएनत्साग, पृ 113। देखो कनिंघम, वही, पृ 529। भारतीय बौद्ध–लेखको ने इसका एक और भी नाम 'बिंबसारपुरी' भी दिया है। देखो लाहा, वि च, बुद्धघोष, पृ 87, टि 1, रायचौधरी वही, पृ 70।

2 दे, वही, पृ 66। देखो कनिंघम, वही, पृ 530। 3 वही, पृ 530-532।

4 नालन्दा आज का बारगाव ही था जो कि पटना जिले मे राजगिर के उत्तर-पश्चिम मे सात मील पर है। इसमे महावीर का एक रमणीय मन्दिर भी है और इसी मन्दिर के स्थान पर ही सम्भवतया महावीर नालन्दा मे आकर रहे थे। पक्षान्तर मे बुद्ध पावारिका आम्रकुंज मे ठहरे थे। —दे. वही, पृ 137।

5 देखो याकोबी, वही और वही स्थान।

6 वही, पृ 287। 7 रायचौधरी, वही, पृ 72, देखो याकोबी सेबुई, पुस्त 45, पृ 86।

8 अन्निओ रायसहस्सेहि सुपरिच्चई दम चरे। जयनामो जिणक्खाय पत्तो गइमणुत्तर॥ —उत्तराध्ययन, अध्ययन 18, गाथा 43। देखो याकोबी, वही, पृ 85-87, रायचौधरी, वही और वही स्थान।

रायसिंह[1] के इतने अधिक उल्लेख हैं कि उनको देखते हुए इससे इन्कार किया ही नहीं जा सकता है कि वह नातपुत्त और उनके धर्म का अनन्य और नैष्ठिक अनुयायी था। फिर भी उसमें की अनेक बातों की सूक्ष्म परीक्षा करने के पूर्व अन्य आधारों से यह पता लगाना आवश्यक और उपयोगी होगा कि शैशुनाग काल में मगध साम्राज्य का क्षेत्र कितना था क्योंकि धर्म की उन्नति अन्ततः जनता और राज्याश्रय पर ही बहुत कुछ आधार रखती है।

इसके लिए हम मगध साम्राज्य के विस्तार के लिए शैशुनाग राजा के किए युद्धों और राजनैतिक दावपेचों के विवरण में जाना जरा भी आवश्यक नहीं है। हमें तो कौन महाजनपद स्पष्ट रूप से हार गए थे अथवा बिना पराभव मगध का आधिपत्य स्वीकार कर लिया था इतना ही जानना उपयोगी है।

प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में बिंबसार के समय की भारतवर्ष की राजकीय परिस्थिति पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। डा. ह्रिस डेविड्स लिखता है कि छोटे छोटे अनेक बच रहे आभिजातिक गणतन्त्रों के अतिरिक्त चार अधिक व्यापक और सत्ता सम्पन्न गणतन्त्र थे।[2] इनके सिवाय भी छोटे छोटे अनेक गणतन्त्र और कुछ अनाय राज्य भी थे। हम यह तो पहले ही देख आए हैं कि स्वतन्त्र गणों में वैशाली के वज्जि और कुशीनारा एवम् पावा के मल्ल गति महत्व के थे। फिर भी उस समय के राजकीय इतिहास में न तो ये गणतन्त्र और न अन्य राज्य इतने अधिक महत्व के थे जितने कि प्रसेनजित, उदायन, प्रद्योत और बिंबसार शासित क्रमशः कोसल, वत्स, अवन्ती और मगध के चार बड़े राज्य थे।[3]

इनमें के मगध साम्राज्य के वास्तविक संस्थापक बिंबसार अथवा श्रेणिक ने प्रभावशाली पड़ोसी राज्यों में लग्न सम्बन्ध जोड़कर अपनी सत्ता खूब ही दृढ़ कर ली थी। उसमें का एक सम्बन्ध तो उसने वैशाली के प्रभावित लिच्छवियों के साथ और दूसरा कोसल राजवंश के साथ जोड़ा था। कोसल की रानी के दहेज में उसे काशी जिसका एक गांव की आय का एक गांव स्नान सिंगार व्यय के लिए ही दिया गया था।[4] इन दोनों लग्न सम्बन्धों का उल्लेख पहले किया ही जा चुका है फिर भी यहां इतना और कहना आवश्यक है कि ये दोनों ही राजकीय दृष्टि से महत्व के थे क्योंकि उनके द्वारा मगध के उत्तर और पश्चिम में विस्तार का मार्ग ही मुक्त हो गया था। इस दीर्घदर्शी राजनीति से उत्तर पश्चिम के राज्यों का वैर दूर कर बिंबसार को अंग देश की राजधानी चंपा को जीतने का अपना लक्ष्य अबाधित रूप से बनाने का अवसर मिल गया कि जिसे जैसा कि हम देख आए हैं कुछ वर्ष पूर्व ही कौशाम्बी के राजा शतानीक ने जीत कर ध्वंस कर दिया था।[5] अंग को विजय कर बिंबसार ने आत्मसात कर लिया याने अपने राज्य में ही उसे मिला लिया। अंग के मगध में मिला दिये जाने के दिन से ही मगध की महत्ता और भव्यता प्रारम्भ होती है। जैन साहित्य भी इसका समर्थन करता है क्योंकि वह सूचित करता है कि अंग का शासन पृथक प्रदेश रूप में किया जाता था और उसका शासक था मगध का राजकुमार कुणिक और उसकी राजधानी थी चम्पा।[6]

डा. रायचौधरी कहता है कि इस प्रकार बिंबसार ने अंग और काशी का एक भाग अपने साम्राज्य में जोड़

---

1 रायसिंहा —उत्तराध्ययन अध्ययन 20 गाथा 58।

2 ह्रिस डेविड्स बुद्धिस्ट इण्डिया पृ. 1। 3 देखो रायचौधरी वही पृ. 116 120।

4 देखो रायचौधरी वही पृ. 124 प्रधान वही पृ. 214।

5 देखो स्मिथ अर्ली हिस्ट्री ग्राफ इण्डिया पृ. 33।

6 चम्पायां कूणिको राजा बभूव भगवती, सूत्र 300 पृ. 16। देखो द. वएसो पत्रिका 1914 पृ. 322 हेमचन्द्र परिशिष्टपर्वन् सर्ग 4, श्लो. 7 9 रायचौधरी वही, पृ. 125 औपपातिकसूत्र, सू. 6।

कर विजय और उत्कर्ष द्वारा उसका याने मगध का विस्तार इतना बढ़ाया कि वह अशोक के कलिंग विजय कर अपनी तलवार म्यान में रखने पर ही रुका था। महावग्ग में कहा गया है कि बिंबसार का साम्राज्य 80 000 नगरों का था जहां के गामिका याने रक्षक लोग एक महासभा में मिला करते थे।"[1]

श्रेणिक के अनुगामी अजातशत्रु याने कूणिक के काल में मगध साम्राज्य की सत्ता उन्नति के शिखर पर पहुंच गई थी। उसने कोसल को भी नमा लिया था और काशी को अपने साम्राज्य में मिला लिया था. इतना ही नहीं अपितु जैनों के अनुसार, उसने वैशाली के राज्य को भी मगध के साम्राज्य में जोड़ लिया था।[2] कोसल के साथ हुए युद्ध के फल स्वरूप, अपने पिता की ही भांति अजातशत्रु को भी कोसल की राजकन्या, प्रसेनजित की पुत्री वजिरा से विवाह हो गया था और उसके दहेज में काशी जिले का शेष भाग भी मिल गया था। इस प्रकार उसने अपने पड़ोसी कोसल राज्य में सम्भवतया वास्तविक प्रभावकता प्राप्त कर ली थी। चूंकि स्वतन्त्र सत्ता के रूप में इस कोसल का परवर्ती काल में वर्णन नहीं मिलता है इससे यह निश्चय सा ही है कि वह मगध साम्राज्य का ही एक सपूरक अंश बन गया होगा।[3] कुछ भी हो, वैशाली और मल्लकी आदि उसके मित्र राज्यों पर भी कूणिक की विजयों कि जिसमें काशी कोसल भी आ गए थे मगध साम्राज्य के विस्तार की दृष्टि से पूर्ण निर्णयात्मक और अत्यन्त फलप्रद रही थी।[4]

डॉ स्मिथ कहता है कि "यह माना जा सकता है कि विजेता ने पर्वत की तलेटी रूप स्वाभाविक सीमा तक अपना हाथ लम्बा फैला दिया होगा। और फलस्वरूप गंगा और हिमालय के बीच का समग्र देश कमोवेश रूप में मगध की सीधी सत्ता के नीचे आ गया होगा।"[5] पहले से ही उसको मगध साम्राज्य के विस्तार में रुकावट डालने वाले लिच्छवी प्रतीत हुए होंगे और इसी लिए हम उसे यह दृढ़ निश्चय करता हुआ देखते हैं कि "मैं इन वज्जियों को चाहे जितने ही बली ये क्यों न हों फिर भी जड़मूल से उखाड़ दूंगा। मैं इन वज्जियों को नष्ट करूंगा। मैं इन वज्जियों का सर्वनाश करूंगा।"[6] इस प्रकार कोसल, लिच्छवी और वज्जियों के साथ के

---

1 रायचौधरी, वही, पृ वही। देखो प्रधान, वही पृ 213–214।

2 वज्जी विदेहपुत्ते वइत्था, नवमल्लई नवलेच्छई कासीकोसलगा अट्ठारसवि गणरायाणो पराजइत्था॥ भगवती, सूत्र 300, पृ 315। देखो आवश्यकसूत्र पृ 684, हेमचन्द्र त्रिषष्टि-शलाका, पर्व 10 श्लो 29 पृ 168. रायचौधरी वही, पृ 126–127।

3 देखो स्मिथ, वही, पृ 37 रायचौधरी, वही, पृ 67, प्रधान वही, पृ 215।

4 भगवती में उल्लेख है कि वैशाली के युद्ध में अजातशत्रु ने महाशिलाकण्टक और रथमुशल का प्रयोग किया था। पहला यन्त्रचालित प्रक्षेपणास्त्र था और वह बड़ी-बड़ी पाषाण खण्ड शत्रुओं पर फेंकता था। दूसरा रथास्त्र था जिसमें मूशल लगा रहता था और जब रथ इधर से उधर दौड़ता तो वह मूशल योद्धा सैनिकों को धराशायी कर देता था। इनके विस्तृत विवरण के लिए देखो भगवती, सूत्र 300, 301, पृ 316, 319। देखो हरनोली, वही, परिशिष्ट 2, पृ 59–60 रायचौधरी वही पृ 129, टानी, कथाकोश, पृ 179।

5 स्मिथ, वही और वही पृष्ठ। कूणिक-अजातशत्रु ने लिच्छवियों, मल्लकियों और काशी-कोसल के अठारह महाजनपदों से सोलह पर्वतक चलते रहनेवालों से युद्ध करता रहा था और अंत में वह इनका विनाश करने में में सफल हो गया था जैसा कि उसने निश्चय किया था हालांकि उसका युद्धोद्देश अवरुद्ध था।' प्रधान, वही पृ 215–216। देखो हरनोली वही परिशिष्ट 1 पृ 7।

6 सेबुई, पुस्त 11 पृ 1, 2। देखो लाहा, बि च, सम क्षत्रिय ट्राइब्स ऑफ एंशेंट इण्डिया, पृ 111 मगध और वैशाली के वैमनस्य के विस्तृत विवरण के लिए देखो वही, पृ 11-16।

उसके युद्ध आकस्मिक नहीं अपितु वे मगध साम्राज्य के विस्तार की सामान्य योजना के ही परिणाम थे।

इन युद्धों के फलस्वरूप वैशाली विदेह काशी और अन्य राज्यों को मिला कर मगध के महत्वाकांक्षी राजा को उतने ही महत्वाकांक्षी अवंती के राजा प्रद्योत के विरुद्ध होना पड़ा था। हम जानते ही हैं कि अवन्ती का सिंहासन इस समय चण्ड प्रद्योत महासेन सुशोभित कर रहा था। पड़ोसी राज्य उसमें भयाक्रान्त थे इसका समर्थन मज्झिमनिकाय के एक वक्तव्य से भी होता है जो कहता है कि अजातशत्रु ने राजगृह में मोर्चाबन्दी इसलिए करवाई थी कि उसे प्रद्योत द्वारा अपने साम्राज्य पर आक्रमण का भय था।[1] यह अशक्य भी नहीं था क्योंकि अंग एवम् वैशाली के पतन और कौसल के पराभव के पश्चात् अवंती ही मगध का प्रमुख प्रतिद्वंद्वी रह गया था।

इस प्रकार कूणिक के समय में पूर्व भारत के प्राय सब गणतंत्र और राज्य मगध में मिला लिए गए थे। उसके पुत्र और अनुगामी उदायिन के काल में जैन कथानकों के अनुसार मगध और अवंति परस्पर विरोध में आमने सामने आ गए थे। स्थविरावली चरित और अन्य जैन ग्रन्थों से हमें मालूम होता है कि उदायिन भी एक अच्छा शक्तिशाली राजा था। उसने एक राज्य के राजा को युद्ध में मार और हरा दिया था और इस राजा का पुत्र उज्जयिनी चला गया था और वहां उसने अपनी दुखद गाथा कह सुनाई एवं राजा की सेवा भी स्वीकार कर ली। अन्त में इस पदभ्रष्ट कुमार ने अवंतीपति की कृपा प्राप्त कर ही ली यही नहीं पर उसकी सहायता प्राप्त कर जैन साधु के वेश में, उसने उदायिन की जब कि वह सोया हुआ था एक दिन हत्या कर ही दी। यह दन्त-कथा अधिक नहीं तो इतना तो प्रकाश डालती ही है कि अवंती और मगध के बीच में प्रतिद्वन्द्विता के भाव सजग थे और दोनों ही उत्तर भारत में सार्वभौम सत्ता प्राप्त करने के पूर्ण अभिलाषी थे।[3]

फिर अवंतीपती की समान आक्रामक नीति से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों में कलह का कारण उत्तर भारत की सार्वभौमता ही था। कथासरित्सागर और अन्य जैन दन्तकथाओं से मालूम होता है कि इस समय कौसाम्बी राज्य भी प्रद्योत के पुत्र[4] अवंतीपती पालक[5] के राज्य में मिला लिया गया था। इस प्रकार अजातशत्रु के समय में प्रारंभ हुआ अवंती मगध का यह कलह उदायिन के राज्य में भी चल रहा था। इस कलह का अन्त शिशुनाग के नेतृत्व में मगध के लाभ में हुआ कि जिसने पुराणों के अनुसार, प्रद्योत के उत्तराधिकारी वंशजों के प्रभाव और प्रतिष्ठा को नष्ट कर दिया था।[6] हालांकि जैन कथानकों के अनुसार उदायिन के हाथों अवन्ती का बराबर पराजय ही होता रहा था।[7]

यहां एक समस्या यह खड़ी हो जाती है कि मगध में उदायिन का उत्तराधिकारी कौन हुआ था। परन्तु हमें भारतीय इतिहास के इन विवादास्पद और अब तक भी अनिर्णीत तथ्यों की विवेचना में जाने की जरा भी आवश्यकता नहीं है। हमारे लिए तो इतना ही पुनरावर्तन कर देना पर्याप्त है कि मगध और अवंती का यह

---

1 देखो रायचौधरी, वही पृ 123, प्रधान वही पृ 216।

2 अभून्महतो नित्यमवंतीशोऽप्युदायिन —हेमचन्द्र परिशिष्टपर्वन् सर्ग 6 श्लो 191। देखो आवश्यकसूत्र पृ 609। देखो प्रधान वही पृ 217।

3 देखो हेमचन्द्र वही श्लो 189-190 208 आवश्यकसूत्र वही और वही स्थान।

4 देखो रायचौधरी वही पृ 131।

5 उज्जयिन्या प्रद्योतसुतौ द्वौ भ्रातरा पालका आदि आवश्यकसूत्र पृ 699।

6 प्रधान वही पृ 217। देखो रायचौधरी वही, पृ 132।

7 उज्जयिना राजा बहुश परिभूयते उदायिना। आवश्यकसूत्र पृ 690।

कलह अन्तत मगध के लाभ मे किसी शैशुनाग[1] के नेतृत्व मे समाप्त हो गया था कि जो शिशुनाग या नन्दिवर्धन नाम से प्रख्यात था अथवा उनका पूरा नाम, जैसा कि प्रधान कहता है नन्दिवर्धन-शिशुनाग था।[2]

शैशुनागो के काल मे मगध साम्राज्य के विस्तार व उत्कर्ष का परिचय प्राप्त कर लेने पर हम सक्षेप मे उसका जैनधर्म के साथ सम्बन्ध अब देखें। यहा यह बात ध्यान मे रखने की है कि जो भी अब तक कहा गया है और आगे जो कुछ भी कहा जाने वाला है उन राजो और राजवशो को जहा जैनी जैन और जैनधर्म के आश्रयदाता एव सहायक कहते है उन्हे बौद्ध भी अपने और अपने धर्म के लिए वैसे ही मानते हैं। भारतीय इतिहास की इस परिस्थिति के अनेक कारण हैं जिनमे विस्तार मे जाना हमारे लिए आवश्यक नही है क्योकि ऐसा कर हम किसी ऐसे मानदण्ड का निर्णय नही कर सकते है कि हम निश्चित रूप से कह सके कि अमुक-अमुक राजा बौद्ध धर्म मानता था और अमुक-अमुक जैनधर्म। शिलालेख और अन्य प्रमाणिक ऐतिहासिक अभिलेखो की साक्षी के बिना कोई भी वस्तु ऐतिहासिक तथ्य रूप से प्रस्तुत नही की जा सकती है और जहा धर्मशास्त्र और साहित्यक एवम् लोकिक दन्तकथाए ही आधार रूप हैं वहा तो शुद्ध सत्य का पता लगाना थोडा भी सहज नही है।

पहले बिबसार अथवा जैनो के श्रेणिक को ही लीजिए। उसके विषय मे बौद्धो का चाहे जो भी कहना हो, फिर भी जैनो द्वारा प्रस्तुत प्रमाण उसे महावीर का भक्त सिद्ध करने को पर्याप्त है। उसके और उसके उत्तराधिकारी के सम्बन्ध मे जैनो ने इतना अधिक लिखा है कि जैनधर्म के साथ उनका सम्बन्ध बताने के लिए उनके कार्यकाल की बातो के विषय मे बहुत कुछ कहना आवश्यक है। उत्तराध्ययनसूत्र कहता है कि एक समय श्रेणिक ने महावीर को यह पूछा कि "यद्यपि आप युवान है, फिर भी आपने दीक्षा ले ली है, जो अवस्था भोग विलास की है उसमे आप श्रमण हो कर कठोर जीवन बिता रहे है। हे महान् तपस्वी। मैं इस विषय मे आपका स्पष्टीकरण सुनने को उत्सुक हू।"[3]

यह सुनकर नातपुत्त ने एक लम्बा स्पष्टीकरण किया और राजा को उसे सुनकर इतना सन्तोष हुआ कि उसने अपने हार्दिक भाव इन शब्दो मे व्यक्त किए 'आपने मनुष्य जन्म का उत्तमोत्तम उपयोग किया है। आप एक सच्चे जैन बन गए हैं। हे महासयमी आप मनुष्य मात्र के और अपने स्वजनो के सरक्षक है क्योकि आपने जिनो का सर्वोत्तम मार्ग ग्रहण कर लिया है। आप सब अनाथो के नाथ है हे महा तपस्विन्। मैं आपकी क्षमा का प्रार्थी हू, मेरी प्रार्थना है कि आप मुझे सत्य मार्ग पर झुकाए। आपसे यह सब प्रश्न कर मैंने आपके ध्यान मे खलल पहुचाया है और मैंने आपको भोग भोगने का आमत्रण दिया है, इस सब की मैं आपसे क्षमा मागता हू आप मुझे क्षमा करें।"[4]

अन्त मे उत्तराध्ययन ठीक ही सवरण करता है कि "जब रायसिह ने इस प्रकार परम परम भक्ति से उस श्रमणसिह की स्तुति की और तब से ही वह विशुद्ध चित्त होकर अपने अन्त पुर की सब रानियो दास-दासियो स्वजनो एवम् सकल कुटुम्बी जनो सहित जैनधर्मानुयायी बन गया था।[5]

---

1 देखो प्रधान, वही, पृ 217, 220, रायचौधरी, वही, पृ 133-134।

2 देखो प्रधान, वही, पृ 220, रायचौधरी वही, पृ 132-133।

3 याकोबी, सेबुई, पुस्त 45, पृ 101। 4 वही, पृ 107।

5 एव थुणित्ताण स रायसीहो अणगारसीह परमाइ भत्तिए। उत्तराध्ययनसूत्र अध्या 20, गाथा 58 देखो याकोबी, वही और वही स्थान।

हम देख ही आए हैं कि बिंबसार का विवाह वर्धमान के मामा चेटक की पुत्री चेल्लणा से हुआ था। अपनी माध्या हुई कुछ भगिनियों और अपना भुआ तीर्थंकर की माता त्रिशला के सम्बन्ध के कारण चेललणा बिंबसार के परिवार में सर्वाधिक महावीर से प्रभावित हुई थी।[1] उसका यह झुकाव तब और भी दृष्टव्य हो जाता है जब हम जानते हैं कि बिंबसार के उत्तराधिकारी अजातशत्रु की माता के रूप में वह मगधपति की पटरानी या अग्रमहिषी भी होना चाहिए। यही कारण है कि दिव्यावदान में एक स्थान पर अजातशत्रु को वेदेहीपुत्र और दूसरे स्थान पर राजगृह में राजा बिंबसार राज्य करता है लिखा पाते हैं। वैदेही उसकी महादेवी यानि पटरानी है और अजातशत्रु उसका पुत्र और राजकुमार।[2]

फिर चेल्लणा को सामान्यतः बौद्धग्रन्थों में वेदेही कहा गया है और उसके कारण ही अजातशत्रु बहुधा वेदेहीपुत्तो अथवा विदेही राजकुमारी का पुत्र कहा गया है। इतने पर भी कुछ टीकाग्रन्थ उदाहरणार्थ थुस और तच्छसूकर जातकों में कहा गया है कि अजातशत्रु की माता कोसल के राजा की भगिनी थी। परन्तु यहां टीकाकार बिंबसार की दो रानियों के बीच कुछ भ्रम में पड़ गए दीखते हैं।[3] जैनों की इस मान्यता में सन्देह करने का कोई भी कारण नहीं है कि कूणिक चेल्लणा के अनेक पुत्रों में से एक और ज्येष्ठ पुत्र था और वह भी महावीर की भांति ही वेदेहीपुत्तो उचित ही कहा जाता था।[4]

चेल्लणा और कोसलदेवी के सिवा भी बिंबसार के अनेक और रानियां थीं इसका जैन एवं बौद्ध दोनों ही आधारों से समर्थन होता है।[5] तदनुसार कूणिक हल्ल विहल्ल इन तीन चेल्लणा के पुत्रों के अतिरिक्त भी उसके अनेक पुत्र थे जिन सबके नाम दोनों ही इतिवृत्तों में मिलते हैं चाहे वे नाम आपस में मिलते हुए हों या नहीं यह बात दूसरी है।[6] श्रेणिक के इन पुत्रों और रानियों के विषय में जैनों का कहना है कि अधिकांश ने महावीर भगवान् से दीक्षा ले ली थी और सिद्ध बुद्ध और मुक्त हो गए थे। जैनों का यह दावा कुछ अपवादों को छोड़,

---

1 एकदा च प्रवृत्त शिशिरर्तु भयंकर। तदा ॥ द या चेल्लणया सार्धं नृप। वीर ॥ वन्दितुमा ययौ॥ हेमचन्द्र त्रिषष्टि शलाका पर्व 10 श्लो 6 10 11 पृ 86। एकदा जब कि देश में भयंकर शीत पड़ रहा था राजा चेल्लणा सहित महावीर को वंदन करने गया। टानीपवाही प 175। इस विषय से अधिक संदर्भों के लिए देखो वही प 239।

2 राजगृहे राजा बिंबिसारो तस्य वैदेही महादेवी अजातशत्रु पुत्र कावेल और नील दिव्यावदान पृ 545। देखो वही पृ 55 लाहा वि च वही, पृ 107।

3 लाहा वि च वही प 106। संयुत्तनिकाय भाग 2 पृ, 268, रायचौधरी वही पृ 124 ह्विस डेविड्स सर्हि भाग 1 प 183।

4 लाहा, वि च वही, प वही। देखो थुसमूल जातक भाग 3 पृ 121, और भा 4 प 342 रायचौधरी वही और वही स्थान ह्विस डेविड्स वही पृ 183 श्रीमती ह्विस डेविड्स दी बुक आफ दी किन्ड्रेड सेइंग्स भाग 1 प 109 टिप्पण 1।

5 कोणिक चेल्लणाया उदर उत्पन्न आवश्यकसूत्र प 678 विदेहपुत्ते जइत्था। भगवती सूत्र 300 प 315 विदेहपुत्तेति कोणिक, वही सूत्र 301 पृ 317। देखो ह्विस डेविड्स बुद्धीस्ट इण्डिया पृ 3 प्रधान वही प 212।

6 देखो भगवतीसूत्र सूत्र 6 पृ 11। अनुत्तरदशांगसूत्र सूत्र 16 17 प 25 चारपेन्टर वही पृ 97।

7 देखो आवश्यकसूत्र प 679, रायचौधरी वही पृ 126। 'बिंबिसार ने अनेक राज्यों के राजाओं से विवाह सम्बन्ध जोड़ कर संधियां कर ली थीं। ऐसा करना प्राचीन भारतवर्ष में एक सामान्य बात थी, यह निश्चय ही कहा जा सकता है। यशोप्रसाद, दी स्टेट इन एंशेंट इण्डिया प 163।

एकदम असत्य आधार पर नहीं है ।[1] इसमे अविश्वास अथवा आश्चर्य की कोई भी बात नहीं है कि महावीर के ही सगे सम्बन्धियो ने त्रस्त मानवो के समक्ष प्रस्तुत किए हुए उनके महान् सन्देह मे सजीव रुचि दिखाई हो । महावीर और उनके राजा अनुयायियो के इस निकट सम्बन्ध की बात को छोड दे तो भी श्रेणिक[2] सम्बन्धी जैनो की साहित्यिक और काल्पनिक दन्तकथाए इतनी विभिन्न और इतनी अभिलिखित है कि वे महान् आश्रयदाता राजा[3] के असीम सम्मान की पूरी पूरी साक्षी देती है कि जिन की ऐतिहासिकता, यह सौभाग्य की ही बात है कि शका से दूर है ।

अब हम कूणिक का विचार करें । यहा हम देखते हैं कि उसके पिता श्रेणिक जितने वे इसके विषय मे वाग्मी नही है हालाँकि उसके जीवन से सम्बन्धित प्रायःसभी घटनाओ पर प्रकाश डालने वाला प्रचुर साहित्य हमे उपलब्ध है ।[4] इस बात को बाजू रख देने पर भी उसकी जीवनी की जो बात अत्यधिक स्पष्ट है वह है इसमहान् सम्राट का बौद्धो और जैनो दोनो के प्रति ही रूख । यह प्रसग मगध के सिहासन से भवधित है । बौद्ध यह निश्चित रूप मे कहते हैं कि जब बिबिसार को उसका पुत्र अजातशत्रु खजरद्वारा मारनेवाला ही था, उसने शासन का भार उसे सौप दिया यद्यपि राज्याधिकारियो ने उसे याने श्रेणिक को बचा लिया था फिर भी अजातशत्रु ने उसे भूखा रख कर मार ही दिया और उसकी मृत्यु को पश्चात् अपनी इस पाप का प्रायश्चित उसने बुद्ध के सामने पश्चात्ताप कर किया ।[5] पश्चान्तर मे जैन इसी घटना का वर्णन एकदम दूसरी ही प्रकार करते है । उनके अनुसार बौद्धो के पितृघाती अजातशत्रु ने अपने पिता को यद्यपि बन्दी अवश्य ही कर लिया था और उसे कारावास मे दुःख भी दिया था, फिर भी श्रेणिक का निधन ऐसी परिस्थितियो मे हुआ कहा गया है कि जो पिता और पुत्र दोनो के ही प्रति घृणा की अपेक्षा हमारी समवेदना व सहानुभूति ही जगाती है, पिता के प्रति उसकी असामयिक मृत्यु के कारण और पुत्र के प्रति उसके शुभसकल्प को पिता द्वारा गलत समझ लिए जाने के कारण ।

---

1 देखो आवश्यकसूत्र, पृ 679; अनुत्तरोववाइयदसाओ, सूत्र 1, 2, पृ 1–2; वारन्यैट, वही, पृ 110–112, रायचौधरी, वही, पृ वही, प्रधान, वही, पृ 213 ।

2 सेणियमज्जाण...सिद्धा । अतगडदसाओ, सूत्र 16–26, पृ. 25–32 । देखो वारन्यैट वही, पृ 97–107, आवश्यकसूत्र, पृ 687, हेमचन्द्र, वही, श्लो 406, पृ 171 । श्रेणिक के पुत्रो मे से हल्ल, विहल्ल, अभय, नदिषेण, मेघकुमार आदि ने महावीर के साधूसघ के साधू ही गए थे, देखो अनुत्तरो ववाइयदसाओ, सूत्र 1, पृ 1 । वही, सूत्र 2, पृ 2, वारन्यैट, वही, पृ 110–112, आवश्यकसूत्र, पृ 682, 685 ।

3 श्रेणिक के महावीर प्रति भक्ति के लिए देखो सेणिय राया, चेल्लणा देवी ॥ . परिसा निग्गया, धम्मो कहिओ । भगवती, सूत्र 4, 6, पृ 6, 10, मेहस्स कुमारस्स अम्मापियरो...समण भगव महावीर ..वदति नमसति एव वदासी.. अम्हे ण देवाणुप्पियाण सिस्सभिक्ख दलयामो । ज्ञातसूत्र, सूत्र 25, पृ 60 । देखो कल्पसूत्र, सुबोधिका-टीका, पृ 20 । (श्रेणिक,) राजा भणति अह युष्मासु नाथेषु कथ नरक गमिष्यामि ? आवश्यकसूत्र, पृ 681 । इस प्रकार के और भी अनेक सदर्भ श्रेणिक सम्बन्धी जैन आगमो मे से सकलित किए जा सकते है, परन्तु हमारे लिए इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि जैन श्रेणिक का अनागत चौवीसी के प्रथम तीर्थ कर के रूप मे बहुत पूजते है । श्रेणिकराइजीव पद्मनामो जिनेश्वर । हेमचन्द्र, वही, श्लोक 189 । देखो टानी, वही, पृ 178 ।

4 जैनो का पहला उपाग, औपपातिक सूत्र सारा का सारा अजातशत्रु सम्बन्धी ही है । इसके सिवा इसके सदर्भ भगवती, उवासगदाओ, अतगडदसाओ और अन्य अनेक स्थानो मे मिलते हैं । कूणिक पर जैनो ने पूरे विस्तार के साथ लिखा है ।

5 प्रधान, वही, पृ 214 । देखो राकहिल, वही, पृ 95 आदि, ह्रिस डेविड्स डायलोग्स आफ दी बुद्धा, भाग 1, पृ 94, रायचौधरी, वही, पृ 126–127, श्रीमती ह्रिस डेविडस वही, पृ 109–110 ।

यह कथा जैनों के अनुसार संक्षेप में इस प्रकार है। श्रेणिक ने अपने मन में कुणिक को अपना उत्तराधिकारी बनाने का निश्चय तो कर लिया था फिर भी कुणिक अधीर और सशंक हो गया था और अपने बल आदि भाइयों की सम्पत्ति पूर्वक उसने पिता को बन्दी बना ही लिया। कारावास में बिंबसार के साथ बहुत ही बुरा सलूक किया। परन्तु राजा के आराम का पूरा पूरा ध्यान रानी चेलणा रखती थी जो कि कुणिक की माता थी। एकदा ऐसा हुआ कि जब अपने पुत्र उदायिन को गोद में लिये हुए कुणिक भोजन कर रहा था पुत्र का मूत्र भोजन के थाल में गिर गया। कुणिक इसकी रंचमात्र चिंता नहीं करते हुए उसमें से भोजन करता ही रहा। भोजन के पश्चात् उसने अपनी माता चल्लेणा से जो सब उसके पास ही बैठी थी पूछा कि "हे माताजी क्या किसी भी मनुष्य ने अपने पुत्र को इतना अधिक प्यार किया है?" उत्तर में उसकी माता ने कहा, हे पापी राक्षस सुन! तेरा जन्म हुआ तब मैंने तुझे अशोकवाडी में इसलिए फेंक दिया था कि तू क्रूर ग्रहवाला था। जब तेरे पिता को इस बात का पता लगा तो स्वयम् अशोकवाडी में जाकर वे तुझे ले आए और इसलिए तेरा नाम भी अशोकचन्द्र रख दिया गया। वहां किसी कुक्कुट ने तेरी एक अंगुली कुतर ली थी। और इसलिए तुझे नखशूल हो गया। अन्य लोगों ने तेरा नाम कुणिक रख दिया। जब अंगुली का नखशूल पक गया था तो तुझे उसकी असह्य वेदना हो रही थी। तेरे पिता ने तब तेरी उस अंगुली को हाथ कि उसमें से पीप निकल रहा था फिर भी अपने मुंह में रख ली जिससे तुझे शांति मिली और तेरा रोना बंद हो गया। तेरे पिता तुझे कितना अधिक चाहते थे। कुणिक ने जब यह सब सुना तो उसे खूब ही पश्चात्ताप हुआ। वह कहने लगा कि 'हाय! मैंने मेरे पिता को यह क्या बुरा बदला दिया है?' बस वह तुरन्त अपने पिता की बेडियां तोडने के लिए लोह का एक घण लेकर बन्दीगृह की ओर दौड पडा। वह पहुंचे उस पूर्व ही कारावास रक्षकों ने श्रेणिक को सूचना दे दी कि बहुत अस्थिर चित्त हुआ कुणिक हाथ में लोह का घण लिये आ रहा है उसका क्या विचार है वह कुछ भी नहीं कहा जा सकता है।" यह सब सुनते ही श्रेणिक का विचार हुआ कि अब वह अवश्य ही मुझे दुष्ट रीति से हत्या कर देगा। बस उसने स्वयम् तालपुट विष खा लिया और बेडी तोडने को कुणिक उस तक पहुंचे उस पूर्व ही उसने इस प्रकार आत्म हत्या कर ली। पिता की मृत्यु की इस घटना से कुणिक अत्यन्त दुःखित हुआ। उसके अधिकारियों ने बहुत कुछ उसे प्रार्थना की और सांत्वना दिलाई फिर भी उसने न तो स्नानादि किया और न भोजन ही। पिता का शोक वह जब किसी प्रकार भुला नहीं सका तो उसने राजगृह से हटाकर चंपा को ही अपनी राजधानी बना ली।[1]

जैनों का प्रस्तुत किया कुणिक के जीवन का यह प्रसंग सिद्ध करता है कि उसने श्रेणिक का वध नहीं किया था और न उसे उसने भूखा रख कर ही मार दिया था। अतः हम इसलिए कह सकते हैं कि उक्त विवरण में कोई भी अस्वाभाविक या असम्भव बात नहीं कही गई है। फिर यह वर्णन यह भी स्पष्ट बता देता है कि जैनों के प्रति कुणिक की सुदृष्टि थी। यदि ऐसा न होता तो वे भी बौद्धों की ही भांति उसके जीवन के इस दुर्भाग्यपूर्ण प्रसंग का कोई कवच वर्णन ही देते।[2]

---

1 देखो आवश्यकसूत्र पृ 682 6833 हेमचन्द्र, वही पृ 161 164 टानी वही पृ 176 178।

2 कदाचित् ऐसा हो कि यह कथा साम्प्रदायिक विद्वेष या शास्त्रीय मतभेद जनित दारुण अप्रीति का फल हो कि जिसने प्राचीन भारतवर्ष के इतिहास को झुठलाने की भरसक चेष्टा की है। बाद में जब अशोक का आश्रय व संरक्षण पाकर बौद्ध धर्म उत्तर भारत में बहुत ही प्रचार और प्रसिद्धि पा गया तो धर्माचार्य प्रतिवादियों को दृष्टि में जैनधर्म का ओर झुकाव अपराध तक हो गया और इसीलिए इन लोगों को स्मृतियों को काली में काली रंगने के लिए वे उन पर बेबुनियाद घोरातिघोर दोष लगाने लगे कि जिन्हें वे विरोधी मतवाले बहुत और मानते थे। —स्मिथ वही, पृ 33 37।

हमारा यह अनुमान दृढता से तब समर्थित हो जाता है जब कि हम बौद्ध ग्रन्थो मे यह पढते है कि अजातशत्रु पिता की हत्या करने या कराने के लिए देवदत्त बुद्ध के एक समय के शिष्य पर । फिर कट्टर शत्रु, द्वारा उकसाया गया था । यह देवदत्त इसलिए "बौद्ध कथा का जूडास इस्करियट" याने बौद्ध का विश्वासघातक शिष्य ही था ।[1] फिर इस बौद्ध कथा पर कि कूणिक ने बुद्ध के समक्ष अपने इस न्यायकृत्य का पश्चाताप किया था, टीका करते हुए डॉ ह्रिस डेविड्स कहता है कि वातचीत के अन्त मे राजा ने बुद्ध को भविष्य के लिए अपना मार्गदर्शक स्वीकार किया और अपने पिता की हत्या का पश्चात्ताप प्रकट कियाकहा जाता है । परन्तु यह स्पष्ट कहा गया है कि वह बौद्ध धर्मी नही हो गया था । ऐसा कोई भी प्रमाण उपलब्ध नही है कि उसने वस्तुत उसी क्षण से जबकि उसके हृदय मे अशाति और पश्चात्ताप होने लगा, बौद्धधर्म पालन करना शुरू कर दिया था । जहा तक हम जानते है वह न तो बुद्ध के पास और न उनके सघ के किसी अन्य जन के पास धर्म और नीति के मामलो मे विचार-विनिमय के लिए कभी भी गया था, इतना ही नही अपितु बुद्ध के जीवन काल मे उनके सघ को उसने किसी भी प्रकार की आर्थिक सहायता दी ऐसा भी हम नही सुनते है ।'[2]

बुद्ध और अजातशत्रु परस्पर मे एक दूसरे के प्रति कैसे विचार रखते थे इसका बौद्ध साहित्य मे स्पष्ट उल्लेख मिलता है । एक उल्लेख मे कहा है कि 'फिर देवदत्त राजकुमार अजातशत्रु के पास गया और बोला 'हे राजन्' हमारे मनुष्यो को तुम ऐसी आज्ञा देओ कि मै श्रमण गौतम को जीवन से मुक्त कर दू', और अजातशत्रु राजकुमार ने अपने सेवको को आज्ञा दे दी कि 'जो पूज्य देवदत्त तुमसे कहे, वैसा करना ।'[3]

उपर्युक्त अश - वान् बुद्ध के सामने कुणिक ने कैसा पश्चात्ताप किया था, स्पष्ट ही बताता है । फिर बुद्ध भी कुणिक के प्रति कैसे विचार रखते थे यह निम्न उद्धरण से व्यक्त होता है · 'हे भिक्षुओ ! मगधराज अजातशत्रु' प्रतिष्ठित राजकन्या का पुत्र जो कुछ भी बुरा या पाप है उसका मित्र, उससे घनिष्ट है ।'[4]

पक्षान्तर मे औपपातिक और अन्य जैन ग्रन्थो मे लिखा है कि कुणिक वारवार अपनी रानियो और भारी परिषदवर्ग के साथ नातपुत्त को वन्दन करने जाता था । वैशाली के राजा चेटक और चम्पा के दधिवाहन के प्रसंगो मे जैसा कि कहा जा चुका है, कुणिक एक से अधिक वार महावीर के ससर्ग मे आया था और जैनधर्म के प्रति सम्पूर्ण सम्मान और प्रतिष्ठा उसको थी ।[5] उसका महावीर के प्रति प्रेम और जिन प्ररूपित धर्म के प्रति उसकी श्रद्धा वर्धमान और उनके शिष्यो के समक्ष उच्चारित उसके नीचे के शब्दो से स्पष्ट व्यक्त होती है 'हे भगवत

---

1 ह्रिस डेविड्स, बुद्धीस्ट इण्डिया, पृ 13-14 । देखो ह्रिस -विचड् और ओल्डनवर्ग, सेबुई, पुस्त 20, पृ 238-265 । और देवदत्त अजातशत्रु के पास गया और उसको कहा 'प्राचीन काल मे, हे राजकुमार ! लोग दीर्घायुषी होते थे, परन्तु अब आयु की अवधि घट गई है । इसलिए यह वहुत ही सम्भव है कि तुम राजकुमार रहते रहते ही अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दो । अत हे राजकुमार ! अपने पिता को मार कर तुम राजा बन जाओ और मै परम पूज्य को मार दू गा और बुद्ध बन जाऊगा ।" –वही, पृ 241 ।

2 ह्रिस डेविड्स, वही, पृ 15 । 3 विनय येष्ट्स, भाग 3, पृ 243 ।

4 श्रीमती ह्रिस डेविड्स, वही, पृ 109 ।

5 देखो औपपातिकसूत्र 12, 27, 30, पृ 24, 25, 57, 58, 59, 63, 64, श्रीमती स्टीवन्सन, वही, पृ 40 हेमचन्द्र, परिशिष्टपर्वन, सर्ग 4, श्लो 1, 9, 33, 35, आवश्यकसूत्र, पृ 684, 687, हरनोली, वही, भाग 2, पृ 9 ।

आपने सत्य ही कहा है,सत्यधर्म का मार्ग आपने दिखाया है, मोक्ष और शांति का आपका मार्ग अद्वितीय है।[1]

कुणिक के उत्तराधिकारी उदय अथवा उदायिन के विषय में जैन एवं बौद्ध अनेक दंतकथाएं प्रस्तुत करते हैं। इन दंतकथाओं को निर्देश करते हुए डा. रायचौधरी कहते हैं कि पुराणों के अनुसार अजातशत्रु का उत्तराधिकारी दर्शक था।[2] प्रो. गीगर अजातशत्रु के पश्चात् दर्शक के नाम का प्रवेश मूल मानता है क्योंकि पाली शास्त्रों में असंदिग्ध रूप से उल्लेख है कि उदायीभद्र अजातशत्रु का पुत्र था और सम्भवतया उसका उत्तराधिकारी भी।[3] यद्यपि मगधराज के रूप में दर्शक के अस्तित्व की वास्तविकता भास के स्वप्न वासवदत्ता के आविष्कार से प्रमाणित हो जाती है फिर भी बौद्ध एवम् जैन साक्षियों के समक्ष यह विश्वास के साथ नहीं कहा जा सकता है कि अजातशत्रु का निकटस्थ उत्तराधिकारी था।[4]

जिस जैन साक्षी का विद्वान डाक्टर ने निर्देश किया है वह हरिभद्रसूरि की आवश्यकटीका[5] और हेमचन्द्र के त्रिषष्टि शलाका एवम् परिशिष्ट पर्वन[6] और टानी का कथाकोश[7] है। इन ग्रन्थों में अभिलिखित दंतकथाएं पाली धर्मशास्त्रों की दंतकथाओं से मेल खा जाता है। डा. प्रधान के शब्दों में महावंश के अनुसार अजातशत्रु को उसके पुत्र उदायीभद्र ने हत्या कर दी थी।[8] पर स्थविरावली चरित्र में कहा गया है कि उदायिन को पिता अजातशत्रु की मृत्यु पर इतना अधिक शोक और दुःख हुआ कि वह चंपा से उठाकर राजधानी ही पाटलीपुत्र ले गया था।[9]

इस जैन दंतकथा को वायुपुराण भी समर्थन करता है क्योंकि उसके अनुसार उदायी ने अपने राज्यकाल के चौथे वर्ष में[10] कुसुमपुर (पाटलीपुत्र[11]) का नगर बसाया था और इसलिए यह निश्चित सा ही है कि उदायिन

---

1 तए णं कूणिए राया महावीरं वदति एवं वयासी–सुयक्खाए ते भंते आदि—औपपातिक सूत्त 36 पृ 83।

2 देखो पार्जीटर डाइनेस्टीज आफ दी कलि एज पृ 21 69 प्रधान वही पृ 210।

3 देखो गीगर महावंश परिच्छेदो 4 गाथा 1–2।

4 रायचौधरी वही पृ 130। विष्णुपुराण का राजवंशक्रम कि जिसमें अजातशत्रु और उदयाश्व के बीच में दर्शक का नाम आता है की हम उपेक्षा कर देना होगी।" प्रधान वही और वही स्थान। बिंबिसार के उनके पुत्रों में से ही दर्शक हो जिसने अपने पिता के जीवन काल में ही राजकाज में भाग लिया हो। देखो वही पृ 212। 5 कोणिक मृत तदा राजानं उदायिनं स्थापयति आवश्यकसूत्र पृ 687।

6 हेमचन्द्र वही, श्लो 22। देखो त्रिषष्टि–शलाका पर्व 10 श्लो 426 पृ 172।

7 देखो टानी वही पृ 177। 8 देखो गीगर वही गाथा 1।

9 प्रधान वही पृ 216। देखो वही पृ 219। सिंहली इतिवृत्तकार कहते हैं कि अजातशत्रु से लेकर परवर्ती सारे राजा पितृघाती थे। रायचौधरी वही पृ 133 हेमचन्द्र परिशिष्टपर्वन् सर्ग 6 श्लो 32–180। देखो आवश्यकसूत्र, पृ 687 689।

10 पाटलीपुत्र की पसन्दगी उसके साम्राज्य के केन्द्र में स्थित होने के कारण हुई थी कि जो आज के उत्तर विहार को भी समाविष्ट करता था। फिर उसका गंगा एवं सोन नदियों के संगम पर स्थित होना भी व्यापारिक और सैनिक दृष्टि से महत्व का था। इस सम्बन्ध में यह उल्लेख भी मनोरंजक होगा कि कौटिल्य साम्राज्य की राजधानी के लिए नदियों का संगम स्थान की ही सिफारिस करता है' रायचौधरी वही पृ 131।

11 देखो पार्जीटर वही पृ 99। प्रधान वही पृ 216 रायचौधरी वही और वही स्थान

पिता की मत्यु-घटना के लिए उत्तरदायी नही था। यह नही कहा जा सकता है कि बौद्धो ने उसका उसके पिता जैसा ही चित्रण क्यो किया है कि उसका सत्ता और स्थिति का लोभ अपने ही पिता के प्राणों के प्रति स्वाभाविक सहज प्रेम पर इस अधिकता से हावी हो गया था। यदि बौद्धो की महावश म दी हुई दन्तकथा किसी भी आधार पर होती तो जैन लेखक इसका भी उसी भाति निर्देश अवश्य कर देते जैसा कि उनने कुणिक के विषय मे उसके पिता की मृत्यु सम्बन्धी घटना का निर्देश किया है।

पक्षान्तर मे जैन कहते है कि उदायिन एक निष्ठ जैन था। उसकी आज्ञा से उसकी नई राजधानी पाटलीपुत्र केकेन्द्र मे एक भव्य जैन मन्दिर बनवाया गया था।[1] फिर जैन साधू भी उसके पास विना रोक-टोक आते जाते थे यह भी इस बात से प्रमाणित होता है कि उसका वध किसी साधू-वेशी राजकुमार द्वारा कि जिसके पिता को उसने राज्यच्युत कर दिया था, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, किया गया था। इसी प्रसग से यह अनुमान किया जा सकता है कि एक चुस्त जैन की भाति वह जैनो के मासिक पर्व नियम पूर्वक पालता था क्योंकि पौषध के दिन ही एक जैनाचार्य, अपने नए शिष्य के साथ कि जिसने अस्त्र छुपा रखा था, राजमहल मे गए थे और राजा को उनने धर्म सुनाया था।[2]

शैशुनागो अथवा जिनकी सत्ता मे मगध साम्राज्य ने निश्चित स्वरूप प्राप्त किया था, के विषय मे, सक्षेप मे जैनो का इतना ही कहना है। यहा यह भी स्पष्ट कर देना उचित है कि जैनधर्म के साथ उन वशो के सम्बन्ध का विचार करते हुए हम सूक्ष्म विवरण मे यद्यपि नही उतरे है और हम ऐसा इस अध्याय मे विवक्षित किसी भी राजवश के विवरण मे नही उतरना चाहते है। परन्तु इससे यह नही समझा जाना चाहिए कि वे सूक्ष्म बाते अर्थहीन है, परन्तु इतना ही कि उत्तर-भारत के जैनो के इस साधारण ऐतिहासिक सर्वेक्षण मे उन सूक्ष्मविवरणो मे उतरना न तो शक्य ही है और न इष्ट।

अब उदायिन के उत्तराधिकारी का हम विचार करे। बौद्ध दन्तकथा के अनुसार तो उसके उत्तराधिकारी थे अनिरुद्ध, मुण्ड और नागदासक। उन दन्तकथाओ मे यह भी कहा गया है कि ये सब पितृहता थे और इसलिए "जनमत उनसे रुष्ट हो गया एवम् इस राजवश का उच्छेद कर उसके आमात्य शुशुनाग (शिशुनाग) को उनने राजा बना दिया।"[3] परन्तु जैन और पौराणिक दन्तकथाए अनिरुद्ध और अन्य निर्बल-निर्वीयो का अवगणना कर देती है अथवा उन्हे भुला देती है और बौद्धो के उदायीभद्र के उत्तराधिकारी रूप मे किसी नन्द या नन्दिवर्धन को ला बैठाती है।[1]

जैनी कहते है कि उदायिन की मृत्यु पर, उसके विना उत्तराधिकारी के मर जाने से, अमात्यो ने पाच राजचिन्हो याने हाथी, घोडा, छत्र, चामर और कलश सजा कर, पूजा कर नगर वीथियो मे घुमाए। इनकी शोभायात्रा मार्ग मे नाई से उत्पन्न वेश्या-पुत्र नन्द के विवाह की शोभायात्रा से जब जा मिला तो इन पाचो

---

1 नगरनाभो पोदानि चैत्यगृह कारित.. आवश्यकसूत्र, पृ 689। देखो हेमचन्द्र, वही, श्लो 181।

2 स राजाष्टमीचतुर्दश्यो पौषध करोति। आवश्यकसूत्र, पृ 690 देखो हेमचन्द्र, वही, श्लो 186, वही श्लोक 186—230, शार्पेटियर, कैहिइ, भाग 1, पृ. 164।

3 रायचौधरी, वही, पृ 133। देखो गीगर, वही, गाथा 2-6, प्रधान, वही, पृ 218-219, स्मिथ, वही, पृ 36, रेप्सन, कैहिइ भाग 1, पृ 312-313।

4 देखो आवश्यकसूत्र, पृ 690 आदि, हेमचन्द्र, वही, श्लो 242, पार्जीटर, वही, पृ 22, 69।

राजचिन्हो ने उस नन्द का मगध के राजा के रूप में अभिषेक किया। इसलिए उस प्रथानुसार राजा स्वीकार कर लिया गया और इस प्रकार महावीर निर्वाण के साठ वर्ष पश्चात् नन्द मगध का राजा बना।[1]

महावीर निर्वाण तिथि का विचार करते हुए हमने देखा था कि उसके 155 वर्ष बाद मौर्य मगध की राजगद्दी पर आए थे। इस प्रकार नन्द और उसके वंशजों का राज्यकाल 95 वर्ष रहता है। डा. प्रधान कहता है कि 'यह पौराणिक दंतकथा से बिलकुल मेल खा जाता है कि जिसके अनुसार नन्द वंश लगभग 100 वर्ष राज करता पाया जाता है। इससे ऐसा लगता है कि पुराणों ने प्राचीन जैन मान्यता को ही प्रायः स्वीकार कर लिया था।[2]

यह विद्वान यह भी कहता है कि 'नाम साम्य के कारण हेमचन्द्र नन्दि (अ)-वर्धन और नन्द (= महापद्म) दोनों को एक ही समझ लेते हैं इतना ही नहीं अपितु इस आमक दंतकथा का भी समर्थन कर देता है कि नन्द (= महापद्म) ने लगभग 100 वर्ष (स्थविरावली चरित्र के अनुसार 95 वर्ष) राज्य किया था।[3]

परन्तु हेमचन्द्र ने नाम का घोटाला उपर के अनुसार कभी किया ही नहीं था क्योंकि हरिभद्र और हेमचन्द्र दोनों ही ने नवनन्दों का विचार किया है जिनमें से प्रथम नन्द को दोनों ही ने वस्तुतः हीनोत्पन्न ही बताया है।[4] ऐसा कहना उचित नहीं है कि हेमचन्द्र नन्दि (अ) वर्धन और (= महापद्म) नन्द दोनों में भ्रमित हो गए हैं क्योंकि नन्दिवर्धन या नन्दवर्धन का नामसाम्य यदि स्वीकार किया भी जाता है तो उसे शैशुनाग के वंशज रूप से ही मानना होगा कि जो उदायिन का उत्तराधिकारी हुआ था। यह बात प्राचीन और अर्वाचीन सभी प्रमाणों से समर्थित होती है। डा. रायचौधरी कहता है कि 'पुराण और सिंहली पण्डितों ने सिर्फ एक ही नन्दवंश का अस्तित्व स्वीकार किया है। उनमें नन्दिवर्धन को शैशुनागवंशी राजा बताया है और यह वंश नन्दवंश से एकदम ही भिन्न है।[5]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जैनकथा में जरा भी असंदिग्धता नहीं है क्योंकि उदायिन् का उत्तराधिकारी नहीं था और मगध का राज्य उसके बाद नन्दों के हाथ में हो गया था। शैशुनाग का स्थान नन्दों ने कैसे लिया उन घटनाओं में जाने की हमें कोई भी आवश्यकता नहीं है। ऐसा हुआ हो कि उदायिन के परवर्ती राजा निर्बीज हुए हों और उस वंश के अंतिम महानन्दिन को जैसा कि स्मिथ कहते हैं शूद्रा या हीनवर्णी दासी से उत्पन्न महापद्म नन्द नाम का पुत्र था जिसने राज्यसिंहासन हड़प किया और इस प्रकार नन्दवंश की स्थापना की।[6]

विद्वान एतिहासकों का यह कथन इस जैन दंतकथा के साथ कि नन्द नाई से उत्पन्न वेश्या का पुत्र था मिलता हुआ है। इसका समर्थन पुराणों और अलेक्जेण्डर के समकालिक के पिता विषयक यावनी (ग्रीक) वृत्तों से भी होता है। पुराणों में इसे शूद्रगर्भ उद्‌भव यानि शूद्र माता से उत्पन्न कहा है। इस प्रकार इन आय वृत्तों से जैनकथा का अद्‌भुत रीति से समर्थन हो जाता है हालांकि उनके अनुसार नन्दों ने सौफ पीढ़ियों तक ही

1 नापितदासः राजा जातः। —आवश्यकसूत्र पृ 690। देखो हेमचन्द्र वही श्लो 231–243।
2 प्रधान वही पृ 218। देखो पार्जीटर वही पृ 26 69।
3 प्रधान वही पृ 220। देखो वही पृ 225।
4 नवमे नन्दे। —आवश्यकसूत्र पृ 693। देखो हेमचन्द्र वही सर्ग 7 श्लो 3।
5 रायचौधरी वही पृ 138। देखो पार्जीटर वही प 23 24 69 स्मिथ वही प 51।
6 वही प 41। 7 देखो पार्जीटर वही प 25 69 रायचौधरी वही पृ 140 प्रधान वही प 226 स्मिथ वही प 43 रेप्सन वही प 313।

राज्य किया था और यह राज्यकाल के 55 वर्ष का ही था।[1] कर्टियस कहता है कि 'उसका पिता (याने अग्राम्मे अथवा क्जण्डर मे का पिता याने प्रथम नन्द अर्थात् महापद्म नन्द) निश्चय ही नाई था जो कि बडी कठिनाई से आजीविका चलाता था। परन्तु वह रूप का सुन्दर था इसलिए रानी की आसक्ति उसमे हो गई और उसी रानी के कारण उसकी पहुच राजा के पास हो गई और वह राजा का विश्वास पात्र भी बन गया। बाद मे उसने धोके मे राजा की हत्या कर दी और तदनन्तर बाल-कुमारो के सरक्षक स्वरूप काम करने का ढोग करते हुए ही उसने सारी राजसत्ता अपने हाथ मे ले ली और फिर राजकुमारो को मार कर अपने ही पुत्र को राजगद्दी पर बैठा दिया। इसने भी व्यवस्थित रूप से राजकाज चलाने के एवज अपने पिता की ही नकल की जिसके फलस्वरूप प्रजा से वह घृण्य हो गया और वह अपदार्थ माना जाने लगा।[2]

नन्दो की अक्षत्रियोत्पत्ति के विषय मे जैन और अन्य उल्लेखो की साम्यता के सिवा कालक्रम मे भी स्मिथ के अनुसार यदि यह घटना ई पूर्व 413 या उसके आसपास रखी जा सकती है।'[3] तो जैनो की दन्तकथा और भी समर्थित हो जाती है। क्योकि जैसा कि हम देख आए है मगध की सार्वभौम सत्ता शैशुनागो के हाथ से नन्दो के हाथ मे महावीर निर्वाणात् 60 मे आई थी जिस निर्वाण की तिथि हमने ई पूर्व 480–467 मानी है। पुनरुक्ति का उपालम्भ लेकर भी यह कहना उचित होगा कि जैनो द्वारा सूचित नन्दो का समय 95 वर्ष पौराणिक दन्तकथा से भी मिलता है। मेरुतु ग और अन्य लोगो के प्रमाणो का विचार करते हुए विंसेंट स्मिथ कहता है कि बुद्धिभ्र श से जैनो ने उस वश के 155 वर्ष गिन लिये है।'[4] परन्तु हमारी स्वीकृत काल गणना के अनुसार महान इतिहासवेत्ता द्वारा सूचित 155 वर्ष नन्दवश के नही अपितु महावीर निर्वाण और चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण का अन्तरसूचक काल है। इसलिए हमारा काल उन्हे भी स्वीकृत मालूम देता है क्योकि 91 वर्ष का काल 'निश्चित कालक्रम योजना' मे उचित माना है।'[5]

इस प्रकार नीच कुलोत्पत्ति, राज्यारोहण तिथि और नन्दो का राज्यकाल सम्बन्धी जैन दन्तकथा की पुष्टि अन्य आधारो से भी हो जाती है। इस राज्यवश का जैनधर्म के साथ सम्बन्धी कैसा था इस विवरण मे उतरने के पूर्व नन्दो के समय मे भारतवर्ष मे मगध का प्रावान्य टिका रहा था या नही यह भी हम सक्षेप मे देखे। भिन्न-भिन्न उल्लेखो से मालूम होता है कि उस समय भी मगध एक अखण्ड साम्राज्य के रूप मे टिका हुआ था, इतना ही नही अपितु उसकी सीमा इतनी दूर तक फैली हुई थी कि महान् अल्येक्जेण्डर और उसके सत्रपो के अधीन रहा हुआ उत्तरीय-पश्चिमी विभाग चन्द्रगुप्त को और कलिंग देश ही अशोक को फिर से मगध साम्राज्य मे मिलाना शेष रहा था।

पुराणो मे महापद्म अथवा नन्द 1म को क्षत्रिय जाति का सहारक दूसरा परशुराम कहा गया है और उसे पृथ्वी का एक छत्र राजा भी माना जाता है।[6] नन्द शासन मे भारत के अधिकाश भाग के एकीकरण का यह पुराणो का वर्णन सर्वोत्कृष्ट इतिहास लेखक भी स्वीकार करते है। वे कहते है कि अल्यैक्जैण्डर के समय मे एक ही राजसत्ता के नीचे अनेक शक्ति सम्पन्न पुरुष समुद्र पार रहते थे। उनकी राजधानी पालीमोत्र या पाटलीपुत्र थी।

---

1 देखो मैक्क्रिण्डले, दी इनवेजन आफ इण्डिया बाई अल्यैक्जैण्डर दी ग्रेट, 409।

2. वही, पृ 222। देखो वही, पृ 282, रायचौधरी वही, पृ वही, प्रधान वही और वही पृ, स्मिथ, वही, पृ 42–43, जायसवाल, वि उ प्राच्य मन्दिर पत्रिका म 1, पृ 88।

3 स्मिथ, वही, पृ 43। 4 वही, पृ 42।

5 वही, पृ 41। 6 देखो पार्जीटर, वही, पृ 25, 69।

कन्निंघम हम कहता है कि "गजादाई ग्रौर प्रास्सी रा राजा अग्राम्म न अपन राय सरक्षण के उच्च प्राकारो मे 20 000 हयन्ल, 2 00 000 पदल 2,000 चार घोडा क रथ, ग्रार इसक अतिरिक्त सवग भयकर गजमना भी रखी था ग्रौर इसकी सख्या 3 000 नर पहुच गई थी। [1] इसक सिवा नन्द साम्राज्य म कोसल का समाविष्ट हो जाना कथासरित्सागर क इस कथन मे समर्थित होता है जहा राजा नन्द रो ग्रयोध्या म पडाव का उल्लख किया गया ह। [2] खारवल का हाथीगुफा का शिलालख इसका विशष आवश्यक प्रमाण है जो कि जसा कि हम पहल दख ही ग्राए हैं कलिंग की नहर क सम्बन्ध म नन्दराज का उल्लख करता है। इस सब का स्वाभाविक ग्रथ यह होता ह कि नन्दराजा न कलिंग पर भी अधिकार कर लिया था। [3] डा रायचौधरी क शब्दो म यह तो नन्द का कलिंग पर अधिकार देखत हुए उसका सुदूर दक्षिण क्षे त्र की विजय भी एक दम असम्भव सी नही मालूम होती है। गोदावरी पर के नगर नादेड यानि नौ-नन्द देहरा[4] का अस्तित्व भी सूचित करता है कि नन्द क साम्राज्य म दक्खण का भी अधिकाश भाग था। [5]

फिर हम अगले अध्याय म देखेंगे कि शिलालेख का दूसरा वाक्य कलिंग की जिनप्रतिमा ग्रौर ग्रन्य कोश जो कि नन्द विजय चिन्ह स्वरूप मगध म ल गया था का उल्लख करता है। खारवल क इस शिलालख स नन्दो का जनधम के साथ सम्बन्ध चर्चा का विषय हो जाता ह। इस ग्रौर अन्य नन्दराज क उल्लेख वाले वाक्यो के सम्बन्ध म जो कठिनाई उपस्थित होती है, वह नन्दराज क बराबर पहचान जान की ही है। महावीर के निर्वाण की चचा म हमन देखा था कि जायसवाल बनरजी स्मिथ ग्रौर अन्य जसा कहत है यानि नन्दराज को नन्दिवधन ही मान लिया जाए एसा कोई भी कारण नही ह। फिर शार्पेंटियर क आधार के सिवा जिसका कि पहले विचार किया जा चुका है ग्रौर जसा कि उसके विषय म श्री चन्दा कहत ह नन्दिवधन की सूचना करन वाल एक मात्र हमार ग्राधार पुराणो म ऐसी कोई भी बात नही है कि जिसम हम कह सकें कि उसको कलिंग मे कभी भी युद्ध काम पडा था। प्रत्युत म हम स्पष्ट ही पुराण कहत है कि जब मगध म शशुनाग राज्यवश ग्रौर उसके पूवज राज कर रहे थे बत्तीस कलिंग राजा कलिंग पर क्रमश एक क बाद एक राज करत रहे थ। [6] नन्दिवधन नही अपितु वह महापद्म नन्द था कि जिसन सब का अपनी सत्ता के अधीन किया था ग्रौर सब क्षत्रियो को निमूल कर दिया था यानि प्राचीन राजवशो को मिटा दिया था। इस लिए हाथीगुफा शिलालेख का नन्दराज कि जिसन कलिंग पर अपनी सत्ता जमाई थी या तो स्वय महापद्म नन्द माना जाना चाहिए या उसके पुत्रो म स कोई एक।''

सक्षप मे खारवल के शिलालेख का नन्दराज जना का प्रथम नन्द अथवा पुराणो का महापद्म नन्द के सिवा दूसरा कोई नही है क्योकि परवर्ती नन्दो के विषय म जन ग्रौर पुराण दन्तकथा दोनो हो एसा कुछ भी नही कहती है कि जिसम उनम स किसी के लिए भी प्रथम नन्द जसा विजयी जीवन का दावा किया जा सकता है। यहा

1 मक्क्रिण्डल वही पृ 221-222। दखो वही, पृ 281 282 स्मिथ वही पृ 42 रायचौधरी वही, पृ 141।
2 दखो टानी (पजर सस्करण) कथासरित्सागर भाग 1 पृ 27 रायचौधरी वही ग्रौर वही स्थान।
3 दखो रप्सन, वहा प 315। 4 दखो मकोलिफ, दी सिक्ख रिलीजन भाग 5 प 236।
5 रायचौधरी वही प 142।
6 दखो पार्जीटर वही पृ 24 62।
7 ज ग ममायस ग्राफ दी ग्राकियालोजिकल सर्वे ग्राफ इण्डिया प 50। सख्या 1 पृ 11 12। दखो रायचौधरी वही प 138।

इतना कह देना और आवश्यक है यद्यपि पुराण और जैन दन्तकथा परस्पर बहुताश मे एक दूसरे का समर्थन करती हैं, फिर भी खारवेल का शिलालेख जैनकथा का ही इस नन्द राजा को पुराणो के महापद्म नन्द के एवज नन्दराज कह कर समर्थन करता है।

जैनो और नदो के सम्बन्ध मे हाथीगुफा का शिलालेख कहता है कि राजा नन्द विजय-चिन्ह रूपमे वहा मे एक जैन प्रतिमा ले गया था, और यह, जायसवालजी के अनुसार जैसा कि हम आगे के अध्याय मे देखेंगे, सिद्ध करता है कि नन्दराज जैन था और उडीसा मे जैनधर्म बहुत समय पूर्व ही प्रवेश कर गया था।[1] उन्ही के अनुसार ऐसा इसलिए कहा जा सकता है कि 'विजय-चिन्ह स्वरूप पूजा की कोई मूर्ति उठा ले जाना और उसमे की किसी मूर्ति विशेष के प्रति सम्मान दिखाना परवर्ती इतिहास मे एक सुप्रसिद्ध बात देखी जाती है।'[2] स्मिथ और शार्पेंटियर जैसे विद्वान भी इसका समर्थन करते है।[3] स्मिथ के शब्दो मे कहे तो 'नदवश ने कलिग पर एक लम्बे समय तक राज्य किया था। नन्दो और खारवेल के समय मे कलिग मे जैन धर्म सर्व प्रधान नही रहा हो जैसा कि होना चाहिए था, तो भी निश्चय ही वह अति सम्मान का स्थान भोगता था। मैं यह कह दू कि नन्द जैन थे इस अभिप्राय पर मैं स्वतन्त्र रीति मे ही पहुचा था।'[4]

नन्दो की ब्राह्मण-विरोधी उत्पत्ति का विचार करते हुए वे जैन हो इसमे कुछ भी आश्चर्य की बात नही ह।[5] उनके उद्गम के सिवा बौद्धो की भाति ही जैनो को नन्दो के विरूद्ध कहने का कुछ भी नही है। डा शार्पेंटियर के अनुसार 'यह बात ऐसा सूचित करती है कि नन्द जैनधर्म के विरूद्ध या प्रतिकूल झुकाव नही रखते थे।'[6] जैन दन्तकथाए भी इसका समर्थन इसका समर्थन करती है क्योकि नन्दवश के श्रेणीबद्ध अमात्य जैन ही थे[7] जिनमे से पहले अमात्य कल्पक को वह पद स्वीकार करने को बाध्य किया गया था।[8] इस अमात्य की सहायता से राजा नन्द सब क्षत्रिय राजवशो को निर्मूल कर सका था।[9] जैन यह भी कहते हैं कि अमात्यो की परम्परा उसी वश मे चलती रही थी।[10] नौवें नन्द का अमात्य शकटाल था। उसके दो पुत्र थे, बडा स्थूलभद्र और छोटा श्रीयक। शकटाल की मृत्यु के बाद नन्द ने बडे पुत्र स्थूलभद्र को मत्री पद स्वीकार करने को कहा। परन्तु उसने ससार की असारता का विचार कर मत्रीपद लेने से इन्कार कर दिया और जैनधर्म के छठे युगप्रधान सम्भूत

1, 'कलिग सर्वजीव-धर्म, ब्राह्मणधर्म, बौद्धधर्म और जैनधर्म की मिलीजुली मिश्र सस्कृति थी। यह आश्चर्य की ही बात है कि कोई भी कभी बिलकुल ही लुप्त नही हुई थी।' सुब्रह्मनियन, आध्र हिरिसो, पत्रिका स 1।

2 जायसवाल, वही, स 13, पृ 245। 3 शार्पेंटियर, वही, पृ. 164।

4 स्मिथ, राएसो पत्रिका, 1918, पृ 546।

5 'कोई हमे यह समझाने का प्रयत्न करेंगे कि कलिग जैनी था क्योकि वह चिर काल तक ब्राह्मण द्वेष नन्दो के अधिकार मे रहा था कि जिनके जैन अवशेष आज भी जैपुर जिले के नन्दपुर मे पाए जाते है...। सुब्रह्मनियन, वही और वही स्थान। 6 शार्पेंटियर, वही, पृ 174।

7 आवश्यकसूत्र, पृ 692, हेमचन्द्र, वही, श्लो 73–74, 80।

8 देखो आवश्यकसूत्र, पृ 691–692, हेमचन्द्र वही, श्लो 1–74।

9 दर्शित सन् कल्पक इति ते (राजन) मीता ...नष्टाः। –आवश्यकसूत्र, पृ 693; हेमचन्द्र, वही, श्लो 84, 105–137। देखो प्रधानवही पृ 226।

10 कल्पकस्य यशो नन्दिवशेन समनुवर्तते,...–आवश्यकसूत्र, पृ 693, हेमचन्द्र, वही सर्ग 8, श्लो. 2।

विजय[1] के पास जा कर जैन दीक्षा ले ली।[2] अन्त में मंत्रीपद उनके छोटे भाई श्रीयक को दिया कि जो पहले ही राजा नन्द की सेवा में था।[3]

जैनों और नन्दों का पारस्परिक सम्बन्ध इस प्रकार है। नन्दों के समय में जैन प्रभावशाली थे यह बात संस्कृत नाटक 'मुद्राराक्षस' से भी स्पष्ट होती है कि जिसमें चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण का प्रसंग नाटक रूप में चित्रित किया गया है। इसमें कहा गया है कि उस काल में जैन प्रधानपद भोग रहे थे।[4] और चाणक्य राक्षस का मुख्य प्रणिधि भी मुख्य दूत स्वरूप में एक जैन को ही रखता है।[4]

नन्दों की राजसत्ता पर शैशुनाग वंश का सा प्रकाश जैन ग्रन्थों में कुछ भी नहीं मिलता है। बिलकुल अस्पष्ट रूप में वे यही सूचित करते हैं कि जैन अमात्य कल्पक की सहायता से राजा नन्द ने अनेक राजाओं को वश कर लिया था और जैसा कि आगे कहा जाएगा अन्तिम नन्द को चाणक्य के शरण में जाना पड़ा था कि जिसने उसके दरबार में हुए अपने अपमान के कारण उसकी सत्ता नाश करने और उसे पदभ्रष्ट करने की प्रतिज्ञा कर ली थी। फिर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि नन्दवंश की राजसत्ता के विषय में यह अस्पष्टता केवल जैन इतिवृत्तों में ही नहीं है। जैसा कि डा. शार्पेंटियर कहते हैं "प्राचीन भारतीय इतिहास के अनेक अंधकारमय युगों में से यह नन्दों का राज्य एक अति अंधकार का काल है।"[5]

नन्दों के बाद मौर्य आते हैं। इन नन्दों का स्थान मौर्यों ने कैसे और क्यों लिया यह कुछ भी स्पष्ट प्रतीत नहीं होता है। फिर भी इतना तो निश्चित है कि भारतीय इतिहास के इसी परिवर्तन काल में कदाचित् जगत का नहीं तो कम से कम भारत का तो अवश्य ही प्रथम अर्थशास्त्री चाणक्य प्रकाश में आता है।[6] यह विस्मय की बात ही है कि इस राजवंश क्रान्ति का ब्योरेवार विवरण उपलब्ध नहीं है फिर भी प्राचीन साहित्यिक वर्णनों से यह मालूम होता है कि अन्तिम नन्द उसके प्रजाजनों द्वारा तिरस्कृत और अपदार्थ माना जाता था। फिर इन वर्णनों में वर्णित नन्दों की निरन्तर स्थायी सेना एवम् उनका अतुल धन स्वभावतः सूचित करता है कि उस समय उनकी ओर से बहुत कुछ आर्थिक निष्पीड़न चल रहा होगा।[7] इतना होने पर नन्दों की जैन ऐसी कोई शिकायत नहीं करते हैं।

---

1 शकटालमन्त्रिपुत्र श्री स्थूलभद्रः पितरि मृते नन्दराजेनाकार्य मन्त्रिमुद्रादानायाभ्यर्थितः सन् पितृमृत्युं स्वचित्तेन विचिन्त्य दीक्षामादत्त। —कल्पसूत्र सुबोधिका टीका पृ 162। देखो आवश्यकसूत्र पृ 435-436, 693-695, हेमचन्द्र वही श्लो 3-82। स्मिथ ने भ्रम से उसे नवें नन्द का मन्त्री लिख दिया है। स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ 49 टि 2।

2 प्रथम युगप्रधान सुधर्मा भगवान् के निर्वाण के 20 वर्ष बाद निर्वाण हुए थे। उनने जम्बू को युगप्रधानत्व दिया था कि जो इस पद पर 44 वर्ष रहे थे और नन्दों के राज्यासीन होने के समय के लगभग ही निर्वाण प्राप्त हुए। उनके बाद तीन युगप्रधानों की पीढ़ियाँ हुई और अन्तिम नन्द के समय जैनसंघ में दो युगप्रधान थे सम्भूतविजय और भद्रबाहु।" —शार्पेंटियर वही पृ 164, याकोबी सेबुई पुस्त 22 पृ 287।

3 श्रीयकः स्थापितः —आवश्यकसूत्र पृ 436, हेमचन्द्र वही श्लो 10, 83, 84।

4 देखो नरसिंहाचार, एपी कर्णा पुस्त 2 प्रस्ता पृ 41, राइस, म्यूद्रस, माइसोर एण्ड कुर्ग पृ 8, स्मिथ, आक्सफर्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ 75।

5 शार्पेंटियर, वही और वही स्थान। 6 सम्मद्दार, दी ग्लोरीज आफ मगध पृ 2।

7 महावंश में अन्तिम नन्द की जब धन नाम द्वारा निन्दा की गई है तो यह मालूम होता है कि प्रथम नन्द के प्रति धनलोभ का दोष मढ़ा जा रहा है और चीनी पर्यटक ह्युएनत्सांग भी नन्द राज का अतुल धन का प्रख्यात खजाना कह कर उल्लेख करता है। स्मिथ अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया पृ 42, देखो रायचौधरी वही पृ 143।

जैन दन्तकथा इस विषय मे, सक्षेप मे, इस प्रकार है। एक निष्ठ ब्राह्मण चणिन की पत्नि चणेश्वरी का पुत्र चाणक्य, यह सुनकर कि प्रसिद्ध ब्राह्मणो को नद उदारता मे दक्षिणा देता है, कि दक्षिणा प्राप्ति के लिए पाटलीपुत्र गया। वहा राजदरबार मे उसका अपमान किया गया है, उसे ऐसी प्रतीति हुई और तभी से वह अन्तिम नन्द का विरोधी वैरी हो गया। वहा से वह हिमवत्कूट गया और वहा के राजा पर्वत[1] के साथ इस शर्त की मैत्री कि यदि नन्द को पराजित एवम् वश करने मे वह उसकी सहायता करेगा तो वह उसको नन्द का आधा राज्य दे देगा बस उनने आसपास के प्रदेशो पर अधिकार कर उसके विरूद्ध अभियान प्रारम्भ कर दिया और अन्त मे देश का तहस-नहस कर, उन मित्रो ने पाटलीपुत्र पर घेरा डाल दिया और वेरी को समपर्ण होने को बाध्य किया। नन्द ने चाणक्य से दया भिक्षा मागी, इसलिए उसको जितना भी धन एक रथ मे वह ले जा सके उतना ले राज्य छोड चले जाने की आज्ञा दे दी गई। नन्द अपनी दो पत्नियो एव एक पुत्री के साथ कितना ही धन ले रथ मे बैठा जब जा रहा था, तो मार्ग मे चन्द्रगुप्त मिला जिसे देखते ही नन्द की पुत्री उसके प्रेम मे पड गई। पिता की सम्मति से उसने स्वयम्वर रीत्यानुसार उसको पति वरण कर लिया। पिता के रथ मे से उतर कर जब वह चन्द्रगुप्त के रथ मे चढने लगी तब उसके पहिए के नौ आरे टूट गए। इससे चन्द्रगुप्त ने उसे निकाल ही दिया होता, यदि चाणक्य यह कह कर उसे नही रोकता कि नया राजवश नौ पीढी तक फलेगा।[2]

नन्दो के पतन और मौर्यो के उत्थान के विषय मे जैन इतना ही कहते है। हिमवत्कूट का दुर्भागी राजा पर्वतक अकस्मात मर गया और इस प्रकार नन्द एवम् पर्वतक दोनो ही के राज्य का स्वामी चन्द्रगुप्त ही हो गया।[3] जैसा कि कहा जा चुका है यह घटना महावीर के निर्वाण के 150 वर्ष पश्चात् घटी थी।

यहा दो प्रश्न उठते है। एक तो यह कि जैन एवम् अन्य उल्लेखो के अनुसार[4] नन्दो के पतन मे चाणक्य अकेले ही का हाथ हो तो इस चन्द्रगुप्त की कुल परम्परा क्या थी ? और दूसरा यह कि मगध साम्राज्य का स्वामी चाणक्य स्वयम् क्यो नही बना ? इन दो समस्याओ मे से चन्द्रगुप्त की कुल परम्परा की समस्या का हल नही किया जा सकता है। जैन दन्तकथा उसे राजा के मयूर-पोषको के गाव के मुखिया की पुत्री का पुत्र बताती है।[5] स्मिथ कहता है कि चन्द्रगुप्त ने अपनी माता अथवा नानी (माता मही) मुरा के नाम से अपना वश स्थापित किया होगा।[6] हिन्दू इन मौर्यो को नन्दो के साथ जोड देते है। कथासरित्सागर चन्द्रगुप्त को नन्द का

---

1 गतो मिवत्कुट, पार्वतिको राजा तेन सम मेत्री जाता। —आवश्यकसूत्र पृ 434, हेमचन्द्र, वही, श्लो 298। परिशिष्टपर्वन के सस्करण मे याकोबी इस विषय मे एक टिप्पण देता है जो इस प्रकार है। नेपाल राजवशावली मे, बौद्ध पार्वतीय वशावली के अनुसार, तीसरे वश का ग्यारवा राजा, किरातो का राजा कोई पर्व था जो प्रत्यक्षत हमारा पर्वत हो, क्योकि सातवे राजा के राज्यकाल मे याने जितेदास्ती के समय मे बुद्ध का नेपाल गमन बताया गया है, और चौदहवें राजा स्थुक के काल मे अशोक का वहा जाना कहा है। —याकोबी, परिशिष्टपवन्, पृ 58। देखो भगवानलाल इन्द्रजी, इ एण्टी, पुस्त 13, पृ 412।

2 देखो आवश्यकसूत्र, पृ 433, 434, 435, याकोबी, वही, पृ 55-59।

3 द्वे अपि राज्ये तस्य जाते। —आवश्यकसूत्र, पृ 435। देखो हेमचन्द्र, वही, श्लो 338।

4 "कौटिल्य अर्थशास्त्र, कामन्दक नीतिशास्त्र, पुराण, महावश और मुद्राराक्षस से हमे मालूम होता है कि नदवश का उच्छेद चन्द्रगुप्त के माहमात्य कौटिल्य द्वारा ही हुआ था।" —रायचौधरी, वही और वही स्थान। "कौटिल्य नाम का एक ब्राह्मण उनका उन्मूलन करेगा। 100 वर्ष तक इस पृथ्वी का राज्य भोग कर, यह राज्य मौर्यो को चला जाएगा।" —पार्जीटर, वही पृ 69।

5 देखो आवश्यकसूत्र पृ 433-434, हेमचन्द्र, वही, श्लोक 240। 6 देखो स्मिथ, वही, पृ 123।

पुत्र कहता है।[1] महावंश उसका मोरीयवंश बताता है।[2] दिव्यावदान में चन्द्रगुप्त का पुत्र बिंदुसार अपने मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय होने का दावा करता है। उसी ग्रन्थ में बिंदुसार का पुत्र अशोक अपने को क्षत्रिय कहता है।[3] महापरिनिब्बानसुत्त में मोरिया को क्षत्रिय जाति के और पिप्फलीवन का राजवंशी कहा गया है।[4]

इन सब बातों का विचार करते हुए डा. रायचौधरी कहता है कि इतना तो निश्चित है ही कि चन्द्रगुप्त क्षत्रिय जाति याने मोरिया (मौर्य) वंश का था। ई. पूर्व छठी सदी में पिप्फलीवन के छोटे से प्रजासत्ताक पर राज्य करने वाले यह मोरिया जाति थी। पूर्व भारत के अन्य राजाओं के साथ वह भी मगध साम्राज्य में मिल गई होगी। अप्रमत्त वे अयशस्वी राज्य में जब उनकी प्रजा को वह अप्रिय हो गया तो संभव करके ये मोरिया चन्द्रगुप्त के नेतृत्व में फिर प्रबल हो गए होंगे। तक्षशिला के ब्राह्मण के पुत्र कौटिल्य या चाणक्य अथवा विष्णुगुप्त की सहायता से उसने दुष्ट नन्द को पदभ्रष्ट कर दिया।[6]

चन्द्रगुप्त की वंश परम्परा के विषय में इतना ही कहा जा सकता है। अब इसका विचार करें कि चाणक्य ही मगध का राजा क्यों नहीं बना? इस विषय में डा. रायचौधरी का उपरोक्त वक्तव्य कुछ स्पष्टीकरण अवश्य ही करता है। यह बहुत ही सम्भव दीखता है कि चन्द्रगुप्त स्वयम् ही, जैसा कि ग्रीकों कहते हैं महान् भाग्य में प्रमुख चिन्ह देखकर राज्य प्राप्त करने को प्रेरित हुआ था।[7] जैन इतिहास के अन्य आधारों की भांति ही ग्रीक साहित्य भी वास्तविक इतिहास पर कुछ प्रकाश नहीं डालते हैं। चन्द्रगुप्त के विषय में वे इतना ही कहते हैं कि नन्द राजा द्वारा मृत्युदण्ड दिए जाने पर वह वहां से भाग निकला था जब वह सोया हुआ था तो उसके शरीर में से निकल रहे स्वेद को एक सिंह चाटता रहा था इस अद्भुत पुरुष को चाणक्य ने राजसिंहासन प्राप्त करने को उकसाया था। उसके सामने एक वनगज एकदम नतमस्तक हो गया था।[8] जब ऐसी दन्तकथाएं समकालिक साक्षीभूत आधार भी चन्द्रगुप्त के विषय में कहे तो यह कोई भी आश्चर्य नहीं है कि जैन दन्तकथा इस समस्या की व्याख्या इस प्रकार करे कि चाणक्य जब जन्मा था तब उसके मुंह में सारे ही दांत थे।[9] इस आश्चर्यजनक घटना के फलाफल के विषय में जब साधुओं को पूछा गया तो उनने भविष्यकथन किया कि यह शिशु राजा होगा। परन्तु उसका पिता धार्मिक वृत्ति का था एवम् पुत्र को आत्मा की राजपद की भयंकरता से वह बचाना चाहता था। इसलिए उस राजचिन्ह को दूर करने के लिए उसने शिशु के दांत तोड़ दिए। फिर भी मुनियों ने कहा कि अब चाणक्य किसी प्रतिनिधि द्वारा राज चलाएगा। नन्दों की पराजय पश्चात् यह दन्तकथा कहती है कि नन्द की धन सम्पत्ति सब चन्द्रगुप्त और पर्वत दोनों ने आपस में बांट ली।[10]

---

1 देखो टानी (पेंजर सस्क.) वही भाग 1 पृ. 57।

2 'मोरियानाम खत्तियान वंस जाते' —गीगर वही पृ. 30।

3 अहं राजा क्षत्रियो मूर्धाभिषिक्तः —कव्येल और नील दिव्यावदान पृ. 360।

4 हिस्ट्री इंडियन कल्चर पुस्त. II, पृ. 134–135।

5 जैनों के अनुसार चाणक्य चणक का निवासी था जो कि गोल्ला जिले में एक गांव है। देखो याकोबी वही, पृ. 55 आवश्यकसूत्र पृ. 433। 6 रायचौधरी वही पृ. 165-166।

7 मक्क्रिण्डल वही पृ. 320। 8 वही पृ. 327–328। देखो स्मिथ वही पृ. 123 टिप्पण 1।

9 चाणक्य की जीवन की इस घटना के विषय में याकोबी इस प्रकार टिप्पण करते हैं यही बात रिचर्ड III के विषय में कही जाती है —टीथ हैडस्ट दाऊ इन दाई हेड व्हेन दाऊ वास्ट बोर्न—याकोबी वही और वही स्थान। टू सिग्नीफाई दाऊ केम्स्ट टु बाइट दी वर्ल्ड।'

10 देखो आवश्यकसूत्र पृ. 435 हेमचन्द्र वही श्लो. 327।

है। परवर्ती शैशुनागो, नन्दो और मौर्यों के काल मे, जैनधर्म नि,सदेह मगध मे अत्यन्त प्रभावशाली रहा था। यह बात कि चन्द्रगुप्त ने एक ब्राह्मण विद्वान की युक्ति से राज्य पाया था, इस धारणा से कदापि असगत नही है कि जैनधर्म तब राजधर्म था। जैनगृहस्थानुष्ठानो मे ब्राह्मणो से काम लेते है, यह एक सामान्य प्रथा ही है और मुद्राराक्षस नाटक मे जिसको हमने ऊपर उद्धृत किया है, मत्री राक्षस का विशिष्ट मित्र एक जैन साधू ही बताया गया है, जिसने कि पहले नन्द की और बाद मे चन्द्रगुप्त की मत्री रूप मे सेवा बजाई थी।

यदि यह तथ्य कि चन्द्रगुप्त जैन था अथवा जैन हो गया था, एक बार स्वीकृत हो जाता है तो उसके राज्य त्यागने एवम् अन्त मे जैनधर्म मान्य सलेखना व्रत द्वारा मृत्यु का आव्हान करने की दन्तकथा भी महज विश्वासनीय हो जाती है। यह बात तो निश्चित है कि ई पूर्व 322 अथवा उसकी आसपास चन्द्रगुप्त गद्दी पर जब आया था तब वह एक दम युवान और अनुभवहीन था। 24 वर्ष पश्चात् जब उसके राज्यकाल का अन्त हुआ, तब वह 50 वर्ष से कम ही आयु का होना चाहिए। राज्यत्याग सिवा इतनी कम आयु मे उससे दूर भाग जाने का और कोई भी कारण समझ मे नही आते है। राजवशियो के ऐसे ससार त्याग के अनेक दृष्टात उपस्थित है और बारह वर्ष का दुष्काल भी स्वीकृत किया जाता है। सक्षेप मे जैन दन्तकथा जहा एक और स्वस्थान की रक्षा करती है वहा दूसरा और कोई भी विकल्प हमारे सामने नही है।[1]

इन दोनो विद्वानो के सिवा भी और विद्वान है जो इसी प्रकार का समर्थन करते है। श्रवणबेलगोल के जैन शिलालेखो के प्रखर अभ्यासी राइस और नरसिहाचार भी इसी का समर्थन करते है।[2] प्राचीन विद्वानो मे श्री एडवर्ड टामस भी कि जिसने ग्रीक साहित्य का इस विषय मे विचार किया है इसी को स्वीकार करता है।[3] फिर याकोबी कहता है कि "हेमचन्द्राचार्य से ले कर आधुनिक सब विद्वान भद्रबाहु की निर्वाण तिथि वीरात् 170 मानते है।"[4] अपनी गणना के अनुसार ई पूर्व 297 के लगभग यह तिथि पडती है, महान् आचार्य के स्वर्गवास की यह तिथि चन्द्रगुप्त के राज्यकाल ई पूर्व 321-297 से बराबर मिल जाती है।[5]

जैन साहित्य मे इस दन्तकथा के उपरान्त अन्य उल्लेख भी मिलते है और वे सब बताते है कि चन्द्रगुप्त जैन ही था अथवा बाद मे वह जैन हो गया था।[6] परन्तु हमे इस साहित्यिक मीमासा मे उतरने की यहा आवश्यकता

---

1 स्मिथ, आक्सफर्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ 75-76। "मै यह विश्वास करने को तैयार हू कि...चन्द्रगुप्त ने वास्तव मे ही राज्य त्याग दिया था और वह जैन साधू हो गया था।" —स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ 154। हेमचन्द्र कहता है कि चन्द्रगुप्त समाधिमरण प्राप्य दिव ययौ... —हेमचन्द्र, वही, श्लो 444।

2 राइस ल्यूइस, वही, पृ 3-9। "हमारा यह मान लेना इसलिए निराधार नही है कि चन्द्रगुप्त धर्म मे जैन था।" —वही पृ 8। "उपर्युक्त तथ्यो का निष्पक्ष विचार इस परिणाम पर पहुचाता है कि जैन दन्तकथा को खडा रहने का कुछ आधार अवश्य ही प्राप्त है।" —नरसिहाचार्य, वही, प्रस्तावना पृ 42।

3 "चन्द्रगुप्त जैनसघ का एक सदस्य था, यह बात जैन लेखक बिलकुल उदासीन भाव से लेते है और इसे प्रख्यात बात मानकर उसे सिद्ध करने के तर्कादि मे पडने की आवश्यकता ही नही समझते है। ..मैगस्थानीज की साक्षी इसी तरह मान लेती है कि चन्द्रगुप्त श्रमणो की भक्ति और उपदेशो का मानने वाला था न कि ब्राह्मणो के धर्म सिद्धान्त का।" —टामस एडवर्ड, वही, पृ 23। यवन वर्णनो मे जैनो के उल्लेख के लिए देखो राइस, ल्यूइस, वही, पृ 8। 4 याकोबी, कल्पसूत्र, प्रस्तावना, पृ 13। दिगम्बरो के अनुसार उनकी मृत्यु वीरात् 162 मे हुई थी। देखो नरसिहाचार्य, वही, प्रस्ता पृ 40।

5 देखो राइस, ल्यूइस, वही, पृ. 7, स्मिथ, वही, पृ 206, नरसिहाचार्य, वही, प्रस्ता पृ 41।

6 देखो याकोबी, परिशिष्टपर्वन्, पृ 61-62।

नहीं है। चन्द्रगुप्त के उत्तराधिकारियों का विचार करने से पूर्व जैनों के दक्षिण प्रयाण की उपयोगिता और चाणक्य के धर्म सम्बन्ध में भी कुछ यहाँ कह दें। यह प्रयाण दक्षिण के जैन इतिहास में एक निश्चित भूमिका हमें प्रदान करता है। इसके सिवा दक्षिण के इतिहास की दृष्टि से भी इसकी उपयोगिता कुछ कम नहीं है क्योंकि दक्षिण भारत के इतिहास में इतने ही महत्त्व का प्राचीन प्रसंग और कोई हो ऐसा मालूम नहीं है। इस प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्य का युग जो स्मिथ की दृष्टि से इतिहासवेत्ता को अन्धकार से प्रकाश में उत्तर-भारत में ले जाता है[1] दक्षिण भारत के इतिहास में भी वैसा ही है यानि नया युग प्रवर्तक है। यह बात भी कम महत्त्व की नहीं है कि जिस धर्म ने दक्षिण भारत को प्राचीनतम, यदि सर्वोत्तम नहीं तो साहित्य प्रदान किया उसी धर्म ने उसको अपनी सब प्रथम विश्वस्त ऐतिहासिक परम्परा भी प्रदान की है।

अब चाणक्य के धर्म का भी संक्षेप में विचार कर लें। जैनों के अनुसार चाणक्य जैनधर्मी था। वह जैन गुरुओं को मान-सम्मान देता था और अपनी वृद्धावस्था में एक नैष्ठिक जैन साधु की ही भाँति अनशन कर दिवंगत होने का उसने प्रयत्न किया था।[2] दन्तकथा है कि दुष्ट मंत्री अपने कर्मों का प्रायश्चित्त करने के लिए नर्मदा के तट-स्थित 'शुक्ल तीर्थ' में चला गया और वहीं उसकी मृत्यु हुई थी। चन्द्रगुप्त भी उसके साथ वहाँ आया था ऐसा कहा जाता है।[3] शुक्ल तीर्थ कन्नड शब्द बेल्गोल जिसका अर्थ धवल सरोवर है का ही ठीक पर्याय शब्द है। शिलालेख में उसे धवल सरस कहा गया है जिसका अर्थ धवल सरोवर होता है।[4] चाहे यह आकस्मिक ही हो, फिर भी यह साम्य अति महत्त्व का है। सूक्ष्म बातों को छोड़ दें तो श्री हिस डेविड्स की इस बात से इनकार नहीं किया जाता है कि उपलब्ध भाषा सम्बन्धी और शिलालेखी साक्षियों से जैनों में प्रचलित किम्वदन्ती की सामान्य सत्यता का समर्थन होता है। उसने यह भी कहा है कि यह निश्चित है कि 'उपलब्ध ब्राह्मणीय साहित्य में लगभग दस शताब्दियों तक चन्द्रगुप्त बिल्कुल उपेक्षित ही रहा था।'[5] यह सम्भव लगता है कि ब्राह्मण लेखकों की चुप्पी या उपेक्षा का यही कारण हो कि चन्द्रगुप्त मौर्य सम्राट ने अपने सांसारिक जीवन के अंतिम दिनों में जैनधर्म स्वीकार कर लिया था।

अन्त में हम चन्द्रगुप्त के उत्तराधिकारियों का भी विचार कर लें। जैन दन्तकथानुसार ये थे बिन्दुसार, अशोक, कुणाल और सम्प्रति। शिशुनागों और नन्दों की ही भाँति मौर्यों का वंशानुक्रम सूची में भी बहुत कुछ मतान्तर और विभिन्नता है। परन्तु जहाँ तक अशोक की बात है उसमें कोई भी मत भेद नहीं है। सभी स्वीकार करते हैं कि चन्द्रगुप्त के बाद में उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी बिन्दुसार ही था और इस बिन्दुसार का अनुगामी उसका पुत्र अशोक। इन दोनों मौर्यों के जैनों के साथ सम्बन्ध के विषय में इतना तो स्पष्ट ही है कि जैनों की साहित्यिक दन्तकथाएं इनके विषय में इतनी प्रखर नहीं है जितनी कि इनके पूर्वज चन्द्रगुप्त और इनके अनुगामी सम्प्रति के विषय में है। फिर भी ये दोनों ही जैनधर्म के प्रति अनुकूल थे ऐसा मानने के स्पष्ट कारण हैं। अशोक

---

1 देखो स्मिथ आक्सफर्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ 72।

2 देखो याकोबी, वही पृ 62 जाली, अर्थशास्त्र आफ कौटिल्य प्रस्तावना पृ 10–11। अर्थशास्त्र और जैन साहित्य के सम्बन्ध के विषय में देखिए वही पृ 10। हम देख ही आए हैं कि चाणक्य का पिता ब्राह्मण होते हुए भी पक्का जैन था ऐसा जैन दन्तकथा है। आजकल के ब्राह्मणों को भले ही यह बात लगती है, फिर भी इसका अर्थ यह तो है ही कि चाणक्य का कुल जन्म से ब्राह्मण और धर्म से जैन था। एडवर्ड टामस के अनुसार यद्यपि हमारा राजा निर्माता ब्राह्मण था, परन्तु आधुनिक ब्राह्मण अर्थ में वह ब्राह्मण नहीं था। टामस, एडवर्ड वही पृ 25–26। 3 देखो स्मिथ वही पृ 75 टि 1।

4 देखो नरसिंहाचार्य वही प्रस्ता पृ 1। 5 हिस डेविड्स बुद्धीस्ट इण्डिया, 164 270।

के पूर्वज बिन्दूसार के विषय मे हम इतना ही जानते है कि उसने एण्टीओकोस सोटर के पास दूत भेज कर किसी ग्रीक दार्शनिक के भेजने का सन्देशा पहुचाया था। और यह भी कि उसने साम्राज्य का विस्तार, उसकी विजयो और उसके पिता के साम्राज्य को दृष्टि मे रखते हुए, कम से कम मैसूर के कुछ भागो तक अवश्य ही फैला लिया था।[1] ये दोनो ही तथ्य निरुपयोगी नही है क्योकि पहला बिन्दूसार के दार्शनिक प्रेम का दिग्दर्शन कराता है और दूसरा दक्षिण भारत मे अशोक के स्तम्भो के प्रचार पर प्रकाश डालता है। ऐसा भी हो सकता है कि मात्र विजय की स्वाभाविक क्षत्रियोचित महा इच्छा के अतिरिक्त अपने पिता चन्द्रगुप्त के अन्तिम दिनो मे पवित्र हुई भूमि मैसूर को जीतने के वह पितृप्रेम से प्रेरित हुआ हो।

सिहल की दतकथाए तो यह कहती हैं कि बिदुसार ब्राह्मण धर्म पालता था। महावश मे अशोक के पिता के विषय मे लिखा है कि वह ब्राह्मण धर्म का मानने वाला होने से 60,000 ब्राह्मणो को पालता था।[2] परन्तु एड्वर्ड टामस कहता है कि "अन्य देशो और अन्य समयो के विषय मे उनकी साक्षी का कोई ऐसा महत्व नहीं हो सकता है। फिर यह भी एक खास प्रश्न है कि वे ब्राह्मणधर्म के विषय मे कितना जानते थे, और यह कि ब्राह्मण शब्द का उपयोग उनकी दृष्टि मे, अबौद्ध अथवा बौद्धो का विरोधी कोई भी धर्म अर्थ मे ही तो नहीं है। हम वर्तमान दृष्टि से यही कह सकते है कि बिंदूसार अपने पिता के धर्म का ही पालन करता था और उसी धर्म मे वह चाहे जो भी प्रमाणित हो—अशोक ने भी बचपन मे शिक्षा पाई थी।[3]

इससे अधिक बिदूसार के धर्म विषय मे कुछ भी नही कहा जा सकता है। हम देख ही आए है कि वह अपने पिता की ही भाति चाणक्य के प्रभाव मे था। जैन दतकथा कहती है कि उसके समय मे यह ब्राह्मण मत्री स्वयम् राजा को अप्रिय हो गया था जिसने उसके स्थान मे किसी सुबन्धु को मत्री नियुक्त कर दिया था।[4] उसके पुत्र और उत्तराधिकारी अशोक के विषय मे यह कहने की तो आवश्यकता ही नही है कि उसका जीवन उसके पिता की भाति अप्रसिद्ध नही था। निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के साथ उसका सम्बन्ध कैसा था यह बताने के पर्याप्त साधन है। अशोक ने अपने राज्यकाल मे किस धर्म का पालन किया था यह एक विवादास्पद विषय है, फिर भी उसका जैनधर्म के प्रति रूख कैसा था यह जानने की यहा आवश्यकता है। परम्परागत सागरग्राही वृत्ति की थोडी देर के लिए उपेक्षा कर दे तो भी हम यह कहने का साहस कर सकते है कि उसके दादा का धर्म होने के कारण उसका उस पर कोई कम प्रभाव नही पडा होगा, हालाकि महावश तो यही कहता है कि उसके पिता की ही भाति, अशोक भी ब्राह्मणो को तीन वर्ष दान-दक्षिणादि देता रहा था।[5] उसकी आज्ञाए बहुत ही उदात्त हैं और वे सर्वधर्म समभाव की स्पष्ट सूचना देती है। फिर भी इस मनोवृत्ति का मूल कदाचित् वही हो जैसा कि सूचित किया गया है।

अशोक बचपन मे ही अपने पितामह चन्द्रगुप्त के धर्म से आकर्षित था इस बात को एड्वर्ड टामस की यह बात समर्थन करती है कि 'अकबर के कुशल मत्री अबुलफज्ल ने आईन-ए-अकबरी मे काश्मीर के राज्य के लिए तीन आवश्यक तथ्य कहे है जिसमे से पहला यह है कि "अशोक ने स्वयम् कश्मीर मे जैनधर्म का प्रचार किया

---

1 स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ 155–56।

2 पिता सट्ठिसहस्सानि ब्रह्म ो ब्रह्मपक्खिके मोजेसि। –गीगर, वही, परिच्छेदो 5, गाथा 34।

3 टामस, एड्वर्ड, वही, पृ 29। 4 चाणक्य अपने राजा की अप्रसन्नता का भाजन किस कारण से हुआ इसके लिए देखो हेमचन्द्र, वही, श्लोक 436-459।

5 ...सो पीते येवा नि वस्सानि भोजयई। –गीगर, वही और वही स्थान।

था।'[1] यह प्रस्तुत करते हुए उक्त विद्वान कहता है कि अशोक के काश्मीर में जैनधर्म प्रचार की बात मुसलमान ग्रंथकार ही केवल नहीं कहते हैं अपितु राजतरंगिणी में भी यह स्पष्ट स्वीकार करने में आई है। यह ग्रन्थ स्पष्ट रूप से यद्यपि ई. सन् 1148 का रचित माना जाता है। फिर भी उसके ऐतिहासिक विभाग का आधार पद्ममिहिर और श्री छविल्लाकार के अधिक प्राचीन उल्लेख हो है।

इतना होने पर भी विद्वान पण्डित स्वीकार करता है कि अपने सारे राज्यकाल में अशोक आजीवन जैन नहीं रहा था। ऐसा होता तो जैन अवश्य ही उसका अपना प्रतिभाशाली धर्म संरक्षक प्रायतः घोषित किए बिना कदापि नहीं रहते।[3] एडवर्ड टामस के अनुसार धीरे धीरे वह बदलता ही गया और अन्त में वह बुद्धधर्म की ओर पूर्णतया झुक ही गया।[4] फिर भी अशोक की बौद्धधर्म स्वीकार कर लेने की बात सहज में मानी जा सके ऐसा तो नहीं ही है जो कुछ भी कहा जा सकता है वह इतना ही कि समय बीतते अशोक बुद्ध के उपदेश से आकर्षित होता गया था। परन्तु साम्प्रदायिक बाड़े में नहीं रहते हुए वह सदर्शन मान्य नैतिक नियमों का और सिद्धांत रूप धर्म का प्रजा में प्रचार करने लगा। यद्यपि महामान्य हेरास ठीक ही कहते हैं कि पवित्रता और जीवन की शाश्वता के जैन सिद्धांतों का उस पर खास प्रभाव तो पड़ा ही था।

अशोक बौद्धधर्मी नहीं था यह कोई नई बात ही नहीं कहा जा रहा है। विल्सन[6] मक्फेल[7] फ्लीट[8] मनाहन[9] और पादरी हेरास[10] तो हम से पूर्व ही यह कह चुके हैं। ... भी कहता है कि कुछ अपवादों

---

1 देखो टामस एडवर्ड वही, पृ 30 11। जब कनक के काका के पुत्र अशोक को उत्तराधिकार मिला उसने ब्राह्मणधर्म को उठा दिया और जैनधर्म को प्रतिष्ठापित कर दिया। —ज्यरेट आइन ए अकबरी, भाग 2 पृ 382 विल्सन एशियाटिक रिसर्चेज, स 15 पृ 10।

2 टामस एडवर्ड वही पृ 32। देखो विलफोर्ड एशियाटिक रिसर्चेज, स 9, पृ 96 97।

3 टामस एडवर्ड वही पृ 24। 4 वही।

5 हेरास वही पृ 272। देखो राक एडिक्टस (1 बी)। (3 डी) (4 सी), (9 सी) आदि हुल्टज कारपस इन्स्क्रिप्शनम इण्डिकारम, पुस्त 1 पृ 215,18 19 आदि (नया संस्करण)।

6 प्रथमतया तो शिलालेखों के तथाकथित मुख्य लक्ष्य यानि बौद्धधर्म में परिवर्तन के विषय में यह शंका करना अकारण नहीं होगा कि वे इस प्रकार के किसी लक्ष्य विशेष से ही प्रसिद्ध किए गए थे और यह कि उनका बौद्धधर्म से कुछ भी सम्बन्ध है।' विल्सन रा ए सो पत्रिका, स 12 पृ 236 देखो वही पृ 250।

7 देखो मकफेल अशोक, पृ 48। धर्म शब्द प्रचलित अर्थ में ही यहाँ प्रयुक्त है। आज्ञाओं में बौद्धधर्म का पर्याय वाचो नहीं है परन्तु सामान्य दया का ही कि जो अशोक अपनी सब प्रजा को चाहे वह कोई भी धर्म मानती हो पालन कराना चाहता था। वही।

8 देखो फ्लीट रा ए सो पत्रिका 1908 पृ 491—492। पहाड़ों और स्तम्भों दोनों ही आज्ञालेखों का प्रत्यक्ष लक्ष्य बौद्ध या किसी धर्म विशेष का प्रचार करना नहीं था अपितु अशोक का निश्चय घोषित करना था कि शासन नीति धर्म प्रेम से एक धर्मराजा के कर्तव्यानुसार चलाया जाए और सभी धर्मों के विश्वास का सम्मान करते हुए चलाया जाए। आदि। वही पृ 492।

9 अशोक के अधिकांश पहाड़ों और स्तम्भों के आज्ञालेखों के सिद्धान्त एकान्त बौद्धधर्म ही नहीं कहे जा सकते हैं। आदि। मनाहन अर्ली हिस्ट्री ऑफ बेंगाल पृ 214।

10 चौथी पांचवीं और छठी सदी के बौद्ध इतिवृत्तों ने अनेक विद्वानों को भ्रमित कर दिया है। उनमें बौद्धों के गहन सिद्धांतों का जरा भी उल्लेख नहीं है। हेरास वही पृ 255 271।

के सिवाय उसके शिलालेखो मे बौद्धो का खास कुछ भी नही है ।'[1] 'धर्म मे जो केवल बौद्धो को ही लागू हो गया कुछ भी नही होता है' ऐसा कहते हुए सेनार्ट भी इस प्रकार कहता है कि 'मेरी राय मे हमारे स्मारक (अशोक के लेख) बौद्धधर्म की उस स्थिति के साक्षी है कि जो परवर्ती काल मे विकास प्राप्त धर्म से भावप्रवणता मे भिन्न है ।'[2] यह आधार विहीन कल्पना ही है । परन्तु ऐसा ही विरोध हुल्ट्ज ने भी बताया है । वह कहता है कि उसकी सब नैतिक घोषणाए 'उसे बौद्ध सुधारक के रूप मे बनाती ही नही है', फिर भी 'यदि हम जिसे वह अपना धर्म कहता है इसकी परीक्षा करने का यत्न करें तो मालूम होता है कि उसका धर्म उस बौद्ध नैतिकता के चित्र से एक दम मिलता हुआ है कि जो धम्मपद के 'सुन्दर सग्रह में सुरक्षित है ।'[3] सेनार्ट और हुल्ट्ज दोनो ही के ये वक्तव्य उन्ही वक्तव्यो के अनुरूप उद्भव हुए है कि जिनके करनेवाले अशोक को बौद्धधर्म का प्रचारक कहते है ।[4]

भिन्न भिन्न विद्वानो की दृष्टि से अशोक के आज्ञा-स्तम्भो और शिलालेखो को देखते हुए भी कहा जा सकता है कि तथ्यो की दृष्टि से वे यह कुछ भी नही कहते है कि अशोक बौद्ध ही था अथवा हो गया था । अब हम उसके लेखे ही की निरीक्षा इस दृष्टि से करेगे कि उस पर निर्ग्रन्थ सिद्धात का कहा तक प्रभाव पडा था । कोई भी ऐसा देश नही है, अशोक कहता है, कि 'जहा दो वर्ग याने ब्राह्मण और श्रमण नही हो । योनस देश ही इसका अपवाद है ।'[5] परन्तु ये 'श्रमण' कोन थे ? हुल्ट्ज उन्हे बौद्ध-भिक्षु[6] कहता है हालाकि उसका कोई भी कारण नही है कि इसका इतना सकुचित अर्थ लगाया जाए या व्याख्या की जाए ।

'श्रमण' का सामान्य अर्थ तपस्वी या भिक्षु है । इस शब्द को जैन बौद्धो के पूर्व से ही प्रयोग करते आए है । ग्रीक ग्रन्थो मे भी यह शब्द इसी अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है । और इसका समर्थन अन्य विद्वानो द्वारा भी, जैसा कि पहले ही दिखाया जा चुका है, किया गया है ।[7] जैनो की एक प्राचीन प्रतिज्ञा या व्रत इस प्रकार का है :— "मैं बारहवे अतिथि-सविभाग-व्रत की प्रतिज्ञा स्वीकार करता हू जिससे मे श्रमण या निर्ग्रन्थ को उन्हे कल्प्य चौदह निर्दोष वस्तुए देने की प्रतिज्ञा करता हू ।" आदि आदि ।[8] कल्पसूत्र भी इसी प्रकार 'आधुनिक निर्ग्रन्थ श्रमण' का ही वर्णन करता है ।[9] दक्षिण के प्रथम दिगम्बर ग्रथकर्ता कुन्दकुन्दाचार्य भी अपनी सम्प्रदाय के साधुओ के लिए इसी शब्द का प्रयोग करते है ।[10] परन्तु सबसे विशिष्ट बात तो यह है कि बौद्ध स्वयम् निर्ग्रन्थो को 'श्रमण' शब्द से वर्णन करते है क्योकि अगुत्तरनिकाय मे लिखा है कि "अरे विशाख... । एक श्रमणो का वर्ग है कि जो निर्ग्रन्थ कहा जाता है ।[11] बौद्धो से पूर्व का ही यह जैनो का प्रचलित शब्द है यह इस बात से भी निश्चय पूर्वक प्रमाणित हो जाता है कि बौद्ध अपने को 'शाक्यपुत्रीय समण' कहते हुए अपने को 'निगठ समणो' मे जो कि पहले से ही चले आ रहे थे, अलग घोषित करते थे ।[12]

अशोक बौद्धो के ही विषय मे जब कहता है तो सब शब्द का ही वह उपयोग करता है । स्तम्भ आज्ञा 7वी मे वह कहता है कि "कितने ही महामन्त्रो को सघ के काम की व्यवस्था के लिए मे आज्ञा देता हू, अन्य कितनो

---

1 कर्न, मैन्युअल आफ इण्डियन बुद्धीज्म, पृ 112 । 2 सेनार्ट, इण्डि एण्टी , पुस्त 20, पृ 260, 264-265।
3 हुल्ट्ज, वही, प्रस्तावना प 49 । 4 देखो हेरास, वही, पृ. 201 ।
5 हुल्ट्ज, वही, पृ 47 (जे) । 6 हुल्ट्ज, वही, प्रस्तावना पृ 1 ।
7 देखो राइस, ल्यूइस, वही, पृ 8 । 8 श्रीमती स्टीवन्सन, वही, पृ 218 ।
9 याकोबी, सेबुई, पुस्त 22 पृ 297 । 10 देखो भण्डारकर, वही, पृ 99-100 ।
11 देखो याकोबी, सेबुई, पुस्त 45, प्रस्ता पृ 17 । कामता प्रसाद जैन का "दी जैन रेफरेंमेज इन बुद्धीस्ट लिटरेचर" लेख जो इहिस्टोरिकल त्रैमासिक अक 2, पृ 698-709 मे प्रकाशित भी देखो ।
12 देखो ह्रिस डेविड्स, वही, पृ. 143 ।

हा को ब्राह्मण तथा आजीवका के काम की व्यवस्था का काम देता हू अन्य को निग्रन्था के काम की व्यवस्था के लिए आना देता हू और शेष को अन्य दार्शनिको की व्यवस्था के लिए सूचना करता हू।[1]

ब्राह्मण आजीवक निग्रन्थ आदि सब का इस प्रकार स्वतन्त्र उल्लेख यही बताता है कि ये सब संघ की अपेक्षा मे एकदम भिन्न थे। अन्य स्थलो पर श्रमणो के ब्राह्मणो के साथ हो गिना लिया गया है।[2] उपर्युक्त आज्ञा मे श्रमणो का अप्रयोग इसी प्रकार समझाया जा सकता है कि यहा आजीवक और निग्रन्थ शब्द प्रयुक्त हुए है कि जो दोनो ही जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है संघ से पृथक है।

वस्तुत जैन और अन्य धर्मों के प्रति अशोक का झुकाव इन शब्दो मे स्पष्ट पाया जा सकता है कि सब मनुष्य मेरे बालक हैं। जैसा मे अपने निजी बालको के लिए चाहता हू कि उन्हे इहलोक और परलोक दोनो का कल्याण प्राप्त हो, वैसे ही मे सब मनुष्यो का वह प्राप्त हो ऐसा चाहता हू।[3] इसी प्रकार और भी स्पष्ट शब्दो मे वह कहता है कि मैं उसी रीति से सब वर्गो और वर्गो का ध्यान रखता हू। और सभी धर्म सम्प्रदाय मुझ से अनेक प्रकार का मान सम्मान प्राप्त कर चुके है।[4]

उत्तर और दक्षिण मे बौद्धो, ब्राह्मणो आजीवको और निग्रन्थो एवम् अन्यो की सार सम्हाल के लिए अशोक धर्म महामात्रो की नियुक्तिया की थी।[5] उसकी असम्प्रदायिक नीति निम्न शब्दो मे स्पष्ट रूप से प्रकट होती है —

महाराज कहते हैं कि जो कोई अपनी सम्प्रदाय के लिए अन्धश्रद्धा से अभिमान करता है और दूसरे की सम्प्रदाय की निंदा करता है वह अपनी सम्प्रदाय की निंदा करता है वह अपनी सम्प्रदाय की बडी से बडी हानि करता है।"[6]

बराबर की गुफा के शिलालेखो की विवेचना करते हुए स्मिथ कहता है कि ये सब लेख महत्व के है और वे स्पष्ट सिद्ध करते है कि अशोक की हार्दिक इच्छा और आज्ञा सब सम्प्रदायो को मान देने की थी।[7] उसके अन्य शिलालेखो के लिए भी यही कहा जा सकता है। हालांकि उसके उदार शासन काल मे उत्तर भारत मे जनधर्म की स्थिति की कोई सीधी साक्षी उपलब्ध नहा है फिर भी उपरोक्त वक्तव्य और अवलोकन चन्द्रगुप्त के महान् उत्तराधिकारी का उस धर्म के प्रति जिसे उसने पहले नहीं तो भी गौरवशील राज्य के मध्यकाल मे स्वीकार कर लिया था रुख प्रदर्शित करने को पर्याप्त है।

इस दंतकथा का परपरागत अमर का अनुमान अशोक के पौत्र सम्प्रति के आर्य सुहस्तिन द्वारा जैनी बनाए जाने की बात से समर्थित होता है।[8] सम्प्रति की जैनधर्म के प्रति भक्ति और श्रद्धा का विचार करने मे

---

1 दिल्ली तोपडा स्तम्भ आज्ञा लेख 7, हुल्टज वही प 136 (जड)।

2 देखो पर्वत आज्ञालेख (3 डी), (4 सी) (9 जी) (11 सी) (13 जी) और स्तम्भ आज्ञालेख 7 (एच एच) देखो हुल्टज, वही प्रस्ता पृ 1।

3 भिन्न भिन्न पहाडी आज्ञापत्र—जूनागढ 1 (एफ जी) 2 (ए एफ) देखो हुल्टज वही पृ 114 7।

4 दिल्ली तोपडा स्तम्भ आज्ञालेख 6 (डी ई) देखो हुल्टज वही प 129, प्रस्ता पृ 48।

5 वही प्रस्तावना प 40।

6 गिरनार पर्वत आज्ञालेख 12 (एच) देखो हुल्टज, वही पृ 21।

7 स्मिथ, वही पृ 177। देखो हुल्टज वही, प्रस्तावना प 48।

8 देखो याकोबी परिशिष्टपर्वन् प 69, भण्डारकर वही पृ 135।

पूर्व अशोक का सीधा उत्तराधिकारी कौन था, यह विचार करना हमे आवश्यक है । दुर्भाग्य से जैसा कि डॉ. रायचौधरी कहते है" किसी कौटिल्य या मैगस्थनीज ने परवर्ती मौर्यो के विषय मे कुछ भी उल्लेख नही किया है। एक या दो शिलालेख तथा कुछ ब्राह्मण, जैन और बौद्ध ग्रन्थो के सामान्य तथ्यो से अशोक के उत्तराधिकारी का सविस्तृत इतिहास सकलन करना असम्भव है ।"[1]

पुराण भी एक मत नही है कि अशोक का उत्तराधिकारी कौन था । भिन्न-भिन्न प्रमाणो के विरोधी कथनो का समामिलन करना सरल काम नही है । फिर भी अशोक के पुत्र कुनाल की वास्तविकता सभी स्वीकार करते है ।[2] उसके परिवर्तियो की दन्तकथाए भिन्न-भिन्न है । कुनाल किन विचित्र सयोगो मे अन्धा हो गया था और "राज-व्यवस्था के लिए स्वयम् अशक्त होने पर उसने अपने प्रिय पुत्र सम्प्रति याने जैन अशोक को उसके लिए नियुक्त कराया, इसका रोचक वर्णन हेमचन्द्र से हमे मिलता है । इस सम्प्रति को जैन और बौद्ध दोनो ही लेखक अशोक का अनन्तर उत्तराधिकारी मानते है ।"[3]

अशोक का उत्तराधिकारी सम्प्रति को मान लेने मे बस एक ही कठिनाई हमारे सामने उपस्थित होती है और वह है दशरथ की यथार्थता कि जिसने, जैसा कि हम पहले ही देख आए है, नागार्जुनी पहाडी की गुफा आजीविको को भेट की थी । इस कठिनाई का एक सम्भव स्पष्टीकरण यही दीखता है कि अशोक के पौत्रो के रूप मे दोनो ही ने एक ही समय मे राज्य किया होगा । हालाकि सम्प्रति अशोक का सीधा ही उत्तराधिकारी था अथवा यह कि बौद्ध एवम् जैन दोनो ही ने दशरथ की उपेक्षा कर दी है । इन दोनो सम्भावनाओ मे पहली बहुताश मे वास्तविक लगती है क्योकि सम्प्रति का नाम मगध की राजवशावली मे सर्वानुमति से सम्मिलित हुआ है ।[4]

इस प्रकार इस बात मे जरा भी सन्देह नही है कि सम्प्रति मौर्य सम्राटो मे इतना महान् था कि सब ने उसका नाम मगध राजवशावली मे गिनाया है । उसके जैनधर्म के प्रति उत्साह के विषय मे नि सकोच यह कहा जा सकता है कि उत्तर भारत के जैन इतिहास मे देदीप्यमान नक्षत्रो मे से वह भी एक है । जैनधर्म प्रसार के विषय मे जैन उल्लेखो मे सम्प्रति का उतना ही ऊचा नाम है जितना कि बौद्ध उल्लेखो मे अशोक का है । स्मिथ कहता है कि सम्प्रति जैनधर्म का प्रचार करने मे उतना ही उत्साही था जितना कि अशोक गौतम के बुद्धधर्म प्रचार मे था ।'[5]

---

1 रायचौधरी, वही, पृ 220 ।

2 देखो पार्जीटर, वही, पृ 28, 70, कोव्यैल एण्ड नील, वही, पृ 430, कल्पसूत्र, सुबोधिका—टीका, सूत्त 163, रायचौधरी, वही पृ 221 । 3 देखो याकोबी, वही, पृ 63-64, कोव्यैल्न एण्ड नील, वही, पृ 433, रायचौधरी, वही, वही, पृ, भण्डारकर, वही, वही पृ ।

4 सम्प्रति के विषय की बौद्ध और जैन दन्तकथाओ का निर्देश पिछले टिप्पण मे किया जा चुका है । परा दन्तकथा के लिए देखो पार्जीटर, वही, पृ 28,70 । देखो रायचौधरी, वही, पृ 220 । "समव है कि दशरथ और सम्प्रति दोनो ही मे साम्राज्य बाट दिया गया हो ।" —स्मिथ, वही, पृ 230 ।

5 स्मिथ, आक्सफार्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ 117 और टि 1 । देखो भण्डारकर, वही, वही स्थान, सप्रति पिता महदत्तराज्यो रथयात्राप्रवृत्त श्री आर्यसुहस्तिनदर्शनाज्जात्जातिस्मृति ...जिनालय सपादकोटि . अकरोत । कल्पसूत्र, सुबोधिका-टीका, सूत्र 6 पृ 163 ।' प्राय सारे प्राचीन जैन मन्दिर या अज्ञात-मूल स्मारक सभी एक स्वर से सम्प्रति निर्मित कहे जाते है कि जो वास्तव मे जैन अशोक के समान ही माना जाता है ।'-स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ 202 ।

सम्प्रति के जनधम व प्रति उत्साह के विषय म आचाय हेमचन्द्र मक्षेप म इस प्रकार कहते हैं, 'सारे जम्बू द्वीप म जैन मन्दिर नुसन कराए। उज्जयिनी म आय सुहस्तिन की स्थिरता के समय उनके नतृत्व म धार्मिक पव के निमित्त से अहत् की रथयात्रा का उत्सव मनाया गया था। उस प्रसग म राजा और प्रजा दोनो न ही बडी श्रद्धा और भक्ति बताई थी। सम्प्रति ने आदेश और काय म उसके अधीन राजा ने भी जैनधम स्वीकार करन और उसे प्रसार करने म उत्साहित हुए थ। इसम अपन राज्य क अतिरिक्त आसपास क देशो म भी साधु अपना धम पालन कर सकते थे।'[1]

हमारे शासन की इस सम्बन्ध म अति महत्व की बात तो यह है कि सम्प्रति न जनधम के प्रचारक दक्षिण भारत म भी भेजे थे और जो इस प्रचारक उधर गए वे श्वेताम्बर सम्प्रदाय क ही थ।[2] हेमचन्द्र को ही उद्धृत करें तो असभ्य असस्कृत दशा मे उन प्रचारको क काय को व्यापक बनाने क लिए सम्प्रति न जन साधू के वश म दूतों को भेजा था। उनने लोगो को साधुओ के कल्प्य आहार पानी आदि अन्य आवश्यकताओं की पूरी पूरी समझ दी और तहसीलदार को लिए जानकार सामान्य रूप स उक्त साधुओ का य वस्तुएं दान देन की जब भी व वहा पहुंचे आज्ञा दी। इस प्रकार माग तयार करके उसन आचाय श्री को साधुओ को अ य देशो म भेजन की प्राथना और प्रेरणा की क्योकि उनके वहा रहने मे किसी भी प्रकार की असुविधा अब नहीं रह गई थी। इस प्रकार आन्ध्र और द्रमिल देश म उसन धम प्रचारक साधु भिजवाए और उन्ह राजा की आज्ञानुसार सब सुविधाए मिली। इस प्रकार अनाय प्रजा जनधर्मी बनी।'[3]

आचाय हेमचन्द्र के अनुसार सम्प्रति के अनाय देशो म भेजे हुए जनधम प्रचारको का महत्व यह है कि दक्षिण म श्वेताम्बर सघ सम्बन्धी सबसे प्रथम उल्लेख हम यहीं मिलता है। इसलिए पूव प्रकरण म कहे गए महान् विदेश गमन जितना ही महत्व का यह भी प्रसग है। सुहस्तिन श्वेताम्बर जैन थे यह इसी म सिद्ध है कि दिगम्बर पट्टावलियो अथवा गुरुओ की वशावलियो म इनका कोई नाम नहीं है।[4] इस धम प्रचारको का नाम श्वेताम्बर कहने का कारण यह है कि जैन धम म दिगम्बर श्वेताम्बर पथभेद महान् विदेशगमन और सुहस्तिन-महागिरि दन्तकथा दोनो ही से सम्बन्धित है। हम यह भी उल्लेख मिलता है कि आय सुहस्तिन क उपदेश स सम्प्रति न जैनधम अगीकार किया था। और जब आयमहागिरि ने यह जाना तो वे दशार्णभद्र क वन म चले गए क्योकि उनकी साधुओ को कठिन साध्वाचार पालन की ओर उन्मुख करने की सारी आशाओ पर पानी इसम फिर गया था।[5] इस प्रकार श्वेताम्बर सम्प्रदाय सम्प्रति के राज दरबार म विजयी हो गया।

जैन इतिहास की दृष्टि स मगध की महत्ता का यहा अत हो जाता है। मौर्यों क अन्त एव शुगो की विजय के साथ कलिंग देश इस इतिहास का केन्द्र बन जाता है। मगध की सर्वोपरि सत्ता के पतन म कलिंग किसी अश म वह स्थान प्राप्त करने म विजयी हो जाता है खारवेल के समय म शक्तिशाली कलिंग मगध को भारी हो गया

---

1 याकोबी वही, प 69।

2 देखो भण्डारकर वही और वही स्थान। इसके सम्बन्ध म जिन प्रभसूरि क पाटलीपुत्रकल्प म लिखा है पाटली पुत्र म महान् सम्राट सम्प्रति कुणाल का पुत्र तीन खण्ड का अधिपति, महान् अहत् जिसने अनाय देशो म भी श्रमणो के लिए विहार बनवाए थ राज्य करता था।—देखो रायचौधरी वही प 222।

3 देखो याकोबी वही और वही स्थान।

4 देखो हरनोली इण्डि एण्टी पुस्त 21 पृ 57 58 और क्लाट वही पुस्त 11 पृ 251।

5 श्रीमती स्टीवन्सन वही प 74। देखो कडोलिया हिस्ट्री एण्ड लिटरेचर ऑफ जनीज्म प 55।

था और सद्भाग्य से थोडे समय के लिए जैन इतिहास मे उसने उतना ही महत्व का कार्य भी किया था। सम्प्रति के बाद मौर्यवश अधिक दिन टिका नही रहा था यह निश्चित है। जो भी राजा उसके बाद हुए होगे वे निर्बल ही होगे क्योकि जैसा हम देख आए है और आगे भी देखेंगे मौर्य सेनापति ने अन्तिम मौर्य राजा को निर्दयता से मार कर मगध का सिहासन हडप लिया था।

फिर भी प्रतिभासम्पन्न मौर्यवश के पतन के कारणो मे उतरना हमारे लिए आवश्यक नही है। इतना भर कह देना ही पर्याप्त है कि मौर्य अशोक की कलिंग विजय भारत और मगध के इतिहास मे एक महान् लाक्षणिक प्रसग था। इससे मगध साम्राज्य तमिल को छोड सारे भारत भर फैल गया था। बिबसार ने विजय कर अग देश खालसा कर विक्रय यात्रा प्रारम्भ की और उस साम्राज्य का उत्कर्ष काल अब यहा अत हो गया। एक नए युग को उसने जन्म दिया शाति, सामाजिक उन्नति और धार्मिक प्रचार का एक नया युग यद्यपि प्रारम्भ हुआ, परन्तु राजकीय जीवन की मदता और कदाचित् सैनिक अदक्षता का भी ऐसा युग प्रारम्भ हो गया कि जिसमे मगध साम्राज्य की सारी वीरता या वीर वृत्ति अभ्यास के अभाव के कारण मर गई। दिग्विजय का युग समाप्त हो गया था। धर्म विजय का युग प्रारम्भ हो गया था और इसके फल स्वरूप मगध साम्राज्य पर से मौर्य सार्वभोम सत्ता का लोप और अन्त हुआ।



चौथा अध्याय

कलिंग—देश में जैनधर्म

कलिंग देश में जैनधर्म से यहाँ प्रमुख रूप से खारवेल के राज्यकाल में जैनधर्म का इतिहास ही अभिप्रेत है। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि खारवेल से पूर्व कलिंग देश में जैनधर्म के कोई चिह्न ही नहीं थे। ऐसा कहने से तो हाथीगुंफा के शिलालेख ई. पूर्व पांचवीं और चौथी शती के स्मारकों में वहाँ के स्थापत्य और शिल्प की भव्यता एवम् जैनधर्म में अत्यन्त पूज्य ग्रन्थ में से निकलने वाले निष्कर्षों से ही इन्कार करना हो जाएगा। फिर भी यह तो स्वीकार करना ही चाहिए कि खारवेल के हाथीगुंफा के और उसी की रानी के स्वर्गपुरी के शिलालेख के अतिरिक्त कोई भी अन्य साधन हमें उपलब्ध नहीं हैं कि जिनके निश्चित आधार पर हम इस देश के जैन इतिहास के अपने अनुमान खड़े कर सकते हैं।[1]

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि महावीर के बाद होने वाले शिशुनाग, नन्द, मौर्य और अन्य राजवंशों के अनेक राजा जैन दन्तकथाओं और इतिहास के अनुसार अपने-अपने समय में जैनधर्म के या तो अनुयायी थे या उसके सहायक। इसमें सन्देह नहीं कि ये दन्तकथाएं और इतिहास अनेक जैन और अजैन लेखकों द्वारा समर्थित हैं, फिर भी विशुद्ध ऐतिहासिक प्रमाणों की दृष्टि से सिवा एक चन्द्रगुप्त के और कोई भी राजा उस महान् चेदी सम्राट खारवेल से तुलनीय नहीं है कि जो उसके ही एक शिलालेखानुसार जैनधर्मी था।

यह सम्राट खारवेल कब, कहाँ और कितने समय तक राज करता रहा, और वह जैन था या नहीं, इसका प्रमुख ऐतिहासिक प्रमाण तत्कालीन हाथीगुंफा का वह शिलालेख ही है। वह कलिंग का एक महान् सम्राट था, इस तथ्य को यद्यपि अस्वीकार नहीं किया जा सकता है, फिर भी उस कलिंग-देश की सीमाएँ क्या थीं, यह ठीक ठीक नहीं बताया जा सकता है। मौर्य साम्राज्य के पतन पर कलिंग ने उसके नेतृत्व में विप्लव किया और स्वतन्त्र हो गया था। तिलंगाना से उत्तर बंगाल की खाड़ी के किनारे किनारे लगा हुआ और पूर्वीघाट के बीच के क्षेत्र को कलिंग की सीमा कहना उचित नहीं मालूम होता है।[3] भूमि का वह पट्टा जो बंगाल की खाड़ी के सहारे

---

1 प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट समझ लेने की बात है कि कलिंग में जैनधर्म का कालक्रमानुसार उत्पत्ति की खोज करना यथार्थतया असम्भव है और वस्तुतः वह वांछनीय भी हमारे उद्देश के लिए नहीं है। हमारे लिए तो इतना ही आवश्यक है कि आज उपलब्ध प्राचीन व अर्वाचीन ऐतिहासिक स्मारकों को लेकर उस युग के समकालिक ऐतिहासिक वातावरण को यथा सम्भव ध्यान में रखते हुए ही उनसे अपने निष्कर्ष हम निकालें।

2 चेदियों के सम्बन्ध में हम जानते हैं कि वैदिक और मौर्य काल में वह एक सुप्रसिद्ध राजवंश था जो कि महाभारत में जैसा कि वे परवर्ती इतिहास में भी पाए जाते हैं उड़ीसा में आया था। यह सुनिश्चित है कि इन चेदियों की एक शाखा अति प्राचीन काल में उड़ीसा के आस पास रहा था। —बि. उ. रि. पत्रिका भा. 1 पृ. 223।

3 वही भाग 1 पृ 601।

सहारे और उत्तर मे गोदावरी मे ऊपर फैली हुई है, प्राचीन काल मे कलिंग कहलाती थी। स्थूल रूप मे भारत का वह भाग जिसे आजकल उडीसा और गजम प्रदेश कहा जाता है, उसके अन्तर्गत माना जा सकता है।

खारवेल का यह शिलालेख 'भारत के प्राचीन स्मारको मे से एक महान् विशिष्ट स्मारक होते हुए भी अत्यन्त जटिल है।[1] भगवान महावीर के अनुयायी प्राचीनतम राजो मे से किसी भी राजा का शिलालेख मे मिलने वाला नाम एक सम्राट खारवेल का ही है। मौर्य समय के बाद के राजो और उस समय के जैनधर्म के प्रताप की दृष्टि से खारवेल का यह शिलालेख देश मे उपलब्ध एक महत्व का ही नही अपितु एक मात्र लेख है। जैन इतिहास की दृष्टि से तो यह अनुपम है, परन्तु भारतीय राजसिक और ऐतिहासिक दृष्टि से भी उसकी अगत्यता अपूर्व है।

श्री आसुतोष मुकर्जी के शब्दो मे 'ऐतिहासिक शोधखोज के पावन रूप लिपिशास्त्र के क्षेत्र मे जो भूली हुई अद्भुत लिपि मे लिखे लेख खोज निकाले गए है और उनसे भूतकाल का द्वार जो उन्मुक्त हुआ है उनमे सम्राट खारवेल का हाथीगुफा का शिलालेख हमारा बहुत ही ध्यान आकर्षित करता है। ई. पूर्व दूसरी सदी के लिखे इस लेख मे उडीसा के इस सम्राट की बाल्यावस्था मे 30 वर्ष अर्थात् उसके राज्यकाल के तेरहवे वर्ष तक का वृत्तात है। यह लेख एक चट्टान पर उत्कीर्णित है और ई 1825 मे श्री स्टर्लिंग की प्राथमिक खोज के बाद सौ वर्ष से बराबर ज्ञात है और तब से अध्येताओ द्वारा यह अध्ययन भी किया जाता रहा है। उसके द्वारा जो ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त हुई है वह विशेष महत्व की है क्योकि उसमे उस समय के मगध के राजा, मथुरा के ग्रीक राजा, गोरथगिरि (बराबर की टेकरिया) और राजगृह का गढ, पाटलीपुत्र — गेय स्थान और दक्खन के राजा सातकर्णी का उल्लेख है। ब्राह्मी लिपि मे लिखे अशोक के शिलालेखो न दूसरे नम्बर के, और ई चौथी सदी के समुद्रगुप्त के शिलालेखो की समान-श्रेणी के इस शिलालेख की खोज मे अनेक और फलप्रद अभ्यसनीय परिणाम निकले हैं।'[2]

भारत मे बनारस और पुरी दो अत्यन्त महत्व के तीर्थधाम है जो प्रजा की अविस्मरणीय स्मृति मे सगृहित ऐतिहासिक घटनाओ और पावनता दोनो ही दृष्टि मे प्रसिद्ध हैं। प्रजा की आतरिक शक्ति अनेक प्रकार मे यहा ही प्रगट हुई है और यहा ही प्रजा की बुद्धि और हादर्य का समानान्तर रीति से विकास हुआ है।

हमारे यह मानने के अनेक कारण है कि उडीसा कि जो अब हिन्दूधर्म का उद्यान उसके जगन्नाथ रूपी यरूशलम के कारण है[3] तीसरी सदी ई पूर्व से ई पश्चात् आठवी या नवी सदी तक बौद्ध और जैनो का प्रभावशाली केन्द्र रहा था। बौद्धधर्म ने महान् मौर्यराज अशोक की कलिंग विजय के समय याने ई पूर्व 262 से यहा अपना प्रभाव जमाना प्रारम्भ किया था[4], परन्तु उसके मरते ही मौर्य सम्राज्य शीघ्रता से क्षीण होने लगा और मौर्यों के राजपुरोहित एव ब्राह्मण प्रतिक्रियावादियो के महान् सबल पुष्यमित्र ने राजगद्दी हडप कर बौद्धधर्म को भारतवर्ष मे बहुत भारी धक्का दिया।[5] परन्तु वह भी साम्राज्य का आनन्द निष्कटक नही भोग सका। दक्षिण मे महान् आन्ध्रवश के साथ साथ मौर्य साम्राज्य के पश्चात् जो दूसरा राजवश उठा वह था महामेघवाहन खारवेल

1 वही, पृ 534।

2. विउप्रा पत्रिका, स 10, पृ 9-10। 3 बएसो, पत्रिका भाग 28, स 1 से 5 (1859) पृ 186।

4 गगूली, उडीसा एण्ड हर रिमेस,—एशेट एण्ड मैडीवल, पृ 17।

5 मजुमदार, हिन्दू हिस्ट्री, 2य सस्करण, पृ 636।

म महत्व म सुप्रयान चन्ि वश जिसका पूर्वी समुद्रतट का समतल प्रन्श निवास स्थान था। यह चेन्विश उत्तर व ब्राह्मण प्रतिक्रियावान्ि सो अच्छा प्रत्याघाता सिद्ध हुआ।[1]

न्स प्रकार ई पूव दूसरी सदी म ब्राह्मण जैन और बौद्ध तीना ही धम कलिंग म चल रहे थ परन्तु जनधम का राजधम होन का सौभाग्य प्राप्त था। चीनी-पयटक ह्यू एनत्साग जिसन ई 629 स 645 तक कलिंग का भ्रमण किया था जना की तब वहा बडी सख्या बतात हुए उसे जनधर्म का गढ कहा है यह कहता है कि वहा अनेक प्रकार क नास्तिक थ परन्तु उनमे अधिक सख्या निग्र था (नी किन क अनुयायी) की थी।[2]

मातृभूमि मगध म से दक्षिण पूव की ओर कलिंग तक हुई जनधम की यह स्पष्ट प्रगति है। उडीसा के सम्राट खारवल और उसकी सम्राज्ञी क खण्डगिरि पर के न्ा शिलालेख जना की इस प्रगति का प्रमाणित करत हैं और न्स ऐतिहासिक सत्य का हमारे समक्ष प्रस्तुत करत हैं। यह सम्राट ई पूव दूसरी शती के मध्य मे यान ई पूव 183 स 152 म भारतवष के पूर्वी तट पर राज्य करता था।[3] उदयगिरि और खण्डगिरि पर की अन्य गुफाए एव मन्दिरो के ध्वसावशेषो स भी इसका समथन होता है। यह दाना टकरिया भुवनेश्वर क उत्तर पश्चिम म पाच माल की दूरी पर है और दाना ही उस गिरिवत्म द्वारा पृथक पृथक कर दी गइ है कि जो भुवनेश्वर से वहा पहुचन के माग की मध्यगता म है। फिर उन टकरिया म रहनवाली अनक जातिया क नाम जो कि निम्न जातिया म भी निम्न आज मानी जाती है जनो के प्राचीन ग्रथ अग और उपाग म मिलत ह और वहा न्न जातिया की भाषा का म्लेच्छ भाषा बताया है।[4]

उपरोक्त अभिलेखा म प्रथम और सब से बडा खारवल का शिलालख है और उसका प्रारम्भ जन पद्धत्यानुसार मगलाचरण स हुआ है। उडीसा मे जैनधम प्रवेश होकर अन्तिम तीथकर महावीर क निर्वाण के 100 वष पश्चात् हा जनधम वहा का राजधर्म भी बन गया था यह सब न्स शिलालेख म प्रमाणित हाता है। स्वगपुरी का दूसरा लेख यह प्रमाणित करता है कि खारवेल की प्रधान महिषी न कलिंग म श्रमणा के लिए एक मन्दिर और गुफा बनवाई थी।

हाथीगुफा शिलालख का सूक्ष्म विचार करने क पूव आस पास क खण्डहरा स हम क्या सूचना मिलती है उसका हम विचार कर लें। जिला गजेटीयर यान विवरणिका के अनुसार यह निश्चित बात है कि मौय सम्राट अशोक क समय म अनक जन यहा बस गए थे क्योंकि उदयगिरि और खण्डगिरी की रतिया पत्थर की टकरिया न्नक तापसियो के विश्रामस्थान रूप अनक गुफाओ स घिरी हुई है जिनम स कुछ म मौर्य युग की ब्राह्मी अक्षरो म शिलालख हैं। य सब गुफाए जना क धार्मिक उपयोग क लिए ही बनाई गई मालूम होती ह क्योंकि अनेक सदियो तक जन साधुओ न उनका उपयोग किया था ऐसा लगता है।[5]

यहा यह कह द कि उडीसा म बौद्ध और जैन काल का स्थपित प्रगति म गुफा मन्दिर एक प्रमुखता थी।[6] हम बौद्ध और जन दोना की बात इसलिए करत हैं कि खण्डगिरि की कुछ गुफाओ जस कि रानीगुफा और अनत

---

1 महिद, भाग 1 पृ 516, 534। 2 बील, सा यू-की भाग 2 पृ 208।

3 बिउप्रा पत्रिका स 13 पृ 244।

4 प्लिनी म सुमारा और प्टोलमे के सबराई रूप म इनकी पहचान की गई है। जन साहित्य म दस क निग स्वो ध्यबर दृष्टि एन्टी पुस्त 19 पृ 65, 69 पृ 20 पृ 25 368 374।

5 बगाल डिस्ट्रिक्ट गजेटियर पुरी पृ 24। 6 सगुमा वही पृ 31।

गुफा, मे बो-वृक्ष, बौद्ध त्रिशूल, उत्सर्गिन स्तूप, विशिष्ट स्वस्तिक चिन्ह आदि आदि बौद्ध प्रतीक बहुत ही स्पष्ट दीख पडते है।[1]

यह प्रभाव ई पूर्व 5वी सदी से लेकर ई पश्चात् 5वी या 6ठी सदी तक बराबर देखा जाता है। इसका समर्थन इस तथ्य से भी होता है कि दोनो खण्डगिरी और उदयगिरि पहाडिया जो कि खण्डगिरि नाम से ही प्रसिद्ध है, गुफाओ या कोटडियो से परिपूर्ण है जिनमे से 44 उदयगिरि मे, 19 खण्डगिरि मे और 3 निलगिरि मे है।[2] उनकी सख्या, आयु और तक्षणशिल्प उन्हे पूर्वी भारत के प्रमुख दर्शनीय स्थान बना देते है। प्राचीन काल मे इनमे बौद्ध और जैन भिक्षु या श्रमण रहते थे और उनमे से कई, प्रतनलिपिविद्या लक्षणो से, ई पूर्व दूसरी या तीसरी सदी की खोदी हुई लगती है। जैसा कि श्री गगूली कहते है, 'हाथीगुफा के लेख के काल के पूर्व याने ई पूर्व चौथी या पाचवी सदी मे इन गुफाओ मे से कुछ को अस्तित्व मे आई कहने मे हम सत्य से अधिक दूर नही रहेंगे क्योकि जिस स्थान मे ये खोदी गई थी वह सम-धार्मिको की दृष्टि मे कुछ पहले से पवित्र माना जाने लग गया होगा।'

इन गुफाओ के निर्माण की तिथि निश्चित रूप से निर्णय करना लगभग असम्भव है और इनमे बौद्ध और जैन प्रभावो के समिश्रण हो जाने से यह काम और भी कठिन हो गया है। कोटडियो की भीतो पर सामान्य उससी बौद्ध दन्तकथाए एवम् जैन तीर्थंकरो की आकृतिया खुदी दीख पडती है। खण्डगिरि की जैन गुफा मे भव्य स्तम्भ है। लगभग सभी गुफाओ की विशिष्टता यह है कि उनके सामने के वरण्डा याने ओसारी के तीनो ओर एक से डेढ फुट चौडी चबूतरी बनी है। बरण्डा की दो भीतें शीर्ष मे इस प्रकार खोखली कर दी गई है कि वे अलमारी सी दीखती है। जैन या बौद्ध भिक्षु इनको अपने जीवनोपयोगी जो भी थोडे से उपकरण उनके पास हो, रखने के उपयोग मे लेते होगे। "उत्तर भारत की जैन ललित-कला 'शीर्षक अध्याय मे इसका कला की दृष्टि से आगे विचार किया जाएगा। अभी तो श्री गगूली की इनकी टीका यहा उद्धृत कर देते है कि' ये गुफाए देखने मे सादी होते हुए भी भव्य है और भूतकाल के इनके रहवासियो के जीवन के ही अनुरूप है।"[3]

खण्डगिरि गुफाओ मे सतघर या सतबद्ध, नवमुनि और अनन्त ये तीन गुफाए अति महत्व की है। इनमे से पहले दो पर स्पष्ट जैन प्रभाव है और तीसरी पर बौद्ध प्रभाव[5] क्योकि इसकी पीठ की भीत पर स्वास्तिक और तीखा त्रिशूल खुदी हुआ है। यद्यपि पहले स्वस्तिक के नीचे एक छोटी खडी मूर्ति है जो कि अब बहुत घिसी हुई है, परन्तु जिला विवरणिका के अनुसार, वह सम्भवतया जैनो के तेईसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ की है।[6] फिर इस गुफा का चौसीता उत्तरी अश के ऊचे भाग को समतल कर के बनाया हुआ है और इसमे जैन तीर्थंकरो और देवताओ की मूर्तिया है। कोरणी की प्रत्येक महराव सर्प की दो फणो से है जो कि पार्श्वनाथ का लाछन है। महरावो और पक्ष की भीतो के बीच का स्थान हाथो मे अर्ध्य लिये जाते हुए विद्याधरो से भर दिया गया है।

सतघर गुफा लाछन सहित तीर्थंकरो की आकृतियो के लिए जो कि उसके दक्षिणी भाग के भीतरी खण्ड की भीतो पर खुदी है प्रसिद्ध है।[7] पक्षान्तर मे नवमुनि अर्थात् नौ सन्तो की गुफा एक साधारण गुफा है जिसमे दो

---

1 वही, पृ 40, 57।

2 बगाल डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, पुरी, पृ 251।

3 गगूली, वही, पृ 22।

4 वही, पृ 34।

5 देखो चक्रवर्ती, मनमोहन, नोट्स आन दी रिमेन्स इन धौली एण्ड इदवी केव्ज आफ उदयगिरी एण्ड खण्डगिरि पृ 8।

6 बगाल डिस्ट्रिक्ट गजेटीयर, पुरी, पृ 263।

7 अपने शासन देव-देवियो सहित तीर्थंकरो की ही ये सब आकृतिया है और ये बौद्ध की आकृति से मिलती-जुलती नही है जैसा कि आर्कियालोजिकल सर्वे रिपोर्ट (13, पृ 81) के सम्पादक का कहना है।

भवन और एक अलग ओसारी या वरण्डा है। इसमें दस तीर्थंकरों की लगभग एक फुट ऊंची साधारण उभरी आकृतियां पादपीठ में शासन देवी या देव की आकृतियां सहित हैं। पार्श्वनाथ जो कि उनके नागफणी छत्र लाछन के कारण सहज ही पहचान में आ जाते हैं अधिकतम पूज्य हैं क्योंकि उनकी आकृति दो बार खुदी हुई है।[1]

इसके अतिरिक्त यह गुफा उसके दो शिलालेखों के कारण भी प्रसिद्ध और महत्व की है। इनमें से एक तो महामहिम उद्योतकेसरीदेव के[4] प्रगतिमान और विजयी राज्यकाल के 18वें वर्ष का है।[5] परन्तु दोनों ही में आर्य संघ[3] ग्रह कुल देशीगण के आचार्य प्रख्यात कुलचन्द्र के शिष्य जैन श्रमण शुभचन्द्र का उल्लेख है। दोनों शिलालेख एक ही तिथि के याने लगभग 10 वीं सदी ईसवी के हो ऐसा लगता है।[4]

इस गुफा से आगे बारभुजी अथवा बारह हाथ वाली गुफा है। इसको यह नाम इसलिए मिला कि इसकी ओसारी याने वरण्डा की बाम भीत पर बारहभुजा वाली देवी की आकृति खुदी है। नवमुनि गुफा की ही भांति यहां भी साधारण उभरी हुई शासन देव देवी सहित पद्मासन में तीर्थंकरों की पद्मासन में बैठी आकृतियां हैं। पीठ की भीत पर पार्श्वनाथ की खड़ी आकृति मस्तक पर नागछत्र सहित परन्तु देवी आकृति रहित है। तीर्थंकर और उनकी देवियां लाछना सहित यहां उतारी गई हैं। ये सब एक ही मापकी याने 8 से 9।। इंच ऊंची हैं। परन्तु पार्श्व की मूर्ति 2 फुट 7।। इंच ऊंची है जिससे यह मालूम होता है कि उन्हें यह विशेष मान दिया गया था।

इसी के पड़ोस में दक्षिण और त्रिशूल गुहा है। इसे यह नाम इसलिए प्राप्त हुआ कि इसकी ओसारी की भीत पर सामान्य कोरणी के भीतरी भाग की बैठक अद्वितीय है। इन बैठकों के ऊपर पार्श्व सहित चौबीस तीर्थंकरों की आकृतियां खुदी हुई हैं। पार्श्व की आकृति पर सप्तफणी नाग छत्र है और अंतिम आकृति महावीर की है। इस मूर्ति समूह में भी पार्श्व की आकृति महावीर के पूर्व ही तेईसवें तीर्थंकर की भांति नहीं रखी जा कर पीठ की भीत पर केन्द्र में खोदी गई है और इस प्रकार उसे विशेष महत्व दे दिया गया है। पन्द्रहवें तीर्थंकर की आकृति का नीचे का भाग आंगन से उठते हुए बैठक या कुरसी से ढका गया है जिस पर कि घिए पत्थर (सोपस्टोन) पर सुन्दर उत्कीर्णित तीन आदिनाथ की मूर्तियां हैं। इस समूह की मूर्तियों का सामान्य रचना पास की गुहा की मूर्ति रचना से कुछ सूक्ष्म और अच्छी है।[6]

नवमुनि गुहा का ही तिथि का एक शिलालेख ललतेन्दु केसरी या सिंहद्वार गुहा में उद्योत केसरी का ही है। शिला विवरणिका के अनुसार यह दु मंजिली गुहा राजा ललतेन्दु केसरी के नाम पर बनी है और पहली मंजिल के भवनों में जैन तीर्थंकरों की कुछ आकृतियां उत्कीर्णित हैं। इनमें भी पार्श्वनाथ सब से प्रमुख हैं।[7] यह गुफा की पीठ की भीत पर उसकी तल भूमि से 30 या 40 फुट की ऊंचाई और दिगम्बर सम्प्रदाय की मूर्तियों के समूह के ऊपर खुदा है।[8]

---

1 एपी इण्डि पुस्त 13 पृ 166। 2 बंगाल डिस्ट्रिक्ट गजटियर पुरी पृ 263। 3 एपी इण्डि पुस्त 13 पृ 166। 4 गंगूली वही पृ 60। 5 बंगाल डिस्ट्रिक्ट गजेटियर पुरी पृ 262। 6 वही। 7 वही देखो चक्रवर्ती मनमोहन, वही पृ 19।

8 कदाचित ऐसा हो कि खारवेल के समय में महान् मतभेद कि जिसने बाद में जैनों को दिगम्बर और श्वेताम्बर ऐसे दो सम्प्रदायों में विभक्त कर दिया स्पष्ट रूप में प्रकाश में नहीं आया था। परन्तु लगता कि हम पहले ही देख आए हैं बाद के इतिहास में दिगम्बर दक्षिण में प्रमुख हो गए थे। इनका बदामी और एम ही अन्य स्थानों की जैन गुफाओं से यह स्पष्ट है।

शिलालेख अच्छी दशा मे नही है और इसलिए उसकी अन्तिम पंक्ति के कुछ शब्द मुस गए हैं । जैसा भी वह है उससे हमे यह पता लगता ही है कि "प्रख्यात उद्योतकेसरी के विजयी राज्य के पाचवें वर्ष मे प्रख्यात कुमार पहाडी पर,[1] जीर्णशीर्ण ताल और जीर्णशीर्ण मन्दिरो का फिर से पुनरुद्धार कराया गया (और) उस स्थान पर चौवीस तीर्थकरो की मूर्तिया स्थापित की गई । प्रतिष्ठा के अवसर पर...जसनन्दी...प्रख्यात (पारस्यनाथ) (पार्श्वनाथ) के स्थान (मन्दिर) मे ।[2]

इस लेख मे जो कुछ भी लिखा गया है उससे स्पष्ट है कि उद्योतकेसरी या तो जैनी था या वह जैनधर्म का बडा सरक्षक और सहायक था । हमे ऐसा कोई निश्चित आधार प्राप्त नही है कि हम इस लेख के उद्योतकेसरी का किसी ऐतिहासिक व्यक्ति विशेष से मिलान कर सके । फिर भी इतना तो निर्जोखम कहा ही जा सकता है कि उडीसा का इतिहास ई 200 याने आध्रो के समय से लेकर ई 7वी सदी के प्रारम्भ तक बहुतांश मे अन्धकाराविष्ट है ।

परन्तु जगन्नाथ मन्दिर के ताडपत्रीय, वृत्त मादला पाजी के अनुसार, उडीसा 7वी से 12वी सदी ईसवी तक केसरी याने सिह राजवश के अधिकार मे था ।[3] इस केसरीवश का विवरण खोजना नि.सदेह हमारे प्रतिपाद्य युग से बाहर जाना होगा । फिर भी भुवनेश्वर और अन्य स्थानो पर उपलब्ध उनके भव्य अवशेष उस राज्य वश की सम्पन्नता एव उच्च सस्कृति की प्रत्यक्ष साक्षी देते हैं । ये भव्य मन्दिर बताते हैं कि उस समय हिन्दूधर्म का प्रभाव उडीसा पर पूरा पूरा छा गया था और बौद्धो का कोई भी अवशेष जो कुछ ही सदियो पूर्व दन्तकथाओ के अनुसार वहा प्रवेश पाया था, प्राप्त नही होता है । परन्तु उस समय मे जैनधर्म का प्रजा मे प्रभाव और प्रेम चलता रहा था अथवा पुनरुज्जीवित हो गया मालूम पडता है क्योकि खण्डगिरि उदयगिरि की गुहाओ मे शिलालेख और शिलोत्कर्णित जैन तीर्थकरो या देवीदेवताओ की उसी युग की लिपि की मूर्तिया पाई जाती हैं ।

उदयगिरि पर की गुफाओ का विचार करने पर हम देखते है कि ललितकला और शिल्प की दृष्टि मे ये सब उडीसा मे बडे महत्व की है । इनमे से भी रानीगुफा या रानी नूर मे विशिष्ट है क्योकि मनुष्य की विविध क्रियाओ के दृश्य उसकी भव्य वेष्टनी की कोरणी मे खुदे है । इसमे भी तीन वेष्टनिया और नीचे के मन्जिल के भवनो की कोरणी विशेष ध्यान आकर्षित करती है । जिला विवरणिका के अनुसार 'दृश्य यद्यपि बहुत से अंशित हो गए है फिर भी, किसी धार्मिक प्रसग मे नगर मे निकलती किसी साधु-पुरुष की सवारी का प्रदर्शन करते हैं जिसको लोग अपने घरो मे से ही देख रहे हैं ताकि एक दृष्टि तो उन्हे भी प्राप्त हो जाए । घोडे आगे आगे चल रहे है, हाथी पर सवारिया की जा रही हैं, रक्षक पहरा दे रहे है और प्रजाजन, पुरुष एव स्त्रिया, हाथ मे हाथ मिला कर सतो के पीछे पीछे चल रहे हैं और स्त्रिया खडी रह कर या बैठ कर थाल मे फल और आहार अर्घ्य रूप मे लिए आशीर्वाद मागती है ।[4]

ऊपर की मुख्य पार्श्व की वेष्टनी जो कि लगभग 60 फुट लम्बी है, अत्यन्त मनोरजक है । सत्य तो यह है कि भारतीय गुफाओ की कोई भी वेष्ठनी पुरातत्वज्ञो मे चर्चा का ऐसा विषय नही बनी है । इसके दृश्यो की जो कि

---

1 शिलालेख की दूसरी पंक्ति मे हमे पता लगता है कि खण्डगिरि का प्राचीन नाम कुमारी पर्वत था । खारवेल का हाथीगुफा का शिलालेख उदयगिरि का प्राचीन नाम कुमार पर्वत बताता है । ये जुडवा दोनो पर्वत 7वी या 11वी सदी ईसवी तक कुमारी पर्वत ही कदाचित् कही जाती रही होगी ।

2 एपी इण्डि, पुस्तक 13, पृ 167 ।

3 देखो बगाल डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, पुरी, पृ 25 ।

4 वही, पृ 254 ।

गणेशगुफा म भी समीप म पुनरावर्तित हुए हैं अनेक व्याख्याएं की गई हैं। जिला विवरणिका का सम्पादक का विश्वास है कि इसमें पार्श्वनाथ ही तीर्थंकरों में से महान् सम्मानित दिखाया गया है।[1] भावदेवसूरि के पार्श्वनाथ चरित कल्पसूत्र और स्थविरावली जैसे प्रमाणों में उल्लिखित पार्श्व के जीवन प्रसंगों को संक्षिप्त सर्वेक्षण करने पर यह अनुमान निकाला जा सकता है कि मध्यकालीन जैन दंतकथाएं तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का कलिंग सहित[3] पूर्वीय भारत से सम्बन्ध जोड़ती हैं और इसलिए यह सूचित करना अनुचित नहीं है कि हाथी का दृश्य पार्श्वनाथ की भावी पत्नि प्रभावती को उनके सम्बन्धियों एवं परिचारकों सहित प्रस्तुत करता है और उसके बाद का दृश्य कलिंग राजा द्वारा उसके अपहरण का है, चौथा दृश्य आखेट के समय वन मे पार्श्वनाथ द्वारा उसकी विमुक्ति का है उसके बाद का दृश्य लग्नोत्सव समय के भोजन का सातवां लग्नक्रिया का और आठवां नीचे की पायगा में पार्श्वनाथ के तीर्थंकर रूप में भ्रमण और उन्हें दिए गए मान सम्मान का प्रदर्शन करता है।[4]

इस पर से अनुमान किया जा सकता है कि ये सब दृश्य पार्श्वनाथ या उनके किसी विनयी शिष्य के जीवन घटनाओं सम्बन्धी ही हैं हालांकि ऐसा अनुमान दी रिमेन्स ऑफ उड़ीसा एन्शेंट एण्ड मेडीवल ग्रन्थ[5] के विद्वान लेखक का बहुत खींचतान से निकाला हुआ ही लगता है क्योंकि यह प्रमुखतया बौद्ध गुहा है कि जिसके सम्बन्ध में पहले ही कहा जा चुका है।

ऐसा ही भ्रम गणेश गुफा के विषय में भी उठता है। क्योंकि रानी नूर की भांति ही इस गुफा के वेष्टीनीशिल्प में घाघरावाले सैनिक हैं इसलिए जिला विवरणिका का सम्पादक इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि यह दृश्य कलिंग के यवन राजा[6] द्वारा प्रभावती के हरण की मध्यकालिक कथा और फिर ... के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ द्वारा उसकी मुक्ति का निर्देश करता है।[7] जब हम ...रदार घाघरा पहनावे वाले सिपाहियों को परदेशी रूप में पहचानते हैं तो उपर्युक्त परिणाम का समर्थन भी हो जाता है कि पार्श्वनाथ ने यवन राजा के पाश से प्रभावती को जैसा कि जैन दंतकथा कहती है मुक्ति दिलाई हो। फिर भी गंगूली विवरणिका के विद्वान सम्पादक से सहमत नहीं हैं क्योंकि वह इस गुफा को बौद्ध गुफा ही मानते हैं। उनके अनुसार यह मूर्तिशिल्प बौद्धमूल का निर्भ्रान्त है।[8] इन सब विवेचना से यह स्वाभाविक ही है कि जैन श्रमणों ने अपने परम पूज्य तीर्थंकर की जीवन घटनाओं को अपनी निवास गुहाओं या कोटड़ियों में खोद दिया हो।

स्थापत्य की दृष्टि से दूसरे नम्बर की महत्व की गुफाएं हैं जयविजय स्वर्गपुरी सिंह और सर्प गुफाएं। स्वर्गपुरी गुफा के अतिरिक्त अन्य कोई भी इनमें बड़े ऐतिहासिक महत्व की नहीं है। पर सिंह गुफा में एक बौद्ध लेख है और यह कि डा फर्ग्यूसन और बरजेस के अनुसार सिंह और सर्प गुफाएं इस टेकरी पर की मूर्तिशिल्प की प्राचीनतम गुफाएं हैं।[9] प्रसंग वश यह भी कह देना चाहिए कि सर्प गुफा जो कि हाथीगुफा के पश्चिम में है कि ओमारो इस

---

1 वही। देखो चक्रवर्ती मनमोहन वही पृ 9 10।

2 देखो हेमचन्द्र त्रिषष्टि-शलाका पर्व 9 पृ 197-201 भी।

3 तत्रासीत् कलिंगादिदेशानामकनायक। —वही श्लो 95 पृ 199।

4 बंगाल डिस्ट्रिक्ट गजेटियर पुरी पृ 256।

5 गंगूली, वही पृ 39। 6 यवनो नाम दुर्दान्त। —हेमचन्द्र वही और वही स्थान।

7 बंगाल डिस्ट्रिक्ट गजेटियर पुरी वही और वही स्थान। यह दृश्यावली वेष्ठनी उस कथा की पूर्व कथा लगती है कि जो रानी गुफा की ऊपर की मंजिल में विश्राम पाई हैं।' —चक्रवर्ती मनमोहन वही पृ 16।

8 गंगूली वही पृ 43। 9 फर्ग्यूसन एण्ड बरजेस केव टेम्पल्स ऑफ इंडिया 68।

प्रकार उत्कीर्णित है कि पार्श्वनाथ के लाछन सर्प के तीन फरण जैसी वह दीखती हे ।[1]

स्वर्गपुरी गुफा मे तीन शिलालेख है जिसमे का पहला कलिंग सम्राट खारवेल की पटरानी का है । इस पर से मालूम होता है कि जैन सम्प्रदाय की सेवा करने के सुकार्य मे वह अपनी पटरानी को भी साथ रखता था। उदार और धार्मिक वृत्ति की इस स्त्री, जो कि लालाक की पुत्री थी, की स्मृति उसकी निर्मित गुफा और जैन मन्दिर का उल्लेख करने वाले छोटे शिलालेख वाली गुफा के साथ जुड़ी हुई हे जिसका कि हम आगे विचार करने वाले है ।

बगाल जिला विवरणिका के पुरी खण्ड मे मुदित नक्शे के अनुसार डॉ बैनरजी इसे मचपुरी गुहा कहते है परन्तु कुछ समय पहले यह स्वर्गपुर कहा जाता था ।[2] प्रिन्स्येप[3] ने उसे वैकुण्ठ गुफा, और मित्रा[4] ने वैकुण्ठपुर कहा था । इसके भिन्न-भिन्न नामो के विषय मे श्री बैनरजी कहते है कि 'इन गुफाओ के स्थानीय नाम प्रत्येक पीढी मे बदलते रहे है । जब एक नाम विस्मृत हो जाता है तो दूसरा तुरन्त वह लिया जाता है । वस्तुत यह गुफा दो मजिली और पार्श्व पक्षवाली गुफा की ही उपरी मजिल हे, परन्तु स्थानिक लोग बहुधा भागो को भी पृथक नाम दे देते है ।''[5]

प्रथम लेख सामने के दूसरे और तीसरे द्वार के बीच के उपसे हुए स्थान पर खुदा हुआ और तीन पक्तियो का है और वह कहता हे कि 'कलिग के श्रमणो के लिए एक गुफा और एक अर्हतो का मन्दिर हस्तिमाहस (हस्तिमाह) के पौत्र लालाक की पुत्री, खारवेल की पटरानी, ने बनाया है ।'[6]

दूसरा और तीसरा उल्लेख दो गुफाओ सम्बन्धी ही है जिसमे की एक गुफा 'कलिग का नियता राजा कुडेसीरी'[7] और दूसरी युवराज वडुख[8] इस प्रकार के दो नामो की ह । सामने की भीत पर पहली और नीचे की मन्जिल की बाजू की भीत पर दूसरी लेख खुदी हुयी है । बेनरजी के अनुसार इन तीनो शिलालेखो की लिपि' खारवेल के हाथीगुफा के शिलालेख के थोडे ही समय बाद की है ।'[9]

ये सब साधन कलिग पर प्रभावशाली जैन राजवश की हस्ति को प्रमाणित करते ह । यह वश कब तक चलता रहा था और उसके बाद कौनसा वश आया इसकी जानकारी नही हे । परन्तु जिला विवरणिका कहती है कि 'उडीसा और कलिग ई दूसरी सदी मे आध्रवश की अधीनता मे था जिसके कि राज्यकाल मे वहा बुद्धधर्म का प्रवेश होना कहा जा सकता है । तिब्बती वृत्तान्तो मे एक कथा सुरक्षित हे और वह यह ह कि आध्र दरबार मे ई 200 मे होने वाले नागार्जुन ने ओटिशाके राजा को अपने 1000 प्रजा जनो सहित बुद्धधर्म मे दीक्षित किया था । प्रजाजनो का यह धर्म-परिवर्तन राजा के उदाहरण से सहल बन गया होगा ऐसा लगता हे ।[10]

इन ऐतिहासिक प्रमाणो के हमारे सामने होते हुए सम्राज्ञी के पिता के सगे-सम्बन्धी भी जैन हो, यह अनुमान करना जरा भी अतिशयोक्तिक नही हे । हम आगे देखेगे कि उसका भी एक ऐसा महान् राजवश होना चाहिए कि जिसके साथ खारवेल जैसे महान सम्राट ने अपना वैवाहिक सम्बन्ध जोडना उचित समझा था ।

---

1 बडिग, पुरी, पृ 260 । 2 एपी इण्डि, पुस्त 13, पृ 159 ।
3 बएसो पत्रिका, स. 6, पृ 1074 । 4 मित्रा एटीक्विटीज आफ उडीसा, भाग 2, पृ 14-15 ।
5 एपी इण्डि, पुस्त 13, वही और वही स्थान ।
6 अरहत पसादाय कालिगान समनान लेण - सिरि-खारवेलस अगमहिसिना कारितम् ।-वही ।
7 एपी इण्डि, 13 पृ 16 । 8 वही, पृ 161 । 9 वही, पृ 159 । 10 बडिगपु, पृ 25 ।

ग्र नव ा कुछ हमने देखा और जाना उस पर मे इन पहाडियो की एक लाक्षणिकता बहुत ही स्पष्ट होती है और उसकी ओर ध्यान आकर्षित करना यहा आवश्यक है। जिला विवरणिका के अनुसार खण्डगिरि की अनेक गुफाओ म जन तीर्थकरो की प्रतिमाए है जो, गुफाओ म परवर्ती काल की हो तो भी, मध्यकालीन जन भक्तमाल (hagiology) के उदाहरण रूप स रोचक हैं। और यदि य मूर्तिया गुफाओ जितनी ही प्राचीन हैं तो वे तीर्थकरो और उनके परिवारो क प्राचीनतम उपलब्ध नमून हैं। मूर्तियो में पार्श्वनाथ या उनके लांछन फणार के प्रयोग की प्रमुखता एक विचित्र बात है क्योकि अन्य उपलब्ध अवशेषो मे महावीर को ही सब तीर्थकरो से प्रमुखता दी गई है। पार्श्वनाथ की प्रमुखता इन अवशेषों की प्राचीनता को ही सिद्ध करती है और यदि ठीक हो तो य जैन मूर्तिशिल्प क अद्वितीय उदाहरण हैं। महावीर के 200 वर्ष पूर्व अर्थात् ई पूर्व लगभग 750 म हुए पार्श्वनाथ के विषय म हम बहुत ही कम जानकारी है कि जिसने चार व्रतो का धर्म ही उपदेश दिया था और दो वस्त्रो, यानि एक अधो और एक उपरि के प्रयोग की ही आज्ञा दी थी। इस दृष्टि स इन गुफाओ म प्राप्त मूर्ति रूपी अभिलेख चाहे व बहुत सामान्य ही हो फिर भी पुरातत्वज्ञो द्वारा स्वागत योग्य ही है।[1]

'स्वर्ग और मोक्ष के दाता[2] और सर्वगुण सम्पन्न पवित्र पुरुषो[3] का स्थान माने जाने वाले इस देश के पवित्र अवशेषो स इतने ही परिणाम निकाल जा सकते है। यहा ईसवी युग म बहुत ही पहले बौद्ध एवम् जनधर्म प्रधान हो चुके थे और उनने हिन्दूधर्म जिसका उचित नाम ब्रह्मणधर्म है, को बहुत ही प्रभावित किया था। ऋषियो की गुफाओ मे कभी जैन तो कभी बौद्ध प्रमुखत्व अनुभव किया जाता रहा था और इसलिए कुछ प्रतीको अथवा स्थपित कल्पनाओ के लक्षणो के तुच्छ आधारो पर निश्चित रूप स इन गुफाओ को बौद्ध या जन मूल की बताना या कहना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव सा लगता है। हमारी यह कठिनाई तब और भी अधिक हो जाती है जब कि उन दिनो म दोनो ही धर्मों म स्वस्तिक वृक्ष आदि आदि समान प्रतीको का प्रयोग एक साधारण बात थी। ऐसे ऐतिहासिक तथ्य चाहे जसे भी हो फिर भी यह निश्चित है कि विचार कला, कलाविधान, मूर्तिशिल्प, स्थापत्य के प्रत्यक विभाग म हो रहे महा परिवर्तन जन और बौद्धधर्म के साथ ब्राह्मण धर्म के सम्मिलन म प्रभावित हुए बिना रह ही नहीं सके थे।

इन प्रारम्भिक विचारो के पश्चात् अब हम हाथीगुफा के शिलालेख का विस्तार स विचार करेंगे। परन्तु इसके भी पूर्व खण्डगिरि टेकरी वरशिखर पर मरहटों द्वारा बनाए गए जन मन्दिर का सरसरी दृष्टि स विचार करना अप्रासंगिक नहीं होगा। यह मन्दिर लगभग एक सदी ही का प्राचीन और अठारहवी सदी की समाप्ति के आसपास का बना हुआ है।[4] जन मन्दिरो की सामान्य प्रथानुसार यह बडे भव्य स्थान पर बना हुआ है और यहा स बडा ही सुन्दर दृश्य दीखता है। इस द्रष्टि स मन्दिर के विषय म दी गजेटियर आफ उडीसा ग्रन्थ के लेखक का कहना है कि "इस मन्दिर म श्याम पाषाण की महावीर की छोटी प्रतिमा है और वह एक काष्ठ सिंहासन पर रखी है। यह मन्दिर दिगम्बर सम्प्रदाय के कटक निवासी जन व्यापारी मजु चौधरी और उसके भतीजे भवानी दादू ने बनाया था।"[5] इसके मूल गभार म ही एक चिनाहुआ चबुतरा है जिसके पीछे की भीत कुछ ऊपर उठा हुआ है और उसमें पाच जन तीर्थकरो की मूर्तिया जडी हुई है। मन्दिर के पीछे कुछ ही निचाई पर एक चबूतरा है जिस पर इधर उधर बिखरे हुए अनेक उत्सर्गित स्तूप हैं जो कि प्राचीन मन्दिर के अस्तित्व का सकेत करते हैं।[6]

---

1 वही पृ 266। 2 वनपर्व खण्ड 114 श्लोक 45। 3 ब्रह्मपुराण अध्याय 26।
4 मित्रा, वही पृ ?। 5 वही। 6 बजिम पुरी, पृ 264।

अब हाथीगुफा का विचार करें। यह एक प्राकृतिक गुफा है जिसे कलाविज्ञान ने न तो कुछ विस्तृत ही किया है और न सुधारा ही है। यह गुफा उदयगिरी टेकरी के दक्षिणी मुह पर है जो स्वयम् उड़ीसा के पुरी जिले मे भुवनेश्वर से लगभग तीन मील की दूरी पर खण्डगिरि नाम की पहाडियो की निम्न श्रेणी का उत्तरीय अश है। कला और स्थापत्य की दृष्टि से महत्व की नही होते हुए भी उस बस्ती की गुफाओ मे सर्व प्रमुख यह इसलिए है कि कलिंग के सम्राट की आत्मजीवनी का उस "गुफा के शिखर" पर एक बडा शिलालेख है।"[1]

यह लेख कुछ तो अगले भाग पर और कुछ गुफा की छत पर खोदा हुआ है। ई पूर्व 2 री सदी के भारतवर्ष के उस इतिहास पर इससे बहुत ही प्रकाश पडता है "जब कि चन्द्रगुप्त और अशोक का साम्राज्य विनाश हो चुका था, और राज्य अपहर्ता पुष्यमित्र मौर्य-साम्राज्य के अ श पर राज्य कर रहा था एवम् दक्षिण-भारत के आध्र शक्ति सचय कर उत्तर की ओर बढ आए थे यहा तक कि मालवा को भी कदाचित् उनने विजय कर लिया था।"[2]

अभिलेख जैन शैली से अर्हतो और सिद्धो की प्रार्थना से प्रारम्भ होता है।[3] फ्लीट के विश्वासानुसार[4], यह अभिलेख खारवेल द्वारा जैनधर्म के उत्कर्ष के लिए की गई प्रवृत्तियो के वर्णन का नही है। परन्तु इसमे उस सम्राट के अपने 37 वर्ष अर्थात उसके राज्यकाल के 13वें वर्ष तक का इतिवृत्ति और उसी मे उसकी विविध प्रवृत्तियो का उल्लेख किया गया है।

उस शिलालेख का जैसा भी वह है, अनुसरण करते हुए हम देखते है कि उसकी भाषा अपभ्र श प्राकृत है जिसमे अर्ध मगधी और जैन प्राकृत के भी छीटे है। यह शिलालेख खारवेल के राज्य के तेरहवे वर्ष मे खुदवाया गया था। उसके राज्यकाल का यह तेरहवा वर्ष उसके जीवन के सैंतीसवें वर्ष के अनुरूप है क्योकि पन्द्रह वर्ष का होने पर खारवेल युवराज हुआ था और उसका वेदोक्तविधि से महाराज्याभिषेक 24वा वर्ष समाप्त होते ही हुआ था। खारवेल का यह अभिषेक बताता है कि जैनधर्म ने सनातन शैली की राष्ट्रीय प्रथाओ मे कोई हस्तक्षेप नही किया था।[5]

खारवेल और उसके राजनयिक जीवन की प्रमुख घटनाओ की सूचना ठीक ठीक देने के अतिरिक्त इस शिलालेख से हमे इस महान सम्राट की तिथि के प्राय, ठीक ठीक निर्णय का भी आधार प्राप्त हो जाता है। इस शिलालेख के सिवा और कोई भी ऐतिहासिक या अनैतिहासिक मूल्य का साधन हमे प्राप्त नही है कि जो भारतवर्ष के इतिहास के इस कालक्रम पर इतना अच्छा प्रकाश डाल सकता है।

जैसा कि नीचे दिए टिप्पण से[6] ज्ञात होगा, अभी अभी तक फ्लीट और अन्य विद्वानो के विपक्ष मे कुछ

---

1 गागूली, वही पृ 47। 2 बिउप्रा पत्रिका स 3, पृ 488।

3 नमो अराहतान नमो सवसिधान...आदि। वही, स 4, पृ 397, और स 13, पृ 222।

4 राएसो, पत्रिका, 1910, पृ 825। 5 बिउप्रा, पत्रिका, स 3, पृ. 431, 438।

6 इस टिप्पण मे प्राय कालक्रमानुसार उन विद्वानो के नाम दिए गए है कि जिनने इस शिलालेख को एक या दूसरी दृष्टि से विचार किया है। श्री ए स्टर्लिग ने इसकी सर्व प्रथम खोज की थी और कर्नल मैकेजी की सहायता से इस दिलचस्प अभिलेख की सन् 1820 ई मे छाप ली और उसे बिना अनुवाद या प्रतिलिपि के सन् 1825 मे अपने अत्यन्त मूल्यवान लेख 'एन अकाउ ट, ज्योग्राफिकल, स्टेटिस्टिकल एण्ड हिस्टोरिकल, आफ उरीसा प्रापर आर कटक' (आर्कियालोजिकल रिव्यु, भाग 15, पृ 313 आदि, और फलक) सहित प्रकाशित किया था। फिर जेम्स प्रिन्सेप ने सन् 1837 मे पहली ही वार लेफ्टेनेट किट्टो की शुद्ध प्रतिलिपि के आधार पर प्रकाशित किया और उसके अनुसार यह लेख ई पूर्व 200 से पहले का नही हो सकता है (बगाल एशियाटिक सोसाइटी पत्रिका, पुस्त. 6, पृ 1075 आदि एवं फलक 58।

विद्वान पण्डितो का यही विश्वास था कि इस लेख की 16वी पक्ति म मौय युग का उल्लेख था और वही कलिंग इतिहास म इस महत्व के युग की तिथि निर्णय का एक मात्र आधार भी । श्री जायसवाल न जो कि इस सिद्धात

इस लख का लिथाग्राफ कनिंघम का किया हुआ हम फिर कारपस इस्क्रिप्शन इण्डिकारम् पुस्त 1 (1877), प 27 आदि, 88-101 132 आदि और फलक 17 मे देखत हैं। परन्तु ऐसा लगता है कि प्रिंस्येप के विवेचन ने पूव विद्याविदो का ध्यान इसकी उपयोगिता और ऐतिहासिक मूल्य की ओर आकर्षित किया । राजेन्द्र लाल मित्र न उसके अनुवाद और प्रतिलिपि की नकल की और सशोधित रूप म उस अपने महान् ग्रन्थ दी एण्टीक्विटीज आफ उरीसा" के प 16 आदि म सन् 18880 मे हूबहू प्रतिलिपि के साथ प्रकाशित किया। उसके अनुसार इस शिलालेख की तिथि ई पूव 416 316 के बीच मे कही भी होना चाहिए । डा मित्र के कुछ ही वर्षो के बाद स्व प भगवानलाल इन्द्रजी न इस महत्वपूर्ण शिलालेख का सबसे पहला कामचलाऊ सस्करण छठी इन्टरनेशनल काग्रेस आफ ओरियन्टलिस्ट की विवरण पत्रिका मे जो कि लाडन (हालण्ड) मे सन् 188९ मे हुई थी प्रकाशित किया था और उसके अनुसार इसकी तिथि मौय सम्वत् 165 अर्थात् ई पूव 157 निश्चित हुई । (Actes Sia Conar Dr aleide pt ııı, sec ıı pp 152 177 and date

इसके पश्चात् ब्हूलर न सन् 1895 और 1898 म अपन ग्रन्थ इण्डियन स्टडीज सख्या 3 पृ 13 और प्रथमान दी ओरिजन आफ दी इण्डियन ब्राह्मी एल्फाबट, प 13 आदि म क्रमश विचार किया था, परन्तु उसन कुछ अशुद्धियो की शुद्धि का ही उसमे प्रस्ताव किया था। स्वर्गी पण्डित जी की तिथि निर्णय, लख की 16वी पक्ति के किसी मौर्यसम्वत् क उल्लेख मान म किया हुआ, विसेंट स्मिथ काशीप्रसाद जायसवाल राखालदास बनरजी और अन्य पुरातत्वज्ञो की आधुनिक सम्प्रदायवादियो द्वारा अभी तक त स्वीकृत ही था । परन्तु फ्लीट और उसके बाद कुछ अन्य विद्वानो न उक्त पक्ति के इस प्रकार वाचन का विरोध किया हालाकि फ्लीट ने यह भी स्वीकार किया कि स्व प भगवानलाल इन्द्रजी क वाचन के विरुद्ध एक भी आवाज तब तक नही उठा था। (देखो स्मिथ अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया 4 था सस्करण पृ 44 टिप्पण 2 और राएसो पत्रिका 1918, पृ 544 आदि जायसवाल बिउप्रा पत्रिका, स 1 पृ 80 टिप्पण 55 म 3 पृ 425 485, स 4 पृ 364 आदि बनरजी, रा दा बिउप्रा पत्रिका स 3 प 486, डुब्रूइल ऐशट हिस्ट्री आफ दी डेक्कन प 12 जिनविजय प्राचीन जन लेख सग्रह भाग 1, जो सारा ही खारवेल के विषय मे विचार करता है और जयसवाल सम्प्रदाय से सहमत है। और कोनोव आर्कियालोजीकल सर्वे आफ इण्डिया 1905-1906 पृ 166 । इसके अनुसार लेख म मौय युग की ही तिथि है।) इस ग्रन्थ की समीक्षा करते हुए राएसो पत्रिका 1910 पृ 242 आदि वाले अपन प्रथम टिप्पण म डा फ्लीट कहता है कि डा कोनोव अपनी कफियत मे खारवेल के हाथीगुफा के शिलालेख का उल्लेख करता है और प्रसगवश कहता है कि इसकी तिथि मौय सम्वत् 165 है । 'हम इस अवसर पर यह कह देना चाहते हैं कि यह गलत बात है और इसका 16वी पक्ति के भगवानलाल इन्द्रजी के वाचन क सिवा कोई भी आधार नही है ।'

अब हम श्री फ्लीट एवम् उन्हीं के मत के अन्य विद्वानो का विचार करें। ई 1910 म प्रो एच ल्यूडस न एपीग्राफिका इण्डिका स 10 म ल्यडस सूची स 1345 के प 160 म इस शिलालेख का सक्षप प्रकाशित किया और कहा कि इसम काई भी तिथि नही है । इसके पश्चात् स्व डा फ्लीट ने राएसो पत्रिका 1910 प 242 आदि म एक टिप्पण और पृ 824 आदि मे दूसरा टिप्पण लिख प्रकाशित किया । जैसा कि हम ऊपर देख चुक ह डा फ्लीट को इस शिलालेख म मौय सम्वत् की कोई तिथि होने के विषय म सन्देह था । ही उसन इन टिप्पणो म यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि लेख की 16वी पक्ति को अश म इस प्रकार की कोई भी तिथि नही है। परन्तु पक्षान्तर मे वह जनागमो क किसी एक पाठ का ही उल्लेख करता है कि जो मौयकाल

के सर्व प्रमुख समर्थक थे, अपनी नवीन खोजो के आधार पर, एक सच्चे विद्वान की परम उदारता के साथ, फ्लीट और अन्य पण्डितो मे सहमति स्वीकार कर दी है कि निर्दिष्ट पक्ति मे ही नहीं अपितु समुचे लेख मे अन्यत्र भी कही इस प्रकार के सवत का कोई भी उल्लेख नही है।[7]

इसमे सन्देह नही कि लेख की छठी पक्ति मे नन्द-युग का उल्लेख है, परन्तु इस उल्लेख से खारवेल का समय निश्चित करने मे हमे तनिक भी सहायता नही मिलती है।[8] इस शिलालेख और चेदिवश के इस महान् सम्राट का दोनों ही समय निर्णय करने के लिए इस शिलालेख मे उल्लिखित अन्य तथ्यो को ध्यान मे लेना अत्यन्त ही आवश्यक है। इन तथ्यो को उन समकालिक ऐतिहासिक घटनाओ को प्रकाश मे जो भी प्राप्त हो, व्याख्या करना और समझना होगा, और तभी हम इस शिलालेख की तिथि बहुत कुछ ठीक ठीक निर्धारित कर सकते हैं या कर सकेंगे।

श्री जयसवाल के नए वाचन और व्याख्या के अनुसार इस शिलालेख की आठवी पक्ति, लेख का वह अश जिसमे कि सम्राट खारवेल के राज्यकाल के 8वें वर्ष का विवरण दिया गया है, इस प्रकार है:—

"घातापयिता राजगह उपपीडापयति एतिना च कम्मापदान सनादेन सवडत-सेन-वाहनो विपमुचितु मधुरा अपयातो यवन-राज-डिमित यच्छति-वि-पलव,"[9] और इसका अर्थ यह है कि "(राजगृह के ' रे और गोरथगिरि के गढ के हस्तगत करने कि जिसके विषय मे हम आगे विचार करेंगे) शौर्य-कार्यो से उत्पन्न अफवाहो के कारण, ग्रीकराजा दिमित (दीयास), अपनी सेना और परिवहन पीछा खीच, अथवा अपनी सेना और रथो मे अपने को सुरक्षित कर, मथुरा का घेरा उठा कर खिसक गया।"[10]

मे अव्यवहार्य हो गया था। देखो रमेशचन्द्र मजुमदार भी (इण्डि. एण्टी, पुस्त. 47, 1918, पृ. 223 आदि, और पुस्त 48 1919, पृ 187 आदि। फ्लीट के अनुसार यह 16वी पक्ति अस्पष्ट और अनिश्चित है और उसने जयसवाल एवम् बैनरजी रामप्रसाद चन्दा के अनेक निष्कर्षो का विरोध किया है (रा एसो, पत्रिका 1919, पृ. 395 आदि)। वह फ्लीट और ल्यूडर्स से हाथीगुंफा लेख मे किसी तिथि के अस्तित्व की अनुपस्थिति के विषय मे सहमति दिखाता है। पर अब यह सन्तोष की बात है कि श्री जयसवाल एवम् उनकी सम्प्रदाय के अन्य विद्वान भी विरोधी सम्प्रदाय के मत से इस महत्व की बात मे सहमत हो गए हैं और इसलिए लेख की 16वीं पक्ति का वाचन जो कि इस स्थापना की मुख्य चाबी है प्राय सभी विद्वानो द्वारा पूर्ण स्वीकार कर लिया गया है (देखो जायसवाल, बिउप्रा, पत्रिका स.13, पृ. 221 आदि और स. 14. पृ. 127-128 और 150-151)।

इन खोजो के सिवा भी गंगूली, फरग्यूसन एवम् बरग्यैस और प्रो. के हवुव के मन्तव्य भी हमें अब प्राप्त हैं। श्री मनोमोहन गगूली इस लेख को स्थापत्य एवम् शिल्पी धारणाओ से ई पूर्व तीसरी सदी के अन्त के लगभग का होना मानते है—याने मौर्य सिंहासन पर अशोक के आने के पूर्व का (देखो गगूली, पृ. 48-50) डॉ. फरग्यूसन एवम् बरग्यैस के अनुसार "ई पूर्व 300 या उसके आस-पास की तिथि इस लेख की होना अत्यन्त सम्भव है।" ये लेखक यह भी कहते हैं कि "अशोक के राज्यकाल से टेकरियो को खोद कर गुहाएं बनाने की प्रथा का प्रारम्भ हुआ था और वह इस काल से लेकर लगभग 1000 वर्ष आगे तक उत्तरोत्तर सौष्ठव एवम् उत्कर्ष के साथ चलती रही थी।"-(फरग्यूसन एव बरग्यैस, वही, पृ 67-68)। प्रो. ध्रुव ने अपने गुजरात नाटक 'सचू स्वप्न'—भास के सस्कृत नाटक 'स्वप्नवासवदत्ता' का गुजराती अनुवाद—की प्रस्तावना मे तात्कालिक राजवशो और पुष्यमित्र सुग से जैनों के सम्बन्ध की प्राचीनता और खारवेल का विचार किया है।

7. बिउप्रा, पत्रिका स. 13, पृ. 236। 8 नदराज-ति-वस-सत-ओघाटितं...आदि। —वही, सं. 4, पृ. 399।
9. वही और स 13, पृ 227। 10 वही, पृ. 229।

यह वाचन और व्याख्या जायसवाल की अंतिम खोज के अनुसार है और इस श्री बनरजी एवम् डा कोनोव ने भी प्रामाणिक स्वीकार कर लिया है।[1] अत्यन्त आधुनिकतम ऐतिहासिक खोजों में हम इतना ही जान सके हैं इसलिए इस खारवेल के राज्यकाल की एक मात्र कुंजी मानकर हम स्पष्टतया कह सकते हैं कि यवन राजा ने मथुरा पर अधिकार कर लिया था और पूर्व की ओर सम्भवतः साकेत तक भी वह बढ़ आया था। इसका समर्थन गार्गी-संहिता की सूचना से भी होता है जहाँ यह कहा गया है कि साकेत, पांचाल और मथुरा को जीत कर यवन-राज मौर्य-युग के समाप्ति समय में कुसुम ध्वज (पाटलीपुत्र) की ओर बढ़ रहा था।

इसी ओर ध्यान आकर्षित करते हुए डा. जायसवाल कहते हैं कि जब पतंजलि संस्कृत व्याकरण पर अपना भाष्य लिख रहा था मगधराज (पुष्यमित्र) ने एक लम्बा यज्ञ प्रारम्भ किया हुआ था और तब तक वह सम्पूर्ण नहीं हुआ था। अयोध्या के नए प्राप्त शिलालेखों के अनुसार उस मगधराज ने दो अश्वमेध यज्ञ किए थे। जब अश्वमेध यज्ञ चल रहा था तभी का पातंजलि का यह उल्लेख है कि यवनराजा ने साकेत और मध्यमिका का घेरा डाला था। कालीदास भी जब कि पुष्यमित्र का अश्वमेध यज्ञ चल रहा था। उस नदी के निकट की राजा की विजय का उल्लेख करता है जो मध्यमिका राज्य के निकट में होती हुई बहती है। इस प्रकार हमें स्पष्ट साक्षियां प्राप्त हैं कि पुष्यमित्र के राज्यकाल में यवनों का असफल आक्रमण हुआ था। खारवेल के इस लेख में ऐसे ही समसामयिक यवन आक्रमण का उल्लेख है कि जिसको न केवल पीछा हट जाना ही पड़ा था अपितु मथुरा भी छोड़ देना पड़ा था। यह घटना बहस्पतिमित्र के राज्यकाल में हुई थी कि जो जातियों की साक्षियों से अग्निमित्र का पूर्वज प्रमाणित होता है। इसलिए स्वाभावतः यह परिणाम निकलता है कि उक्त आक्रमण वही था जिसका गार्गी-संहिता और पतंजलि दोनों ही ने वर्णन किया है।[3]

परन्तु इस सम्बन्ध में एक दूसरी कठिनाई यह है कि वह ग्रीक राजा डिमेटियस था मिनेण्डर ? गाडनर के अनुसार मिनेण्डर का समय ई. पूर्व दूसरी सदी का प्रारम्भ[4] और विंसेंट स्मिथ[5] के अनुसार, ई. पूर्व 155 है। फिर मिनेण्डर के इसमोस (यमुना) के लांघने की बात ही नहीं कही जाती है। वह हिपनिस याने व्यास नदी पार कर कुछ आगे तक बढ़ा था इतना ही कहा जाता है।[6] फिर साहित्य का जो अंश डिमोट्रियस और मिनेण्डर दोनों ही को लागू होता है उसे विद्वानों ने डिमोट्रियस की व्यापक विजयों का संकेत माना है।[7] इन सब से अतिरिक्त जो हमें यथार्थ व्यक्ति के पहचानने में सहायता करती है। वह है अपने प्रतिस्पर्धी युक्रेटाइडस को दबा देने के लिए डिमेट्रियस के बक्ट्रिया लौट जाने की बात क्योंकि शिलालेख स्पष्ट ही कहता है कि यवन राज

---

1 वही, न 13, पृ 228।

2 गार्गी-संहिता के युग-पुराण अध्याय में यह वर्णन है कि दुर्दमन वीर यवन साकेत (अवध में) पांचाल देश (यमुना और गंगा के बीच का देवाब देश) और मथुरा को अधीन कर पुष्पपुर (पाटलीपुत्र) पहुंचा परन्तु वे मध्यदेश में इसलिए टिक नहीं रहे कि उनके अपने देश में ही आपस आपस में घोर युद्ध छिड़ गया था (वन सहसंहिता, पृ 37) स्पष्ट ही यह संकेत उस परस्पर विध्वंसी युद्ध की ओर है कि जो युकाइडिमस और युक्रेटाइडस के बीच चल रहा था। 3 बिउप्रा, पत्रिका सं 13 पृ 241 242

4 देखो गार्डनर, केटलाग आफ इण्डियन क्वाइन्स ग्रीक एण्ड सिथिक प्रस्ता पृ 22, 23।

5 स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ 239। 6 गार्डनर, वही, प्रस्ता पृ 37।

7 देखो मेयर (एडवर्ड), एंसाइक्लो ब्रिटेनिका भाग 7 पृ 982 (11 वां संस्करण) और रालिंसन, बाक्ट्रिया (दी स्टोरी आफ दी ग्रीक्स आफ...) पृ 65।

खारवेल के किसी प्रकार के उसके विरुद्ध आक्रमण किए बिना ही, पीछा हट गया था और मथुरा छोड गया था। इस प्रकार खारवेल का आनुमानिक समय, डिमोट्रियस और मिनेण्डर के मध्य का है, यह निश्चित ही प्रतीत होता है।

डिमोट्रियस की विजयें ही उसके पतन का कारण हुई, ऐसा ग्रीक इतिहासज्ञ कहते हैं। उसकी विजयो के कारण उसके महाराज्य का केन्द्र विन्दु वैक्ट्रिया से भी आगे चला गया था। उसका पितृ-देश एक अधीन राज्य हो कर सन्तोष करनेवाला नही था। फलत पराक्रमी और शक्तिशाली युक्रेटाइडस ने जिसके विषय मे इतिहास कदाचित् ही कुछ कहता है, विप्लव कर पृथक राज्य की स्थापना कर ली।[1] पार्थिया का राजा मिथ्रडाइटस 1म के राज्यारोहण के साथ ही वह भी राजा बन गया। अपने भाई फ्रात 1म के बाद ई पूर्व 171 मे मिथ्रडाइटस 1म गद्दी पर बैठा याने हमे वान गुट्श्मिड की ई पूर्व 175 की तिथि यूक्रेटाइडस के लिए लगभग सही मान लेना ही उचित है।[2] उसके राज्य का प्रारम्भ तूफानी था। वैक्ट्रिया का नही परन्तु भारतवर्ष (सिंधु की आसपास के प्रदेश) का राज डिमोट्रियस अपने प्रतिस्पर्धी युक्रेटाइडस द्वारा खडी की गई कठिनाई के कारण भारतवर्ष से पीछा लौट गया। डिमोट्रियस का या पनरावर्तन वैक्ट्रिया के इतिहासज्ञो ई पूर्व 175 मे हुआ मानते है[3] और यह वात गोरथगिरि एवम् राजगृह के घेरे के साथ, खारवेल के राज्य का प्रारम्भ ई पूर्व 175 मे मेल खा जाती है। इस प्रकार खारवेल के राज्य का प्रारम्भ ई पूर्व 183 और इस शिलालेख के लिखे जाने का समय ई पूर्व 170 माना जा सकता है।

ग्रीक राजा डिमोट्रियस के उपरोक्त वर्णन के अतिरिक्त दूसरा साधन भी खारवेल का समय प्राय. निश्चित करने के लिए प्राप्य है। पश्चिम का सार्वभौम, आध्र के राजा सातकर्णी को ही शिलालेख मे खारवेल का प्रतिस्पर्धी लिखा है।[4] हम इसे नानाघाट के शिलालेख का सातकर्णी ही कह सकते है क्योकि सातकर्णी की रानी नागनिका का नानाघाट का शिलालेख और हाथीगुफा का शिलालेख दोनो ही लिपि के आधार पर कृष्ण के नासिक के शिलालेख के ही काल के लगते है।[5] प्रथम सातवाहनो के नानाघाट के शिलालेख 'अशोक और दशरथ के आज्ञालेखो के बहुत नही अपितु कुछ ही वाद के है और उत्कीर्णलिपि के आधार पर वे अन्तिम मौर्य अथवा प्रथम सुगो के काल के याने ई पूर्व दूसरी सदी के प्रारम्भ के है।[6] हाथीगुफा का लेख यद्यपि तिथि रहित है फिर भी खारवेल का समय डिमोट्रियस और सातकर्णी के समय के साथ याने ई पूर्व दूसरी सदी का पूवार्ध मानने के पर्याप्त कारण है। जब मौर्य साम्राज्य निर्बल पड गया था आध्रवंश और कलिगवश साथ साथ ही सत्ता मे आना चाह रहे थे और यह वात सूचित करती है कि इन दोनो राजो के समकालिक होने की वहुत अधिक संभावना है।

इस प्रकार शिलालेख की तिथि का लगभग निर्णय कर लेने के पश्चात् अब हम उसकी वातो की इस दृष्टि से निरीक्षा करेगे कि जैनधर्म के इस महान् सरक्षक के विषय मे हमे क्या पता लगता है, उसका राजनयिक जीवन कितना व्यापक रहा था कि जिसने उसे भारतीय इतिहास के महान नरपुगवो मे से एक का मान प्राप्त कराया।

शिलालेख की पहली पक्ति जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है जैन रीति अनुसार अर्हंतो और सिद्धो के नमस्कार स्मरण से प्रारम्भ हुई है। यह जैनो मे आज भी प्रचलित पच परमेष्ठित नमस्कार की पद्धति के अनुसार

1 केहिइ, भाग 1, पृ 446।
2 वही। 3 मेयेर, एडुअर्ड, वही. भाग 9, पृ. 890।
4 देखो बिउप्रा, पत्रिका स 4, पृ 398, और स. 13, पृ. 226।
5 देखो व्हूलर, आर्चि सर्वे व्येस्ट. इण्डिया, पुस्त 5, पृ 71, और इण्डिश पेलिओग्राफी, पृ 39।
6. व्हूलर, आर्चि सर्वे व्येस्ट इण्डिया, पुस्त 5, पृ 71 आदि।

ही है ।[1] यही हम इस बात का पता लगता है कि खारवेल चेदिवंश का था और उस वंश के राजा 'अइर' विरुद धारण करने वाले थे ।[2] जायसवाल कहते हैं कि इरा या 'इला' का उत्तराधिकारी ही अइरा होती है और इसलिए इसे चेदिवंश के वंशज का द्योतक मानना चाहिए। वे इस पुराणों में वर्णित ऐला [3] से मिलाते हैं कि जो प्रमुख राजवंशों में से एक था और पुराणों के अनुसार चेदि इसी वंश के थे ।'[4]

दूसरी पंक्ति में खारवेल के पन्द्रह वर्ष के युवराज पद का वर्णन है जब कि उसने भिन्न भिन्न विद्याएं सीखी थी। 'राजा वेन की भांति ही महान् विजय प्राप्त करते हुए' उसने युवराज रूप में अनेक वर्षों तक राज्य किया ।[5]

राजा वेन वैदिक व्यक्ति था ।[6] मनु[7] के अनुसार राजा वेन के अधीन यह सारी ही पृथ्वी थी। श्री जयसवाल कहते हैं कि पद्मपुराण के वर्णनानुसार वेन ने अपना राज्य अच्छी रीति से प्रारम्भ किया परन्तु पीछे जाकर वह जैन हो गया। हाथीगुफा के लेखानुसार हमें पद्मपुराण की इस बात का परोक्ष समर्थन हो जाता है और वह भी यहां तक कि वेन जिसकी ब्राह्मण दंतकथा में अंत तक अच्छी ख्याति नहीं रही थी, जैन दंतकथा में आदर्श राजा की ख्याति भोगता है। यदि जनता में उस समय भी जब कि यह शिलालेख उत्कीर्णित किया गया वेन अपने राज्य काल के अंतिम दिनों में बुरा राजा माना जाता होता तो खारवेल की स्तुति में उससे तुलना कभी भी नहीं की जा सकती थी। यह द्रष्टव्य है कि ब्राह्मणों ने वेन में एक मात्र दोष यही पाया कि वह जैन हो गया था याने वह जाति भेद नहीं मानता था। ऐसा लगता है कि वेन को बदनाम करने की दंतकथा बाद की एवम् जैन-परवर्ती काल की है ।'[8]

तीसरी पंक्ति में जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है हम पढते हैं कि 24 वर्ष पूर्ण कर खारवेल ने कलिंग वंश के तीसरे राजा के रूप में 'महाराजा भिषेचनम्' विरुद प्राप्त किया और उसने कलिंग की राजधानी में खिबीर ऋषि सागर की पाल का जीर्णोद्धार कराया और घाट बंधवाया था ।[9]

चौथी पंक्ति से खारवेल के राजकीय जीवन का वर्णन प्रारम्भ होता है। पंक्ति के प्रारम्भ में ही कहा गया है कि खारवेल ने 35 लाख की बहुप्रसू जनता को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया था ।[10] इतनी भारी जन सख्या से आश्चर्यान्वित होने जैसी कोई बात नहीं है। अशोक के तेरहवें पर्वतावालेख में कहा गया है कि उसकी सेना के विरुद्ध कलिंग ने 1,50 000 युद्ध बन्दी दिए 1 00,000 कत्ल कर दिए गए और इनसे कितने ही गुणे मर गए थे ।[11] हताहतों और बन्दियों दोनों की संख्या ही ढाई लाख की हो जाती है। शानहास्ट की गणनानुसार जन सख्या की प्रत्येक पन्द्रहवीं व्यक्ति ने परराज्य आक्रमण के समय यदि अस्त्र ग्रहण किया हो तो अशोक के समय में ही कलिंग की बस्ती लगभग 38 लाख की हो सकती है ।[12] इसके सौ वर्ष पश्चात् अर्थात् खारवेल के राज्य काल में मौर्य विजय और मौर्य राज्य के कारण वह जनसंख्या घटकर 35 लाख रह जाना बहुत ही सम्भव है।

---

1 णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं आयरियाणं णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं ऐसो पंचणमुक्कारो कल्पसूत्र सूत्त 1। 2 देखो बिउप्रा पत्रिका सं 4 पृ 397 और स 13 पृ 222।
3 पार्जीटर राएसो पत्रिका 1910 पृ 11 26। 4 बिउप्रा पत्रिका स 13, प 223।
5 देखो वहां स 4, पृ 397 और स 13 प 224। 6 ऋग्वेद मण्डल 10 ऋचा 123।
7 मनु अध्याय 9 श्लोक 66 67। 8 बिउप्रा पत्रिका स 13 पृ 224 225।
9 देखो वही स 4 प 397-8 और स 13, प 255। 10 देखो वही स 4, पृ 398 स 13 पृ 226।
11 ब्हूलर, एपी इण्डि, पुस्त 2 पृ 471। 12 देखो बिउप्रा पत्रिका स 3 पृ 440।

इस संख्या को स्वीकार करते हुए विन्सेंट स्मिथ कहता है कि 'हम जानते हैं कि मौर्य और उनके पूर्वज जनगणना लगातार किया करते थे, इसलिए इस सख्या मे सन्देह करने का हमारे लिए कोई भी कारण नही है ।[1]

इस शिलालेख की अन्य बातो का विचार करने के पूर्व उस समय के इतिहास पर एक विहगम दृष्टि फेंक लेना उपयोगी है । डा वारन्यैट के शब्दो मे अशोक की मृत्यु के बाद मौर्य साम्राज्य तुरन्त ही टूट गया और आस-पास के राजो को अपनी सीमा बढाने की महत्वाकाक्षा पूरी करने का उपयुक्त अवसर पूरा पूरा मिल गया था । इन राजो मे ही सिमुक नाम का एक राजा था जिसने ई पूर्व तीसरी सदी के अन्तिम पाद मे सातवाहन या सातकर्णी राजवश की स्थापना की और इस वश ने तेलुगू देश पर प्राय· पाच सदियो तक राज्य किया था । उसके अथवा उसके निकटस्थ उत्तराधिकारी उसके छोटे भाई कृष्ण या कान्ह के राज्यकाल मे आध्र साम्राज्य पश्चिम मे कम से कम 74 देशान्तर और सम्भवत अरब सागर तक भी विस्तार पा गया था ।[2] इन प्रारम्भिक सातवाहनो के काल मे आध्र राज्य की सीमा इतनी बढ गई थी कि उसमे सारा ही नही तो अधिकाश भाग जिधर्व का, मध्य-प्रदेश और हैदराबाद का समावेश होता था ।[3]

'परन्तु इस समय सु ग और आध्र शक्तिया ही देश के उस भू भाग पर जिसे अब मध्य भारत कहा जाता है, सत्ता जमाने का प्रयत्न नही कर रही थी । हाथीगुफा का लेख बताता है कि ई. पूर्व लगभग 180 मे कलिगाधिपति खारवेल भी इसके एक प्रतिद्वन्द्वी रूप मे[4] आया ।'

उस काल के राजनीतिक वातावरण मे अपने देश को महत्व का स्थान प्राप्त कराने की खारवेल की महेच्छा ने उसे उसके पडोसी दक्षिण की सार्वभौम सत्ता के साथ टक्कर लेने को उकसाया । आध्रराजा सातकर्णी के विरुद्ध उसने अपने राज्यकाल के दूसरे ही वर्ष पश्चिम मे एक बडी सेना भेज दी ।[5] इस वश के शिलालेख के अनुसार यह राजा सातवाहनकुल का और पुराणो के अनुसार आध्र (आध्रभृत्यो) कुल का था ।[6] मौर्य राज्य की दक्षिणी सीमा पर की यह अवशीभूत जाति थी और इसका घर मद्रास प्रेसीडेंसी का गोदावरी एव कृष्णा नदी के बीच का तटीय प्रदेश था ।

सातवाहनो के मूल स्थान और वर्ण का विचार करते हुए श्री बारले कहते है कि खारवेल के लेख मे सातवाहनो को कलिंग के पश्चिम मे बताया गया है, जैन दन्तकथा मे निजाम राज्य का पैठण उनकी राजधानी कही गई है, कथासरित्सागर मे इस वश के उद्भव के दिए वर्णन मे इस वश के सस्थापक का जन्म पैठण मे हुआ कहा गया है...सातवाहनो के अधिकाश शिलालेख नासिक मे पाए जाते है, उनका प्राचीनतम शिलालेख पश्चिमी-भारत के नानाघाट मे है; उनके प्राचीनतम सिक्के भी पश्चिमी भारत मे ही पाए गए है...इससे ऐसा मालूम

---

1 स्मिथ, राएसो पत्रिका, 1 918, पृ. 545 ।

2 नासिक के शिलालेख सं 1144 और पूना के उत्तर-पश्चिम 50 मील दूरस्थ नानाघाट के लेख म 2114 मे इसका निर्देश है ।

3 कैंहिइ, भाग 1, पृ 599, 600 ।

4. वही, पृ. 600 ।

5. जिस आध्र राजा का यहा सकेत किया गया है, वह पुराण वशावली का तृतीय श्री-सातकर्णी ही हो सकता है कि जिसकी स्मृति, बम्बई के पुना जिले के प्राचीन नगर जुनार को कौंकण से जाने वाले दर्रा. नानाघाट मे मिली विरूपकृत परन्तु लेखोकितउभरी मूर्ति मे सुरक्षित है ।—ब्यूलर, आर्कियालोजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इण्डिया, स. 5, पृ 59 ।

6 पाजीटर, डाइनेस्टीज आफ दी कलि एज, पृ 36 ।

हाता है कि सातवाहना का मूल स्थान पश्चिमी भारत ही था सातवाहन राजा के वंश या जाति के विषय मे जन ""तरया की मा ा वनी ""लक्षनमरी और अयद्वेय है । एक दतकथा कहती है कि सातवाहन चार वर्षीय कुमारिका ा पद म म जन्मा था दूसरी उम वंश को वशज कहती ह । शिलालेख साक्षी सातवाहन का निश्चय ही ब्राह्मण बताती ह ।[1]

खारवेल के इस पश्चिमी आक्रमण का परिणाम यह हुआ कि सातकर्णी यद्यपि पराजित तो नही हुआ फिर भी खारवेल को मूषिक राजधानी हस्तगत करके हा म तोप कर लना पडा था । इसको उसने काश्यप क्षत्रियो की सहायता करने के लिए ही हस्तगत किया था ।[2] ये मूषिक बहुत सभव है कि सातकर्णी के अधीन मित्र थे और ऐसा लगता है कि मूषिक देश पठण और गोंडवाना के बीच मे होना चाहिए । जसे कोसल उडीसा के उत्तर पश्चिम म है वस हा मूषिक देश भी उसके पश्चिम मे ही लगा हुआ होना चाहिए ।

पाचवी पक्ति हम इससे अधिक कुछ भी नही बताती है कि खारवेल न तीसरे वर्ष म सगीत नत्य आदि ललितकलाओ म प्रवीणता प्राप्त की ।[3]

छठा पक्ति कुछ महत्व की है । इसा म हम न न्युग का कुछ उल्लेख पाते है । पहले तो यह कहा गया है कि सातकर्णी और मूषिको के विरुद्ध अभियान करने के पश्चात् खारवेल न फिर अभियान पश्चिमी भारत की ओर किया । अपने राज्यकाल के चौथे वर्ष म उसने मराठा देश के राष्ट्रिको और बराड के भोजको को नतशिर कराया जो कि आध्रो के करद थे ।[4]

शिलालेख के अनुसार उसने दक्खन के आध्र राज्यो पर दो बार अभियान किया था । राज्यकाल के दूसरे वर्ष म उसने अश्व, गज, पदल और रथो की भारी सेना सातकर्णी के विरुद्ध पश्चिम म भेजी और चौथे वर्ष म उसने मराठा देश के राष्ट्रिको और बराड के भोजको को जो कि दोनो ही प्रतिष्ठान के आध्र राजा के अधीन थे, नतशिर कराया । ये चढाइया नि स देह दक्खण की सार्वभौम सत्ता के चुनौती रूप थी परन्तु इन्हे स्वरक्षा की सीमा से बाहर तक नही चलाया गया । प्रो रेप्सन के शब्दो म हम कल्पना कर सकते है कि खारवेल की सेना महानदी की घाटी और उसकी सीमान्त को पार कर गोदावरी और उसकी शाखा वणगगा एव वर्धा नदी की तराई को पार कर गई थी । इस प्रकार उसकी सेना न उस क्षेत्र म चढाई की कि जिसे आध्र राजा अपने राज्य म ही मानता था । परन्तु न तो यह कहा गया है और न ऐसा अनुमान करने का ही कोई आधार है कि कलिंग और आध्र की सेनाओ की वस्तुत कोई मुठभेड इन दोनो चढाइयो म स किसी म भी हुई अथवा उनमे कोई महत्वपूर्ण राजनयिक परिणाम निकले थे ।"[5]

यह हम खारवेल की विजयो की महत्ता कम करने के उद्देश से नहा कहते हैं इसम सन्देह ही नहा ह कि अपने समय की राजनयिक घटनाओ म बहादुर योद्धा स्वरूप म उसने खूब ही हिस्सा लिया था परन्तु इससे अधिक

---

1 राएशा बम्बई-शाखा पत्रिका (नई माला) स 3, पृ 49 52 ।

2 बिउप्रा पत्रिका ा 4 पृ 398 और स 13 प 226 ।

3 देखो वही । 4 वहा स 4 प 399 ।

5 हैद्राबाद के औरंगाबाद जिले म गोदावरी के उत्तरी तट स्थित आधुनिक पठण साहित्य म राजा सातकर्णी (सातवाहन या शालिवाहन) और उसके पुत्र शक्ति कुमार की राजधानी रूप स प्रख्यात है ।

6 रप्सन, कहिई भाग 1 प 536 ।

कुछ भी नही किया। वह अवश्य ही महान् पुष्यमित्र या महान् शालिवाहन के समक्ष खडा हो सकता है, परन्तु जैसा सकेत उसके दूसरे और चौथे वर्ष के अभियानो से मिलता है, यदि उसकी आकाक्षा प्रतिष्ठान के आध्र राज मे सार्वभौम सत्ता छीनने की थी तो उसके ये अभियान विफल ही कहे जाएगे। वैसा करना उसके लिए सम्भव नही था और शिलालेख के उल्लेख का ऐसा अर्थ भी नही है।

राज्यकाल के पाचवे वर्ष मे खारवेल उस नहर को जो राजा नन्द के 103 वें वर्ष मे खोदी गई थी और तनसुलिय या तोसली के राजमार्ग को[1] कलिंग के नगर तक ले आया।[2] इस ओर अनेक अन्य निर्मूल वर्णनो और वर्षको से जो कि शिलालेख मे है, फ्लीट, स्मिथ आदि जैसे विद्वानो को यह अनुमान करने को प्रेरित किया कि उडीसा मे सावधानी से इतिहास रखा जाता था और यह भी कि बिना किसी सम्वत् गणना के इन सब लम्बी अवधियो का हिसाब रखना सम्भव नही हो सकता था।[3] जिस सम्वत् मे समय की गणना यहा की गई है वह नन्द सम्वत् था, यह लेख के पाठ से एक दम स्पष्ट है। यह इतना स्वाभाविक है कि कोई भी राजा विशेष के राज्य-काल मे इतने लम्बे समयान्तरो की स्मृति रखने का विचार ही नही कर सकता है यदि उस राजा का वह सम्वत् लगातार प्रयुक्त होता नही रहा हो। जायसवाल के अनुसार यह राजा सिवा राजा नन्द वर्धन के दूसरा और हो ही नही सकता है कि जिसकी तिथी उनकी गणनानुसार ई पूर्व 450 के लगभग आती है।[4] जैसा कि हम पहले देख चुके है इस शिलालेख मे ऐसा कोई ऐतिहासिक आधार या कोई अन्य सकेत नही है कि जिससे हम उक्त पहचान कर सकते हैं। जायसवाल का विश्वास है कि एलबरूनी निर्दिष्ट श्रीहर्ष सम्वत्[5] के साथ यह सम्वत् मिलता हुआ है और इसलिए जो स्थानीय दन्तकथा एलबरूनी ने हर्ष के विषय मे दी है, उसी को जायसवाल ने नन्दी वर्धन[6] के साथ मूल से जोड दी है। इस लेखक की दृष्टि मे खीचतान से पहचान करने की यहा कोई भी समुचित कारण नही है। यह कुछ भी अस्वाभाविक नही है कि सम्वत् का प्रारम्भ जैनो का प्रथम नन्द अथवा पुराणो के महापद्म नन्द से हुआ हो। जो कुछ भी हमने पुराणो और प्राचीन वर्णनो से नन्दो के विषय मे जाना है, उससे यह निश्चित है कि वह अपने नाम का सम्वत् प्रवर्तन करने जितना महान् अवश्य ही था। इससे हम उक्त सम्वत् को बिना किसी जोखम के उसके द्वारा चलाया हुआ मान सकते है। अत छठी पक्ति मे निर्दिष्ट नहर की तिथी ई पूर्व 320-307 स्थूलत होगी जबकि हम महावीर निर्वाण की तिथि ई पूर्व 480-467 लेते है।

सातवी पक्ति मे जो कुछ लिखा है उससे हमे मालूम होता है कि खारवेल की रानी वज्रकुल[7] की थी, और जायसवाल कहते है कि 'रानी का नाम या तो लेख मे दिया नही गया है अथवा वह 'घुपित (ता) है।[8] यह उसके राज्यकाल का सातवा वर्ष था और ऐसा मालूम होता है कि इस समय उसको पुत्ररुप राजकुमार प्राप्त हो गया था।[9]

---

1 यह मानना न्याय सगत होगा कि खारवेल की राजधानी तोसली थी जिसकी पडोस मे हाथीगुफा और प्राची नदी पाए जाते है। हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार तोसली व्युत्पत्ति से ढोली हो सकता है जहा कि कलिंग आज्ञा-लेख का एक सम्प्रदाय आज भी है।—स्मिथ, वही, पृ 546।

2 देखो बिउप्रा पत्रिका, स 4, पृ 399।

3 देखो फलीट, राएसो पत्रिका, 1910, पृ 828, स्मिथ, वही, पृ 545। 4 बिउप्रा पत्रिका, स 13, पृ 240

5 देखो सचाउ, एलबरुनीज इण्डिया, भाग 2, पृ 5। 6 देखो बिउप्रा पत्रिका, स 13, पृ 240।

7. वजिर-घर-वति घुसितघरिनि .।—वही, पृ 227। डा के आयगर के अनुसार यह वज्रवश ही प्राचीन एव प्रमुख वश हैं जो गगा के इस ओर के बगाल का स्वामी था।—सम काटीब्यूशन्स आफ साउथ इण्डिया टू इण्डियन कल्चर, पृ 39। 8 बिउप्रा पत्रिका, स. 13, पृ 227। 9 ...। कुमार आदि—वही।

उसके राज्य के आठवें वर्ष का प्रारम्भ मगध की चढ़ाई से होता है। वह एक बड़ी सेना लेकर गोरठगिरि के गुप्त गढ़ पर धावा बोलता है।[1]

लेख की यह आठवीं पंक्ति महत्व की है। इसके विषय में पहले ही बहुत कुछ कहा जा चुका है। उसमें निर्दिष्ट घटना और राजा डिमिट्रियस के उल्लेख ने कलिंग के इतिहास व खारवेल के समय के बहुत उलझन भरे और महत्वपूर्ण प्रश्न का स्पष्टीकरण कर दिया है। उसकी पूर्व की पंक्ति के कितने ही अंश के साथ श्री जायसवाल के पंक्ति के नए वाचन के अनुसार उसका शाब्दिक अनुवाद इस प्रकार है और इसी को हमने आधार लेकर यहां विवेचन किया— आठवें वर्ष में वह (खारवेल) गोरठगिरि (गढ़) के सुदृढ़ आहात (यानि दीवाल, बाड़) को बड़ी सेना द्वारा आक्रमण करवा कर, राजगृह के चहुं ओर दबाव डालता है (राजगृह पर घेरा डालता है)। इस खबर (हगाम) के कारण धीरता के कार्यों से उत्पन्न (यानि गोरठगिरि के गढ़ की विजय और राजगृह के आक्रमण), प्रतापी राजा डिमए (त्रियस) सेना और परिवहन को खींच यानि अपनी सेना और रथों द्वारा अपने को सुरक्षित करता हुआ मथुरा का घेरा उठाकर लौट गया।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपने राज्यकाल के आठवें वर्ष में खारवेल ने मगध पर आक्रमण किया था। यह स्पष्ट कर देता है कि वह न केवल स्वतन्त्र राजा ही अपितु आक्रामक राजा भी हो गया था। वह गया से पाटलीपुत्र की प्राचीन सड़क पर (गोरठगिरि) बाराबर पहाड़ा तक पहुंच जाता है। खारवेल के इस अभियान की बात सुन कर उत्तरभारत का राजा डिमिटियस पलायन कर जाता है परिणामतः मथुरा का घेरा उठ जाता है और जिसके भारती आक्रमण और भारत से पलायन का वर्णन बक्ट्रिया के इतिहास में ऐतिहासिकों द्वारा किया गया है।

बहुत सम्भव है कि पुष्यमित्र ही उस समय सिंहासन पर था। पुराणों के अनुसार पुष्यमित्र ने 16 वर्ष तक राज्य किया था और विंसेंट स्मिथ के अनुसार पुष्यमित्र ने अंतिम मौर्य सम्राट बृहद्रथ को ई. पूर्व 185 में सिंहासन से उतार दिया था।[4] जायसवाल के अनुसार यह घटना ई. पूर्व 188 में[5] घटित हुई और इसलिए पुष्यमित्र ने ई. पूर्व 185 से 149 या 188 से 152 तक राज्य किया।

लेख की नौवीं पंक्ति में महत्व की ऐसी कोई बात नहीं है। इसमें ब्राह्मणों को दिए भूमि दान का वर्णन है और इस प्रकार हिन्दु राज्य में प्रचलित ब्राह्मणों को दिए जाने वाले सामूहिक भूमि दान का यह समर्थन करता है।[6] हम खारवेल के वैदिक धर्मानुसार क्षत्रिय सिद्ध होने का पहले ही कह आए हैं। वह ही यहां भी उसका जैन होना सनातन रीति का राष्ट्रीय संविधानिक प्रथा का परिपालना में किसी भी प्रकार का रुकावट नहीं डालती है। दूसरा निष्कर्ष जो हम इसमें निकाल सकते हैं वह यह कि आर्यों के मूल संगठन का जनता के सामाजिक जीवन पर स्थायी कुछ न कुछ प्रभाव पड़ा ही था चाहे उनका धर्म कुछ भी रहा हो। महावीर स्वामी का जैन और बौद्धधर्म ब्राह्मणधर्म के प्रचलित आचार के विरुद्ध प्रत्यक्ष क्रांति ही हो फिर भी ब्राह्मणों के प्रति यथार्थ या दिखावटी मान और अन्य वर्णों से सामाजिक उच्चता का उनका दावा इन जातियों से किंचित भी प्रभावित नहीं हुआ था।

---

1 महत्ता इसकी यह (त भित्ति)—गोरथगिरि घातापयिता, घाति।—वहीं स. 4 पृ. 399 और स. 13 पृ. 227।
2 बिउप्रा पत्रिका स. 4 पृ. 378 379 और स. 13 पृ. 228 229।
3 मयर (त्यर) वहीं भाग 9, पृ. 880। 4 पार्जीटर वहीं पृ. 70।
5 स्मिथ अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ. 204।
6 बिउप्रा पत्रिका स. 13 पृ. 243। इसी वही स. 4 पृ. 400 और स. 13 पृ. 229

यद्यपि ऐसी बाते व्यक्तिगत उदार भावनाओ पर बहुतांश मे निर्भर करती है, फिर भी खारवेल अशोक की भाति ही प्रतापी सम्राट होने पर भी धर्मान्ध सम्राट नही था। अशोक के शिलालेखो की भाति उसको यह शिलालेख भी उसे परम उदार और धर्मान्ध वृत्ति से दूर ही सिद्ध करता है। सर्वधर्म समभाव उसका गुण था और उसकी उदारवृत्ति और स्वभाव के कारण ही वह स्वयम् को 'सब धर्म के लोगो का पूजक' कहता हो।[1]

दसवी पक्ति कहती है कि खारवेल ने 38,00,000 सिक्के खर्च कर महाविजय (विजय-प्रसाद) प्रसाद बनवाया था।[2] उसके बाद 'साम दाम और दण्ड' नीति के अनुसार विजय के लिए उत्तर-भारत की ओर उसने प्रयाण किया एवम् जिस पर उसने आक्रमण किया उनसे उसे मूल्यवान भेटे प्राप्त की।[3] भारतीय राजनीति की तीसरी प्रकार याने भेद नीति का उसने प्रयोग नही किया यह एक उल्लेखनीय घटना है और इसका कारण कदाचित यह हो कि खारवेल की नीति के लिए उसका प्रयोग अति नीच और असम्मानीय माना गया था।[4]

इसके बाद की पक्ति हमारे उद्देश के लिए विशेष उपयोगी नही है। गधे के हल द्वारा खारवेल ने कोई मण्ड (सिहासन) उखडवाया इसका इसमे कहा गया है।[5] यह भी कहा गया है कि वह किसी नीच या दुष्ट राजा का सिहासन था। इस राजा की नीचता या दुष्टता जैनधर्म विरोधी आचरण ही होना चाहिए। यहा जिस सिहासन की बात है वह कोई सजाई हुई बैठक या कोई बिछी हुई गादी भी हो सकती है। उस नीच या दुष्ट राजा का ऐसा कुछ भी उल्लेख शिलालेख मे नही किया गया है कि जिससे हम उसे पहचान सके। फिर खारवेल 113 वर्ष पूर्व अथवा 113वे[6] वर्ष बनी हुई सीसे की आकृति या आकृतियो के समूह को नाश करता है। खारवेल के 11वे वर्ष से 113 वर्ष पूर्व की गिनती लगाए तो इस सीसे की आकृति या आकृतियो के निर्माण की तिथि ई पूर्व 285 आती है। परन्तु छटी पक्ति के अनुसार यदि इसे नन्द सवत् मानते हैं तो तिथि ई पूर्व 345 आती है।

प्रथम घटना अपराज (दुष्टराज) की है। ऐसा लगता है कि दुष्टराज ने किसी प्रकार का आक्रमण किया होगा। परन्तु दूसरी प्रकार की घटना कुछ भी समझ मे नही आती है। ये आकृतिया जैनो के सिवा अन्य नही थी, यह निश्चित ही लगता है क्योकि एक तो ऐसा कुछ कहा नही गया है और दूसरे उससे उसकी परधर्म उदारता का भी बाधा पहुचती है। जैसा कि हम आगे सत्रहवी पक्ति मे देखेगे, खारवेल सब धर्मों का सम्मान[7] करनेवाला था और इसीलिए ऐसा लगता है कि ये आकृतिया जैन तीर्थ करो को उपहास्य रूप मे दिखाने वाली ही हो।

इस घटना के सिवा इस पक्ति से यह भी मालूम होता है कि खारवेल ने उत्तरापथ (उत्तर पजाब और सीमा प्रदेश) पर भी अपनी धाक बैठा दी थी।

फिर बारहवी पक्ति भी हमारी दृष्टि से महत्व की है। सिर्फ खारवेल के विषय मे ही उसका महत्व हो सो बात नही है। 'नन्द और उसके धर्म', जैनधर्म और नदवश', 'जैन धर्म की प्राचीनता' और 'जैनो मे मूर्तिपूजा' आदि प्रश्नो पर भी इससे पर्याप्त प्रकाश पडता है। इसमे के अनेक प्रश्नो की चर्चा तो पहले ही की जा चुकी है और शेष की चर्चा आगे यथा स्थान की जानेवाली है। यहा तो मात्र बारहवी और इसके पूर्व की पक्ति के कुछ अ श का शाब्दिक अनुवाद देना ही पर्याप्त होगा —

'बारहवे वर्ष मे (वह) उत्तरापथ के राजो मे भय का सचार करता है और मगध की जनता मे बडा आतक उत्पन्न कर (वह) अपनी गजसेना को सुगागेय मे प्रवेश कराता है, और वह मगध के राजा बहसतिमित्र को अपने

---

1 सव–पासद–पूजको...। बिउप्रा पत्रिका, स 4, पृ 403। 2 देखो वही, पृ. 400।
3 देखो वही और स 13, पृ 230। 4 देखो वही। 5 वही।
6 वही, पृ 232। 7 सव–देवायतन–सकारकारको...बिउप्रा पत्रिका, स 4, पृ 403।

चरणों म नमाता ह। (वह) उस कलिंगजिन की प्रतिमा का जा कि राजा न द्वारा अपहरण कर ली गई थी, पुन अपने देश म लौटा लाता ह और अग एवम् मगध स दण्ड स्वरूप गृह रत्न भी वह लाता ह।[1]

इस प्रकार बाह्य सीमा के देशा को वशीभूत करता ह और मगधराजा को उसक चरणा म भेंट चढान को बाध्य करता ह। इससे यह भी जाना जाता ह कि मगध का राजा नन्द पाटलीपुत्र को कोई जनप्रतिमा ल गया था जो कि खारवेल बहसतिमित्र को हरा कर अग एवम् मगध की विजया के अन्य विजय चिन्हो सहित उडीसा म लौटा लाता है। प्रथम दृष्टि म यह अजीब सा लगता है कि यह प्रतिमा कलिंगजिन क्यो कही गई है। इसम ऐसे किसी तीर्थंकर का नाम नही होता है कि जिसकी जीवनलीला कलिंग म सम्बद्ध हो, परन्तु ऐसा लगता है जसा कि मुनि जिनविजयजी कहत ह कि प्रतिष्ठा के स्थान के नाम स प्रतिमाओ की पहचान सदा ही की जाती है।[2] शत्रुजय के प्रथम तीर्थंकर (ऋषभदेव) उदाहरणार्थ शत्रुजय जिन कहे जात ह। इसी प्रकार आबू की मूर्ति 'अबुदजिन' और धुलेवा (मेवाड) की मूर्ति धुलेवाजिन कहलाती है।[3] इसलिए यह आवश्यक नही है कि मूर्ति उसी जिन की हो कि जिसकी जीवनलीला कलिंग स सम्बद्ध हो। कलिंगजिन का वाक्य स इसलिए इतना ही अभिप्रेत ह कि इस जिनमूर्ति की पूजा कलिंग अथवा कलिंग की राजधानी म हुआ करती थी।

इसके आग की पक्ति का विचार करन क पूव बहसतिमित्र कौन था किस प्रख्यात राजा से उसकी पहचान की जा सकती है और कलिंग म जन धम कब स प्रचलित था, इन बाता का विचार करना आवश्यक ह।

उस काल का समकालिक इतिहास देखते हुए यह बात स्पष्ट है कि यह बहसतिमित्र सुगराज पुष्यमित्र ही था। पश्चिम के सातवाहना की भांति वह ब्राह्मण था और उसन प्राचीन ब्राह्मण विचारो का विप्लव जगा कर मौर्यों को उखाड अपन वश का राज्य स्थापन कर लिया था। इसका इतना ही अथ है कि ई पूव दूसरी सदी म उसन ब्राह्मणधम की पुन स्थापना की थी। तारानाथ (ई 1608 प्राचीन ग्रन्थो के आधार से) कि जिसका शुद्ध अनुवाद स्कीफनर न किया है की साक्षी, दिव्यावदान[4] क मन्तव्य स मिलती है जो कहता है कि पुष्यमित्र पाखण्डिया का मित्र था और उसन विहारो का भस्म किया एवम् भिक्षुओ को हनन किया था —

'ब्राह्मण राजा पुष्यमित्र की अन्य तिर्थिया के साथ लडाई हुई। उसने मध्यदेश मे जलधर तक के अनेक विहार जला कर भूमिसात कर दिए थे।'[5]

पुष्यमित्र के इस धार्मिक विप्लव के पीछे राजनतिक कारण भी होग। परन्तु कहना चाहिए कि महान् मौय सम्राट अशोक न यह कदाचित सोचा ही नही था कि राजनतिक सहजभाव का उसम अभाव उसकी धार्मिक नीति, उसकी सवदेव पूजा और उसका विभाजन सब न मिल कर उसकी साम्राज्य की जडे खोखली कर दी हैं। अन्यथा उसकी सुदृढ जमाई हुई सनिक तानाशाही इस महान् भारती नरेश की मृत्यु क पश्चात् 40 या 50 वष म ही लुप्त नहा हो जाती कि जिस सम्राट का बौद्ध ससार आज भी प्रम स स्मरण करता है और जो ससार भर म एक उत्तम और भला राजा माना जाता ह। उसकी मृत्यु उत्तर भारत क ब्राह्मणा दक्षिण क सत्ताशील आन्ध्रा और भरत क विदेशी दुश्मना का हितावह हुई। उसकी मृत्यु के पश्चात् हिन्दूकुश तक की मौय सत्ता निबल हो

1 सेहि वितासयता उतरापथराजानो मगधाना च विपुल भय जनेतो अगमागध वसु च नयाति। —बी म 4 पृ 401 और स 13 पृ 232। 2 ज्नो विज्ञप्ति पत्रिका न 4 पृ 386।
3 वही। 4 देखो कोव्यल एड नील वही पृ 434।
5 स्कीफनरष तारानाथूस हिस्ट्री आफ बुद्धीज्म, पृ 81।

गई । वायव्य प्रात वाले आक्रमण करने को मुक्त हो गए और बैक्ट्रिया, पार्थिया आदि ग्रीक प्रान्तो एवम् सीमा-प्रदेश की युद्ध-तत्पर जातियो के लिए भारतवर्ष असीम लालच का स्थान बन गया ।

उसके सर्वधर्म समभाव होते हुए भी ब्राह्मण लोग अपने धर्म को भय मे देखते थे और इसलिए उसके याने अशोक के प्रति द्वेष रखते थे सम्भव है कि ब्राह्मणो ने अपने स्थापित अधिकारो मे से भी अनेक उस काल मे खो दिए होगे । इन्ही कारणो से मौर्य साम्राज्य के विरूद्ध महान् प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई जिसमे ब्राह्मणो ने पहले छुपे-छुपे भाग लिया और बाद मे अन्तिम मौर्य के समय मे उनका खुला विरोध ही हो गया । अशोक के उत्तराधिकारी के पास मात्र मगध और आस पास के प्रदेश ही रह गए थे । अन्तिम मौर्य राजा बृहद्रथ का उसके ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र ने (भारतीय मैकब्येथ ने) नमक हरामी से वध किया ।[1] पौराणिक वर्णनो के आधार पर मौर्यवश 137 वर्ष चला । इसको स्वीकार करते यह कहना होगा कि ई पूर्व 322 मे चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण से ई पूर्व 185 तक मौर्यवश का राज्य रहा था ।[2] यह समय प्राय ठीक है । इस प्रकार वह ब्राह्मण वश कि जिसने बौद्ध मौर्य को उखाड फेका था ई पूर्व 185 मे भारतवर्ष मे सत्ता मे आया ।

इस प्रकार ब्राह्मणो के उकसाने से पुष्य या पुष्यमित्र ने नमक हराम हो कर अपने स्वामी का वध किया मन्त्रियो को कैद किया और राज्य का अपहरण कर उसने आपको राजा घोषित कर सुग या मित्रवश का स्थापन किया जिसका कि राज्य लगभग 110 वर्ष चला और जिसने हिन्दू समाज एवम् साहित्य मे प्राचीन विचार परम्परा की क्रान्ति फिर से कर दी ।[3] बाणभट्ट ने अपने हर्षचरित मे (ई शती) इस सैनिक अधिकार का उल्लेख इस प्रकार किया है । "अपने मौर्य राजा बृहोद्रथ को कि जो सिंहासनारूढ होते समय प्रतिज्ञा को पालन करने मे असमर्थ था, सेना बताने के बहाने, सेना का निरीक्षण करते हुए नीच पुष्यमित्र ने कचरघाण निकाल दिया ।"[4]

इसी बात पर लिखते हुए 'दी हिन्दू हिस्ट्री' ग्रन्थ का लेखक कहता है कि "पुष्यमित्र, जब वृद्ध हो गया था, उत्तर भारत मे सार्वभौम राजा की प्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ था । पाणिनीय व्याकरण के भाष्यकार अपने गुरु पन्तजलि की प्रमुखता और निर्देशन मे इस पुष्यमित्र ने एक राजसूय और एक अश्वमेध यज्ञ बडी धूमधाम से किया । इस पुष्यमित्र ने हिन्दूधर्म को पुनरजीवित करने की भरसक चेष्टा की । उसके यज्ञ बौद्धो पर ब्राह्मणो की विजय चिन्ह रूप ही थे, बौद्ध ग्रन्थकरो ने पुष्यमित्र को धर्मांध और अत्याचारी चित्रित किया है । ऐसा दोष मढा जाता है कि उसने मगध से लेकर पजाब के जालधर तक के बौद्ध विहारो को जला कर भूमि सात कर दिया और भिक्षुओ को कत्ल किया । इसमे कुछ सचाई भी हो सकती है । पुष्यमित्र का कहना था कि उसके विरुद्ध जैनो और बौद्धो का षडयन्त्र व्यापक था ।"[1]

उपर्युक्त सब बातो को ध्यान मे रखते हुए एक बात स्पष्ट है कि अशोक की अन्यायानुसवित्सु पद्धति को प्रतिक्रिया ने सर्व प्रथम तो बौद्धधर्म पर साघातिक आघात किया और दूसरे अनेक राजनैतिक कारणो से उत्तर भारत मे मौर्य प्राधान्य के भी मरणात पहुचा दिया । अशोक ने बौद्ध धर्म के और कुछ अश मे जैनधर्म के प्रति असीम उदारता बताई उसके परिणाम स्वरूप ब्राह्मणो के विशेष अधिकारो को भारी क्षति पहुची । फिर ये लोग रक्त-बलि की बधी और जासूसी की उत्तेजक कार्यवाहियो से भी असन्तुष्ट थे । इसलिए ज्यो ही वृद्ध राजा का सुदृढ

1 मजुमदार, वही, पृ 626 । 2 देखो पार्जीटर वही पृ 27 । 3 विज्ञप्रा पत्रिका 10, पृ 202 ।

4 यह अनुवाद कोव्यैल एव टामस के (हर्षचरित, पृ 193) और ब्रूलर (इ एण्टी स 2, पृ 363) एव जायसवाल के अनुवादो को मिला कर दिया गया है । देखो स्मिथ, वही, पृ 268 टि 1 ।

हाथ दूर हुआ कि ब्राह्मणों की सत्ता के प्रभाव ने फिर से सिर ऊंचा किया और विप्लव मचा दिया कि जिसके फल स्वरूप, जैसा कि हमने देख लिया है, शुंगवंश, की स्थापना हो गई। शुंगों के राज्य विस्तार का विचार करने पर हम देखते हैं कि पाटलीपुत्र आधुनिक पटना प्राचीन काल का पालीबोथा और उस समय की उत्तर-भारत की राजधानी शुंगों की राजधानी बनी रही और आसपास के प्रदेश भी उनके अधिकार में रहे। दक्षिण में नर्मदा तक उनके राज्य का विस्तार था। बिहार तिरहुत और आधुनिक उत्तर प्रदेश भी उनके राज्य में था। पंजाब तो परवर्ती मौर्यों के अधिकार में से बहुत पहले ही निकल चुका था अतः वह शुंगों के अधिकार में नहीं था।

बृहस्पति और पुष्यमित्र एक ही व्यक्ति हैं वह सामयिक इतिहास की बात बृहस्पति और पुष्य नक्षत्र के पारस्परिक सम्बन्ध से भी समर्थित होती है। इस पर टिप्पणी करते हुए श्री स्मिथ लिखता है कि बहपति कुछ सिक्कों और छोटे शिलालेखों का बहपति मित्र ही प्रतीत होता है क्योंकि दोनों ही संस्कृत शब्द बृहस्पति के प्राकृत रूप हैं। फिर ज्योतिष में बृहस्पति ग्रह पुष्य या तिष्य नक्षत्र का कि जो कर्क राशि का ही अंश है स्वामी कहा गया है। बहपति निश्चय ही पुराणों की वंशावली के शुंगवंश का प्रथम राजा पुष्यमित्र का ही विकल्प नाम है।'

इसी दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए श्री हरप्रसाद शास्त्री इस प्रकार कहते हैं कि अशोक वस्तुतः बौद्ध राजा था और वह भी धर्मान्ध। उसने सारे साम्राज्य में सब प्रकार के पशु यज्ञ बंध कर दिए थे। उसकी यह आज्ञा जहां भी ब्राह्मण रहते हों उनकी विशिष्ट जाति के विरुद्ध ही थी। इसी आज्ञा के बाद एक दूसरी आज्ञा भी थी जिसमें अशोक ने गर्व के साथ घोषणा की थी कि उसने इस भूमि पर देव माने जानेवाले लोगों को थोड़े ही समय में कुदेव बना दिया है। यदि इसका कोई अर्थ हो तो यही है कि भूदेव माने जानेवाले ब्राह्मणों का उसने परदाफाश कर दिया। धर्ममहामात्रों की अशोक द्वारा नियुक्तियां भी ब्राह्मणों के विशेषाधिकारों के प्रति प्रत्यक्ष आक्रमण था। इस प्रकार की गई अपनी हानि को ब्राह्मण चुपचाप सहने वाले नहीं थे। इन सब के कारण स्वरूप अशोक ने अपने एक शिलालेख में अपने समस्त अधिकारी को आदेश दिया था कि वे दण्डसमता और व्यवहारसमता के सिद्धांतों का कड़ाई के साथ परिपालन करें अर्थात् जाति रंग और वर्ण और धर्म की अवगणना करते हुए समान शिक्षा और समान व्यवहार का अमल करें। ऐसी परिस्थिति में प्रतिष्ठा-सम्पन्न महान् विद्वान और विशिष्ट अधिकार प्राप्त ब्राह्मणों को भी अनार्यों के साथ जेल में रहने कोड़ों का दण्ड लिए जाने जीवित ही भूमि में गाड़ दिए जाने अथवा फांसी पर लटकाए जाने के दण्ड अपराधानुसार दिए जा सकते थे और यह उन्हें असह्य हो गया था। ये सब अपमान वे जब तक कि अशोक का सुदृढ़ बाहु साम्राज्य का संचालन करता था तब तक सहते थे। परन्तु वे किसी ऐसे सैनिक की खोज में भी रहे कि जो उनके अधिकारों के लिए लड़े और ऐसा व्यक्ति उन्हें मौर्य साम्राज्य के महासेनाधिपति पुष्यमित्र के रूप में मिल ही गया। वह रग रग से ब्राह्मण था और बौद्धों से घृणा करता था। [4]

संक्षेप में कहें तो यह कि बृहस्पतिमित्र को पुष्यमित्र मान लेने में जरा भी कठिनाई या आपत्ति नहीं है और न इसमें कोई ऐतिहासिक क्षति ही पहुंचती है। प्रत्युत ऐसा करने से ही उस समय के समस्यायी पुरुषों

---

1 मजुमदार वही पृ 36। 2 दंवो बएसो कार्यविवरण और पत्रिका 1910 पृ 259-262।

3 राएसो पत्रिका 1918, पृ 545।

4 शास्त्री हरप्रसाद बएसो कार्यवाही और पत्रिका 1910 पृ 259 260।

5 यहां यह द्रष्टव्य है कि इस प्रकार के नाम-विकल्प भारतीय इतिहास में सामान्य बात है-याने त्रिशिरा-अग्निमित्र अजातशत्रु कूणिक अशोक प्रियदर्शी चन्द्रगुप्त नरेन्द्र बलमित्र-अग्निमित्र भानुमित्र-वसुमित्र आदि।

ग्रौर ऐतिहासिक घटनाग्रो का पारस्परिक समन्वय ग्रौर सम्वन्ध वैठ जाता है ।

पुष्यमित्र कट्टर ब्राह्मण था ग्रौर खारवेल जैन, ये दोनो ही वाते खारवेल को राज्य का जैन इतिहास की दृष्टि मे महत्व बढा देती है । यदि पुष्यमित्र के ब्राह्मणीय धर्मयुद्ध मे जैनधर्म की रक्षा करने वाला खारवेल उस समय न होता तो महावीर की धर्मक्रान्ति भी उसी प्रकार नष्ट हो गई होती जैसी कि बौद्धधर्म की बुद्ध द्वारा की गई क्रान्ति ऐसे व्यक्ति के हाथो विलकुल नष्ट हो गई कि जिसकी ख्याति 'बौद्ध सिद्धान्त के उन्मूलनकर्ता' नाम से है ।[1]

जैसा कि हम पहले ही कह ग्राए है, खारवेल ने मगध पर दो वार चढाइया की थी । पहली चढाई मे वह लगभग पाटलीपुत्र तक पहुच गया था । उस समय पुष्यमित्र ने युक्तिपूर्वक मथुरा की ग्रोर पीछे हटने ग्रौर खारवेल ने वरावर टेकरियो (गोरठगिरि) से ग्रागे नही वढने मे ही होशियारी या समझदारी मानी ।

परन्तु दूसरी चढाई मे खारवेल विजयी हुग्रा । उत्तर-भारत मे प्रदेश कर हिमालय की तलेटी तक पहुच उसने यकायक मगध की राजधानी पर गगा की उत्तर मे धावा वोल दिया । इस नदी को उसने कलिग के प्रख्यात हाथियो द्वारा पार किया था ।[2] पुष्यमित्र शरणागत हुग्रा ग्रौर विजेता खारवेल ने उसके राज्य के कोश पर ग्रपना ग्रधिकार जमा लिया । उसमे कलिगजित की प्रतिमा जो महाराज नन्द श्म ले ग्राया था, वह भी थी । उसकी इस विजय का प्रभाव सु ग राज्य की पूर्वी सीमा मात्र पर ही पडा । उसने वगाल एवम् पूर्व विहार पर भी विजय प्राप्त की होगी जहा कि जैनधर्म के प्रभाव के ग्रनेक प्रमाण ग्राज भी उपलब्ध ह ।[3]

खारवेल की इस विजय के विषय मे जयसवाल कहते है कि "पुष्यमित्र ने लडाई के परिणाम पर ग्रपने राज्य सिंहासन का दाव लगाने की ग्रपेक्षा भूतपूर्व तीन सदियो के मगध-कलिग इतिहास को सक्षिप्त करने वाले पदार्थो को लौटा कर रक्षा की । वहुत सभव है कि मगधराज की सत्ता ने ही इस चढाई के उद्देश को कूट राजनैतिक विजय की ग्रपेक्षा महत्व का वना दिया क्यो कि भारतवर्ष के इस साम्राज्य सिंहासन पर ग्रधिकार न कर यौंही छोड देना किसी भी मनुष्य के लिए ग्रासान वात नही था ।"[1]

खारवेल पुष्यमित्र का यह सिंहासन ग्रपहरण नही कर सका था, यह वात शिलालेख के पाठ मे स्पष्ट प्रगट है । उस सीमा तक कल्पना को खीचने की ग्रावश्यकता ही नही है । वस्तुत ऐसा हुग्रा दीखता है कि जैसे सातकर्णी के सम्वन्ध मे हुग्रा था वैसे ही खारवेल को ग्रपने पडोसियो पर ग्रपना कुछ ग्रधिक सर्वोपरिता जमा कर ही यहा सन्तोष कर लेना पडा होगा, क्योकि ग्रन्तिम मौर्य राज वृहद्रथ की हत्या के पश्चात् मौर्य साम्राज्य की सम्पत्ति विभाजन कर लेने वाली शक्तियो की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्वता से उस समय का राजनीतिक वातावरण लहरा रहा था । महान् राज्य के पतन पर उठनेवाली शक्तियो मे सत्ता के लिए सघर्ष चल रहा था । इस सघर्ष मे यह विना जोखम के कहा जा सकता है कि खारवेल ने भी पूरा पूरा भाग लिया या यही नही ग्रपितु जो भी उसे प्राप्त हो सका उसे ले लेने मे उसे यश ही प्राप्त हुग्रा था ।

कलिग मे जैनधर्म की प्राचीनता की दूसरी बात का विचार करते हुए हम देखते है कि इस शिलालेख मे कलिगजिन के उल्लेख के ग्रतिरिक्त हमे कुछ भी सकेत नही मिलता है जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है उसमे जिस वाक्यरचना का प्रयोग किया गया है उससे ऐसा लगता है कि उक्त मूर्ति कलिग ग्रथवा कलिग की राजधानी

---

1 दव्यावदान पृ 433-434 । 2 स्मिथ, वही, पृ 209 ।

3. मजुमदार, वही, पृ 633 । 4 विउप्रा, पत्रिका स. 3, पृ 447 ।

म पूजी जानेवाली जिनमूर्ति ही होगी । शिलालेख स्पष्ट ही कहता है कि यह मूर्ति राजा नन्द उठा ले गया था यानि वह उसे कलिंग से मगध में ले गया होगा । हम यह भी देख आए हैं कि यह राजा नन्द जैनो का नन्द 1म था न कि नंदिवधन जैसा कि श्री स्मिथ ने जायसवाल आदि विद्वानों के आधार पर मान लिया है ।[1] यदि ये सब बातें ऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाणिक मानी जाएं तो यह कहने में जरा भी अतिशयोक्ति नहीं है कि बौद्धधर्म के कलिंग में पांव जमाने के बहुत पहले से ही जैनधर्म वहां जम चुका था और जनता में लोकप्रिय हो गया था ।

सम्भवतः नन्द 1म की कलिंगविजय के समय वहां जैनधर्म प्रचलित धर्म था । इस समर्थन करते हुए जायसवाल कहते हैं कि शिशुनागवंश को नंदिवधन अर्थात् राजा नन्द के समय में ही जैनधर्म उड़ीसा में प्रवेश कर चुका था । खारवेल के समय के पूर्व उदयगिरि पहाड़ी पर अर्हतो के मंदिर थे क्योंकि शिलालेख में उनका अस्तित्व खारवेल के समय से पूर्व संस्थाना के रूप में वर्णन किया गया है । ऐसा लगता है कि कुछ सदियों से जैनधर्म उड़ीसा का राष्ट्रीय धर्म था ।

इसका समर्थन एक जनश्रुतकथा से भी होता है जिसमें सुदूर ई. पूर्व छठी सदी में उड़ीसा को क्षत्रियों का केन्द्र माना गया है । उस दंतकथा में कहा है कि उड़ीसा में महावीर के पिता का क्षत्रिय मित्र राज्य करता था और महावीर वहाँ गए थे ।[3]

उड़ीसा एण्ड हर रिमेंस ग्रंथ को लेखक विद्वान कहता है कि जैनधर्म की जड़ें इतनी गहरी थी कि हम उसर्पण 16वी सदी ईसवी तक भी पाते हैं । उड़ीसा का सूर्यवंशी राजा प्रताप रुद्र देव जैनधर्म की ओर बहुत झुका हुआ था ।[4]

लेख की अगली पंक्ति का विचार करने की ओर झुकें हम पहले यह संकेत भर कर देना चाहते हैं कि शिलालेख से इस निष्कर्ष पर पहुंचने के भी स्पष्ट आधार हैं कि ई. पूर्व पांचवी सदी के प्रारम्भ जितने प्राचीन समय में ही जैनों में मूर्ति पूजा का प्रचार था । इस मूर्तिपूजा के प्रश्न का विचार विस्तार से आगे इसी ग्रंथ में हम करेंगे ।[5]

शिलालेख की इस बात को दृष्टि में रखते हुए श्री जायसवाल तीन महत्व के निष्कर्ष निकालते हैं जो कि इस प्रकार हैं — (1) यह कि नन्द जैन था, और (2) यह कि जैनधर्म का उड़ीसा में प्रवेश बहुत ही पहले सम्भवतः महावीर के बाद ही या उनके समय में ही हो गया था (जैन दंतकथा उनके उड़ीसा में विहार की बात कहती

---

1 निश्चय नन्द राज पुराणों का नौवां शिशुनाग राजा नंदिवधन लगता है । उसको एवं उसके उत्तराधिकारी महानंदिन 10 वां था नन्द हो उन नौ नन्दों से पृथक कि जो चन्द्रगुप्त और 10वें नन्द के बीच में होते हैं मानना आवश्यक है । मेरे ग्रंथ अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया के 1914 के तीसरे संस्करण में मैंने नंदिवधन का राज्यारोहण ई. पूर्व 418 के लगभग रखा था । परन्तु अब इसे ई. पूर्व 470 के या इससे भी कुछ पूर्व में रखना चाहिए । स्मिथ राएसो पत्रिका 1918, पृ. 547 ।

2 बिउप्रा पत्रिका भा. 3 पृ. 448 ।

3 तत्ता भगवं मामलिमा तत्थ सुमागहो नाम रहिमो पियमित्तो भगवओ सो ओएइ, तत्तो सामी मोसलिगओ । आवश्यकसूत्र पृ. 219–220 ।

4 प्रताप रुद्र देव, गजपति राजाओं में से एक कि जिसने ई. सन् 1503 में राज्य किया ने जैनधर्म परित्याग कर दिया लोग बएसो पत्रिका, भाग 28 सं. 1 से 4 और 5, 1859 पृ. 189 ।

5 गंगूली वही पृ. 19 ।

ओर शिलालेख की 14वी पक्ति भी सूचित करती है कि कुमारीपर्वत (उदयगिरि) वह स्थान था कि जहा धर्म का प्रवर्तन और उपदेश दिया गया था । लेख यह भी प्रमाणित करता है कि (3) लगभग या ई पूर्व 450 या उनमे भी कुछ पूर्व जैनमूर्तियो को खोने का यह अर्थ है कि महावीर निर्वाण की तिथि वह होना चाहिए जो कि हमे उन अनेक जैन कालनिरूपक सामग्रियो का पुराणिक और पाली सामग्रियो के साथ पढ कर कि जो सव उसे ई पूर्व 545 मे स्थिर करने एक्य स्थापन करते हैं, प्राप्त होता है (विउप्रा, पत्रिका, स 1, पृ 99-105)[1] इन तीनो ही निष्कर्षो की चर्चा हमने पहले ही अच्छी तरह कर दी है ।

अब हम अनुगामी पक्ति का विचार करेंगे । इसमे भी एक राजनैतिक घटना दृष्टव्य है—याने उसकी महान् विजय का वर्ष धुर दक्षिण से अतुल धन वर्षा का भी वर्ष था । आदि मे यह पक्ति हमे बताती है कि खारवेल ने भीतर मे उत्कीर्ण काम की भव्य मीनारें या स्तम्भ बनवाए थे और 'उस योग्य पुरुष' ने कलिंग मे पाण्ड्य देश (सिहल के सामने को धुर दक्षिणी देश) के राजा ने अद्भुत और विस्मयोत्पादक गज-वाहन,[2] चुनींदा अश्व, माणक, मोती आदि अनेक रत्न प्राप्त किए ।[3]

इसमे कलिगाधिपति की पाड्य देश पर आक्रमण का कोई उल्लेख नही है । खारवेल की महत्ता, और उसकी आधो एवम् सुगो पर अधिपत्य को देख कर ही ये सब जयहिन्द पाण्ड्यो ने अपने आप खिराज रूप मे भेज दिए हो । जैसा कि हम अभी ही देखेंगे कि खारवेल के सैनिक शौर्य के इस वर्णन के अतिरिक्त इस शिलालेख मे उसके धर्मकृत्यो का भी अभिलेख किया गया है । इसमे यह विश्वास करने का पर्याप्त कारण मिल जाता है कि राजा और उसके परिवार का जैनधर्म की ओर झुकाव था और उसके वंशज उत्तराधिकारी भी प्रत्यक्षत. उसी धर्म के मानने वाले थे ।[4]

चौदहवी से लेकर लेख की अन्तिम पक्ति तक के अभिलेख से हमे मालूम होता है कि राजा खारवेल निरा नाम का ही जैनी नही था अपितु उसने इस धर्म को अपने नित्य नैमितिक जीवन मे भी उचित स्थान दिया था । वहाँ जो कुछ भी कहा गया है उससे स्पष्ट है कि उसके राज्यकाल के तेरहवे वर्ष मे, राज्य विस्तार से सन्तुष्ट हो कर, उसने धार्मिक कार्यों मे अपनी शक्ति मोड दी थी । वह कुमारी पर्वत[5] के पवित्र स्थानो पर खूब धन खर्च करता है और गौरव से परिपूर्ण शिलालेख खुदवाता है । व्रतो की समाप्ति पर दिए जाने वाले राजकीय भत्ते उन याप आचार्यों को कि जिनने उस पवित्र कुमारी पर्वत की शरीरावशेषो के भण्डार पर तप करके अपने जन्मान्तरो के क्रम[6] को समाप्त कर दिया हो देने का आदेश निकाला कि जहाँ 'विजेता का चक्र'[7] खूब अच्छी

---

1 बिउप्रा पत्रिका, स 13, पृ 245, 246 । 2 सिंहली अपने गजो के निर्यात के लिए विशेष प्रकार नौकाए बनाते थे । ऐसा लगता है कि शिलालेख निर्दिष्ट 'गजवाहन' इसी जाति के थे ।

3 तु जठर-लिखित-वरानिसिहिरानि नीवेसयति...पडराजा चेक्षनि अनेकानि मुतमणिरतनानि—बिउप्रा पत्रिका स. 4, पृ 401 और स 13, पृ 233 ।

4 बगाल जिला विवरणिका, पुरी, पृ 24 ।

5 वह पवित्र स्थान था क्योंकि वहा जैनधर्म की देशना दी गई थी (पक्ति 14) ।

6 परम आदर्श जैन मुनि जिनने तपो द्वारा अपने को (आत्मा को) विमुक्त कर लिया है । जैन दर्शन मे यह बहुत ही आदर्श धारणा हैं । 7 यह सूचित करता है कि जैनो मे वर्द्ध धर्म विस्तार का भी चिन्ह था । मथुरा के जैन स्तूपो मे पाए जाने वाले वर्द्ध के प्रतीक से भी यही समर्थित होता है ।

रीति से स्थापित हो चुका था। यह भी आगे कहा गया है कि खारवेल ने श्रावक के व्रतों की पालना कर जीव और देह का भेदविज्ञान अनुभव कर लिया था।[1]

खारवेल की जनधर्म के प्रति इतनी और पूर्ण श्रद्धा का इससे अच्छा प्रमाण और क्या हो सकता है ? याप आचार्यों और अन्यों को कि जो कुछ व्रतों का पालन करते दिया जाने वाला दान या भेंट और जैन दर्शनानुसार जीव और पुद्गल (देह) के पारिभाषिक महत्व का अध्ययन करने के प्रति प्रेम स्पष्ट बताता है कि यह अंश जैन नहीं था। उसने अपने धर्म के प्रमुख लक्षणों का पहले जानने समझने का प्रयत्न किया और इस प्रकार अपने धर्म की महत्ता का अनुभव कर वह उन लोगों की सहायता और प्रोत्साहन का सदा ही तैयार रहता था जो कि साधू हो गए थे या जो भगवान् महावीर के दिव्य संदेश के लिए जीने और मरने के लिए सन्नद्ध थे।

इस पंक्ति में कुछ ऐसे भी उल्लेख हैं जो कि भूतपूर्व दिनों के जनाचार पर भी महत्व का प्रकाश डालते हैं और एक ऐसे वर्ग का परिचय भी देते हैं जो आज अस्तित्व में नहीं है याप आचार्यों के वर्ग का उल्लेख बताता है कि उस समय जनों में ऐसा एक सम्प्रदाय था। इन्द्रभूति के नीतिसार के अनुसार वह एक ऐसा मिथ्यादृष्टि संघ था जिसमें कि दक्षिण का दिगम्बर सम्प्रदाय तब विभक्त था —

गोपुच्छक ? श्वेतवासा द्राविडा यापनीयक ।
नि पिच्छकश्चेति पंचैते जनाभासा प्रकीर्तिता ।।[2]

उपरोक्त सूची में यापनीय का नाम सम्मिलित किया जाना एक आश्चर्यकारक बात है क्योंकि चालुक्य राजा अम्मराज 2य के शिलालेख में उन्हें पवित्र और पूज्य नंदी-गच्छ का एक विभाग बताया है और उनके संघ को पवित्र यापनीय-संघ[3] कहा गया है। फिर श्रवण बेलगोल के शिलालेखों में से एक में इस नन्दी संघ का महत्वलि ने रुचिपुस्त माना है। उसकी राय में यह संघ संसार का नेत्र' था।[4] नियमों से विपरीत सिताम्बर और अन्य संघों में उसने विभेद करने का कोई भी प्रयत्न नहीं किया है। और यदि कोई सेन नन्दी देव और सिंह संघों के विषय में ऐसा विभेद करता है उसको उसने 'मिथ्यात्वी या पाखण्डी तक कह दिया है।

इस विषय में जायसवाल कहते हैं कि भद्रबाहुचरित में चन्द्रगुप्त के समकालिक भद्रबाहु श्रुतकेवली के तुरंत बाद के जनधर्म का इतिहास देते हुए कहा गया है कि भद्रबाहु के शिष्यों में जो कि गुरु की अस्थियों की पूजा करते थे ही एक सम्प्रदाय यापनीसंघ नाम से उद्भव हुआ और इस संघ ने अंत में ही दिगम्बर [रहने का निश्चय कर लिया। यह यापनसंघ दक्षिण में फलाफूला क्योंकि इसका कर्णाटकीय शिलालेखों में प्रमुखतया उल्लेख आता है। अब यह लुप्त है। मुनि जिनविजय का यह मत है कि इस संघ के कितने ही सिद्धांत तो दिगम्बर सम्प्रदाय से मिलते थे और कितने ही श्वेताम्बर सम्प्रदाय से। इस मत की दृष्टि से यापनसम्प्रदाय जैनसंघ के इन दो स्पष्ट सम्प्रदायों में विभक्त होने से पूर्व का ही कदम होना चाहिए। इस शिलालेख से पता चलता है कि याप जिससे कि इस सम्प्रदाय का नाम पड़ा था कुछ पवित्र आचारों का कहा जाता था। यदि हम इसका विचार उस अर्थ में करें कि जिसमें वरुज-पीडा उपशामक या महाभारत प्राण पोषक में यह प्रयुक्त हुआ है तो याप उपदेष्टा प्राणियों के शारीरिक दुःखों के उपशम के धर्म पर ही बल देते थे।[6]

---

1 तरसम च वस सुपवत विजय चक्र कुमारीपवते अरहिते यप रवीण ससितहि काय जीव-देहसिरिका परिखिता। विउप्रा पत्रिका स 4, पृ 401 402 और स 13 पृ 233।

2 प्रेमी विद्वरत्नमाला, भाग 1 पृ 132 3 हुल्ट्श एपी इंडि, पुस्त 9 पृ ५५, श्लो 18 पृ 50

4 एपी कर्णा पुस्त 2 एस बी 254। 5 वही।

6 विउप्रा पत्रिका स 4 पृ 389।

फिर. शिलालेख हमे कहता है कि ये याप आचार्य कुमारीपर्वत याने कायानिषीधि पर रहते थे। लेख की पक्ति से ही प्रमाणित होता है कि यह निषीदि अर्हतो की ही निषीदि थी। निषीदि या निषीधि जैन साहित्य तीर्थंकरो और गुरुओ आदि की पवित्र शोभा समाधियो के लिए जैन साहित्य मे प्रयुक्त हुआ है, परन्तु इसे विश्राम-स्थान ही समझना चाहिए।[1]

इस पर ही डॉ फ्लीट कहता है कि "निशीधि शब्द के लिए कि जो निषीधि, निशिधि और निशिदिगे रूप मे भी मिलता है—डॉ के बी. पाठक मुझे सूचित करते है कि यह शब्द आज भी जैनसघ के प्राचीन का वयोवृद्ध सदस्यो द्वारा प्रयोग किया जाता है, और इसका अर्थ है 'जैन साधु के अवशेषो पर खडी की गई समाधि' और उसने मुझे 'उपसर्गकेवलीगलकथे' से निम्न अश उद्धृत किया है कि जिसमे यह शब्द प्रयुक्त है—

"ऋषि-समुदाय = गृल्ल दक्षिणापथदि बदु मट्टारर निषिदियन = एयदिद-आगल, आदि.

"साधुओ का सारा समुदाय दक्षिण के प्रदेश मे आकर और परम पूज्य की निषिधि पर पहुच कर, आदि।"[2]

कुमारीपर्वत पर की निषिधि जहा कि यह शिलालेख खुदा है, कोई शोभा समाधि सी नही दीखती अपितु एक यथार्थ स्तूप है, क्योकि उस शब्द के पहले कायम विशेषण लगा हुआ है कि जिसका अर्थ होता है, 'शरीरावशेषो का'। शिलालेख पर विचार करते हुए जायसवाल कहते हैं कि "इससे यह मालूम होता है कि जैन अपने स्तूपो और चैत्यो को निषिधि कहते थे। मथुरा मे पाया गया जैन स्तूप और भद्रबाहुचरित का यह कथन कि भद्रबाहु के शिष्यो ने अपने गुरू की अस्थियो की पूजा की, इस तथ्य की स्थापना कर देता है कि जैन (कम से कम दिगम्बर जैन तो) अपने गुरुओ के अवशेषो पर स्मारक बनाया ही करते थे।"[3] प्रसगत यह भी कह दे कि यह प्रथा जैनो और बौद्धो मे परिसीमित नही थी, अपितु गुरुओ की स्मृति मे स्मारक-चैत्य बनाने या खडे करने की एक राष्ट्रीय प्रथा ही थी।

जैसा कि पहले कह दिया गया है। पन्द्रहवी पक्ति हमारे सामने खारवेल का एक श्रद्धालु जैन का रूप प्रस्तुत करती है। साधुओ और एकातप्रिय तत्वज्ञो के लिए खारवेल ने जो कुछ किया था उसका इसमे वर्णन है। परन्तु इस पक्ति के कुछ शब्द लुप्त हो गए हैं इसलिए हमारे लिए यह जानना सम्भव नही है कि वस्तुत वे कार्य क्या क्या थे। फिर भी यह स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि वह कार्य था सघ के नेता और प्रत्येक रीति से दक्ष पुरुष, पवित्र कार्य करने वाले और सिद्ध श्रमणो का।"[4]

इसके सिवा वह यह भी कहती है कि अर्हत् के अवशेषो के सग्रहस्थान के पास, पर्वत की ढलाई मे, राजा खारवेल ने 'सिहपुर (= प्रस्थ)'[5] महल अपनी रानी सिधुदा के लिए बडी दूर से अच्छी खानो के लाए हुए पत्थरो से, घटा लगे स्तम्भो का कि जो नेपाल मे खडे इसी वर्णन के सुन्दर मध्यकालीन स्तम्भो जैसे हैं, और उसमे फिरोजा जडा 75 लाख पणो की लागत से जो कि उस समय का प्रचलित सिक्का था, बनवाया था।[6]

जायसवाल जी ने इस महल की पहचान उस महान् शिलोत्कीर्णित भवन से जो कि 'रानी या 'रानी का महल' कहलाता है, की है।[7] यह हाथीगुफा के पास ही, पर्वत की ढाल मे है और यह भी द्रष्टव्य है कि इसकी ममती

---

1. एपी, इण्डि, पुस्त 2, पृ 274।

2 इण्डि एण्टी, पुस्त 12, पृ 99। 3 बिउप्रा पत्रिका, स 4, पृ 389।

4 सकति समण-सुविहितान च सत-दिसान...तपसि। —वही, स 4, पृ 402 और स 13, पृ 234।

5 देखो आयगर (के), वही पृ 75, 76।

6 देखो बिउप्रा पत्रिका, स 4, पृ 402, और स 13, पृ 234, 235। 7 वही, स 13, पृ 235।

मे सिंह भी प्रमुख स्थानों पर रखे हैं। इस प्रकार अवशेष संग्राहक स्मारक-अर्हत् निषीधि इसी रानी महल के पास कहीं होना चाहिए। जैसा कि शिलालेख में कहा गया है।

अंतिम कितने ही दशकों से जिसकी विवादास्पद चर्चा चल रही है सोलहवीं पंक्ति का वह अंश अति महत्व का है इसमें खारवेल और उसके जैन इतिहास के संबंध में कुछ भी नहीं है। पूर्व पंक्ति की तरह यह भी इसी बात को समर्थन करती है कि खारवेल महान जैन था। जैन शास्त्र और उनकी सुरक्षितता में उसे कितनी अधिक दिलचस्पी थी इसी का इसमें स्पष्ट उल्लेख है, क्योंकि इस पंक्ति में कहा गया है कि —

'मौर्य राजा के काल में खोए 64 प्रकरण वाले चार खण्ड के अंग सप्तिका ग्रंथ का उसने उद्धार किया।[1]
जैसा कि हम पहले देख चुके हैं डा फ्लीट का इस पंक्ति की व्याख्या भी बहुत कुछ ऐसी ही है। हम उसे यहां उद्धृत करना उचित समझते हैं 'सार वर्णन में कोई भी तिथि नहीं दी गई है केवल यही कहा गया है कि खारवेल ने मौर्य राजा या राजों के समय में उपस्थित सात अंगों के संग्रह के 64 प्रकरण अथवा अन्य विभागों का और कुछ मूल पाठों का उद्धार किया।[2]

यहां हमें मगध के महान् दुष्काल का स्मरण हो आता है कि जो बारह वर्ष का था और जिसकी चर्चा पूर्व अध्याय में की जा चुकी है। जैसा कि हम देख चुके हैं इसके परिणाम स्वरूप चन्द्रगुप्त राज्य छोड़कर अपने गुरु भद्रबाहु एवम् अन्य प्रवासियों के साथ दक्षिण में चला गया था। इस दुष्काल की समाप्ति पर पाटलीपुत्र[3] में स्थूलभद्र युगप्रधान की प्रमुखता में साधुसंघ एकत्रित हुआ था। ये स्थूलभद्र सब कुछ जोखम उठाकर भी देश के दुष्काल का भीषण दृश्यों को देखने के लिए वहां रहे थे। इस प्रकार शिलालेख की यह पंक्ति चन्द्रगुप्त काल में कुछ जैन शास्त्रों के नष्ट या लुप्त हो जाने के विवाद की दन्तकथा का समर्थन करती है। कलिंग ने बहुत कुछ भद्रबाहु और उनके साथ दक्षिण में गए अनुयायियों का अनुगामी होने से मगध में एकत्र हुई साधुसंघ की शास्त्र वाचना या पाठ को स्वीकार नहीं किया यह स्पष्ट है।[4]

शिलालेख की अंतिम याने सत्रहवीं पंक्ति भी इसके पूर्व की सोलहवीं पंक्ति के साथ ही पढ़ा जानी चाहिए। इस प्रकार पढ़ने पर हम देखते हैं कि उसमें संक्षेप से खारवेल के प्रमुख गुणों का वर्णन होने के साथ साथ उसकी सत्ता की व्यापकता भी बताई गई है। शिलालेख के इस अंश में विशेष रूप से ही कुछ अतिशयोक्तिकता हो सकता है और ऐसा होना स्वाभाविक है। परन्तु जब हमारे सामने खारवेल का तुलनात्मक अध्ययन करने को और कोई भी साधन नहीं है तो हम इस पंक्ति को शब्दार्थ से ही संतोष करना होगा। जो कि इस प्रकार है—

वह क्षेमराज (क्षेम) का राजा विस्तार (साम्राज्य के) का राजा (या प्राचीन लोगों का राजा) भिक्षुओं को दानी (या राजा होते हुए भी भिक्षु) धर्म का राजा जो हित (कल्याणों को) देखता सुनता और अनुभव करता है '

'राजा खारवेल-श्री, महान् विजेता राजर्षियों के वंश में अवतरित हुआ हो उसने वह जिसका साम्राज्य विस्तार पाया है जिसके साम्राज्य की रक्षा साम्राज्य (या सेना) नायकों द्वारा सुरक्षा की जाती है वह जिसने रथ

---

1 वही पृ 236। 2 राएसो पत्रिका 1910 पृ 826 827।

3 आधुनिक पटना। इसके संघ के वक्ता में ऐतिहासिक महत्व का स्थान और उस समय मौर्य साम्राज्य की राजधानी।

4 इस परिषद ने जैनों के पवित्र ग्यारह अंग और चौदह पूर्वों के आगम साहित्य को निश्चित किया था।

और सेना का अवरोध नही किया गया है, वह जिसने प्रत्येक मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया है, वह जो प्रत्येक धर्म का सम्मान करता है, वह जो विशिष्ट गुणो के कारण कुशल है.. ।"[1]

यहा कलिंग का महान् सम्राट, भिक्षुराज खारवेल और जैनधर्म के महान् समर्थक राजो मे से एक की आत्मकथा समाप्त हो जाती है । प्रथम पक्ति मे ही किया अर्हतो और सिद्धो का मगलाचरण, जैन श्रमणो के लिए निर्मित मन्दिर और गुफाए, याप आचार्यो को भूमि एवम् अन्य आवश्यक पदार्थो का दान, राजा नद द्वारा अपहृत कलिगजिन प्रतिमा की पुन प्राप्ति आदि सब बाते प्रतीत कराती है कि खारवेल जैन था, ई पूर्व 183 मे चौवीस वर्ष की अवस्था मे वह राज्यगद्दी पर आया था । बत्तीस वर्ष की अवस्था मे उसने मगध पर पहली और 36 वर्ष की अवस्था मे दूसरी चढाई की थी । श्री जायसवाल के अनुसार उसकी मृत्यु सभवत ई पूर्व 152 मे हुई थी ।[2]

वह एक ऐसा सम्राट था कि जिसके वश के विषय मे हम कुछ भी नही जानते है और जिसकी जीवनलीला के विषय मे इस शिलालेख के कि जिसके ऊपर काल का प्रभाव पडे बिना नही रह सका है, सिवा अन्य कोई भी साधन हमे प्राप्त नही है । फिर भी हम इतना तो यहा अवश्य ही कहेगे कि वह कोई आश्चर्य की बात नही होगी कि किसी सुदिन कोई पुरातत्वज्ञ विद्वान को 'राजर्षियो की परम्परा के इस प्रख्यात वशज या उत्तराधिकारी' धर्मराज के विषय मे इससे अच्छा और अधिक विवरण वाला अभिलेख प्राप्त ही हो जाए । यह नि सदेह ही आश्चर्य है, ही नही अविश्वासनीय है कि जैनो के पास ऐसे व्यक्ति के विषय मे कहने का कुछ भी नही है कि जिसका जैन इतिहास मे योगदान किसी से भी कम नही था ।

खारवेल के राज्य का परिणाम और उसके सिहासनासीन होने के पश्चात् उसकी की हुई नई विजयो का परिचय देनेवाला ऐतिहासिक अथवा अन्य कोई भी समकालिक अभिलेख हमे उपलब्ध नही हैं । यह तो हमसे दूसरी ही दुनिया की उस ध्वनि जैसा ही है कि जो हमे कहती है कि अत प्राचीन काल मे कलिंग का खारवेल नाम का एक महान् सम्राट था और उसको तुम्हे मान लेना चाहिए और उसके स्मृति चिन्ह रूप मे हाथीगुफा के शिलालेख से मिलने वाली सूचनाओ के आधार पर ही समसामयिक ऐतिहासिक व्यक्तियो मे से एक उसे भी मान लेना चाहिए ।

शिलालेख कहता है कि उसने उत्तर मे महान् सुग राजा पुष्यमित्र को हराया था । यह समाचार सुन कर इण्डो-ग्रीक राजा डिमेट्रियस मथुरा का घेरा उठा कर अपने देश को लौट गया था । उसने दक्षिण मे सातकर्णी और उसके करद राज्यो को आधीन किया और उसकी इन विजयो की कथा सुन कर धुर दक्षिणात के पाण्ड्य राजा ने उसे बहुत और अमूल्य भेटे भेजी थी ।

तुलना के साधनो के अभाव मे इस शिलालेख की कौनसी बात स्वीकार की जाए और कौन नही, अथवा उसे किस रूप मे समझी जाए, यह एक बडी कठिनाई है । यह कठिनाई उस समय और भी जटिल हो जाती है जब कि ऐसे सैनिक अभियान जिनका इस शिलालेख मे प्रचुर प्रमाण मिलता है, ऐसे समाज मे कि जिसमे युद्ध एक व्यवसाय है और उस व्यवसायी जाति का परम्परागत सदस्य सैनिक है, एक सामान्य नियम हो जाता है और जहा अपने राज्य की सीमा विस्तार करने की आकाक्षा, जैसा कि हमारी स्मृतिया कहती है, ही राजत्व का एक प्रमुख

---

1 खेमराजा स वढराजा...अनुभवतो...कलाणानि सव-पासड-पूजको...खारवेलसिरि । बिउप्रा पत्रिका, स 4, पृ 403 और स 13, पृ 236 ।

2 बिउप्रा पत्रिका, स 13, पृ 243 ।

गुण है ।[2] प्राचीन और मध्यकालीन भारत के जीवन का यह प्रमुख लक्षण राजा की विरदावलियो म सुस्पष्ट है और इसी म शिलालेखो के अधिकाश भाग कि जो आधुनिक काल तक प्राप्त हुए ह, भरे है, हम चाहे जितनी भी उदारता उन्हे देखें फिर भी हमे स्वीकार करना ही होता ह कि य सब प्रशस्तिया राज कवियो या कृतज्ञ उपहार प्रापको की उपज मात्र ह जिनका लक्ष्य अपने आश्रयदाता का गौरवगान ही होता था न कि उसके राज्य का भावी सतति के लिए यथार्थ वर्णन प्रस्तुत करना । यह स्पष्ट है कि सफलताए अतिरजित की जाती थी और असफलताए चुप्पी साध उपेक्षा कर दी जाती थी । शिलालेखो और प्रशस्तियो के वक्तव्य अधिकाश म पूर्वग्रहो साक्षियो के ही हैं और उनका हम मूल्याकन भी उसी दृष्टि से करना चाहिए यदि हम काल सुरक्षित ऐतिहासिक साक्षियो के इन कतिपय अशो का सच्चा मूल्याकन करना चाहते ह । हाथीगुफा के शिलालेख म खारवेल की सफलताए अतिरजित हैं और सर आसुतोष मुकरजी के शब्दो म कहे तो "उडीसा के सम्राट खारवेल की कि जिसका नाम देश के इतिहास म से लुप्त हो कर एक दम विस्मृत हो हो गया था, हालाकि भारतवर्ष म ई पूर्व की दूसरी सदी म ऐसा महा नगर कदाचित् ही कोई था कि जो उसके नाम ही से नहा तो कम स कम उसकी शक्तिशाली सेना के दर्शन मात्र स ही कापता था पाषाण ही हम पूर्ण ब्यौरे वार वृत्तात प्रस्तुत करता ह ।[1]

जो भी हो, फिर भी इसम सन्देह नहीं है कि खारवेल अपने समय का एक प्रमुख व्यक्ति था और नतिक दृष्टि से वह उतनी ऊचाई पर पहुच गया था कि वह सुरक्षित था, और जहा वह खडा था वहा म फिसलने का ही नहीं था। सक्षेप म वह अपने समय का महान् व्यक्ति था जिसने अपनी महानता के अनेक प्रमाण उस समय दिए भी जब कि दैव ने उस भारतीय इतिहास की अव्यवस्थित और परीक्षात्मक घडी म इस महान निर्देशन का अवसर प्रस्तुत किया ।

1 मनु अध्याय 9 श्लो 251, अध्याय 10, श्लो 119 आदि ।

2 बिउप्रा पत्रिका स 10, पृ 8 ।

पांचवा अध्याय

मथुरा के शिलालेख

खारवेल का हाथीगुफा का शिलालेख उत्तर-भारत के जैन इतिहास का जैसे पहला भूमिचिन्ह है, मथुरा के जैन शिलालेखो से वैसे ही उस इतिहास के दूसरे युग के भूमिचिन्ह प्रारम्भ होते है। इन दोनो के बीच का अर्थात् ई पूर्व 150 से 16 तक का समय एकदम कोरा है ऐसा मान लेना आवश्यक नही है क्योकि कलिंग के जैन राजा के पश्चात् उससे भी अधिक सुप्रसिद्ध उज्जयिनी का विक्रमादित्य हुआ था जिसको जैन अपनी सम्प्रदाय का रक्षक मानते है। वहा प्राप्त प्राचीन लेखो की साक्षी के सक्षेप मे सर्वेक्षण करने के पश्चात् कलिंग और मालवा के अतिरिक्त मथुरा के जैनधर्म की एक बडी वस्ती हो गई थी इसका विचार करेगे।

महावीर-निर्वाण समय की चर्चा करते हुए ई पूर्व 57 या 56 मे प्रारम्भ होनेवाले विक्रम सवत् का भी निर्देश किया जा चुका है। 'विक्रमचरित' का जैन प्रतिसस्करण कहता है कि जैन मुनि सिद्धसेन दिवाकर का उपदेश सुन कर, विक्रम ने अपनी प्रतिष्ठा वृद्धि के लिए सारी पृथ्वी को ऋणमुक्त किया, और (ऐसा करके) उसने वर्धमान के सवत् मे परिवर्तन (जिससे परिवर्तन की सूचना हो) कर दिया।[1] उसी से परवर्ती भारतवर्ष को अपना सर्व प्रथम अविचलित युग याने सम्वत् प्राप्त हुआ कि जो आज तक भी उत्तर-भारत का सामान्य युग या सम्वत् है। एड्गर्टन के शब्दो मे 'मात्र जैनो का ही नही अपितु समस्त हिन्दुओ का अनेक सदियो मे ऐसा विश्वास रहा है।'[2]

यह महान् अवन्तीपति जिसके कि गौरवमय दिनो की और अतिमानवीय गुणो की जैन एवम् ब्राह्मण दोनो ही साहित्यो मे विस्तार से कीर्ति गाई गयी है, अपने को विक्रमादित्य जिसका व्युत्पन्न अर्थ 'पराक्रम मे सूर्य समान होता है, कहने लगा। उसके परवर्ती अनेक राजाओ को यह विरुद इतना अधिक आकर्षक हुआ कि अनेक ने, उस महान् वश से कुछ भी सम्बन्ध न रखने पर भी, अपने नाम के साथ यह विरुद लगा लिया। इससे प्रतीत होता है कि प्रथम विक्रमादित्य अवश्य ही एक अति महान् राजा होना चाहिए क्योकि ऐसा नही होता तो इस विरुद का इतना अधिक आकर्षण किसी को हो ही नही सकता था।

यह वही विक्रमादित्य है कि जिसे जैनो के कथा-साहित्य मे जैन कहा गया है। उसके पूर्वज गर्दभिल्ल के सम्बन्ध मे यह कहा जाता है कि महान् जैनाचार्य कालकसूरि ने, अपनी भगिनी साध्वी के उसके द्वारा अपहरण किए जाने से अपमानित हो कर, सिथियन राजो मे से एक को अपने पक्ष मे किया और उसकी सहायता से उनने

---

1 एडगर्टन, विक्रमाज एड्वेचर्स, भाग 1, प्रस्ता पृ 58। देखो प्रबन्ध चिन्तामणि, पृ 11 आदि, शत्रुजय महात्म्य, सर्ग, 14, गाथा 103, पृ 808।

2 एड्गर्टन, वही, प्रस्ता पृ 59।

सफलता पूर्वक इस अपमान का बदला लिया।[1] डा शार्पेंटियर कहता है कि यह दंतकथा ऐतिहासिक रस की तनिक भी नहीं हो या बिलकुल बात नहीं है क्योंकि इसमें यह उल्लेख है कि कैसे जैनाचार्य कालक उज्जैन के राजा गर्दभिल्ल द्वारा जो कि अन्य दंतकथाओं के अनुसार सुप्रख्यात विक्रमादित्य का पिता था अपमानित किए जाने पर उससे प्रतिशोध लेने की दृष्टि से शकों के देश को जिसका कि राजा साहानसाही कहलाता था गए। यह विरुद्ध, ग्रीक और भारतीय रूपों में निश्चय ही पंजाब के शक राजों मौएस एवम् उसके उत्तराधिकारियों द्वारा जो कि इस युग के हैं वहन किया जाता था। उनके उत्तराधिकारी कुषाण राजों के सिक्कों पर शाओनानो शाओ रूप में यह वस्तुतः पाया जाता है इसलिए यह निष्कर्ष निकालना सर्वथा उचित ही है कि दंतकथा किसी अंश में अवश्य ही ऐतिहासिक है। जो भी हो कथा आगे चल कर कहती है कि कालक ने कितने ही शक सभापों को उज्जैन पर चढ़ाई और गर्दभिल्ल वंश का उच्छेद करने को तैयार कर लिया। परन्तु उसके कुछ वर्ष बाद ही उसके पुत्र विक्रमादित्य ने आक्रामकों को वहां से निकाल भगाया और अपने पूर्वजों की गद्दी फिर से प्राप्त कर ली।[3] इस दंतकथा का ऐतिहासिक आधार क्या है यह सर्वथा अनिश्चित है। सम्भव हो कि इसमें ई पूर्व पहली सदी में हुए पश्चिमी भारत में सिथियन राज्य की धुंधली स्मृति ही हो। तथ्य जो भी हो परन्तु यह जैनों का उज्जैन के साथ सम्बन्ध का निःसन्देह एक और प्रमाण प्रस्तुत करता है। यही बात उनके विक्रम संवत् के प्रयोग से भी कि जो मालवा देश में जिसकी कि राजधानी उज्जैन थी, प्रचलित हुआ था सूचित होती है।'[4]

जैनाचार्य कालक के सम्बन्ध में दूसरी बात यह कहने की है कि वे दक्खन के प्रतिष्ठानपुर के राजा सातवाहन के पास भी गए थे। राजा इन्द्रमहोत्सव के कारण भाद्र शुक्ला पंचमी का पर्युषण जैन वर्ष की समाप्ति का धार्मिक पर्व में भाग लेने में अशक्त था। अतः गुरु ने एक दिन पूर्व याने भाद्र शुक्ला चतुर्थी का वह पर्व उसके लिए मनाया। तभी से समस्त जैन समाज चौथ का सम्वत्सरी व्रत करने लगा हालांकि परवर्ती काल में बहुत वर्षों के बाद अनेक गच्छों के उद्भव होने के कारण यह चौथ उसी माह की पंचमी में फिर से बदला गई है।[5] यह घटना यदि सत्य

---

1 कालिकाचार्य-कथा गाथा 9-40, पृ 1 4। देखो कानोव एपी इण्डि पुस्त 14, पृ 293। गर्दभिल्लोच्छेदक कालकसूरि वीरात् 453 में हुए थे।—क्लाट, इण्डि एण्टी पुस्त 11, पृ 251। देखो वही, पृ 247 शार्पेंटियर कहिइ भाग 1 पृ 168 श्रीमती स्टीवन्सन, वही पृ 75 मसूर आर्कियालाजिकल रिपोर्ट 1923 पृ 11।

2 वशीकृत सरिवर ॥ साहि।—कालकाचार्य कथा, गाथा 26, पृ 2 साहानसाहि स च मण्यतेऽत्र। वही, गाथा 27 पृ 3। देखो । जैन ग्रंथ कालकाचार्य कथानक में कहा है कि उनके राजा साही कहे जाते थे। रायचौधरी वही पृ 274 याकोबी जेडडीएमजी स 34, पृ 262। देखा कानोव वही पृ 293।

3 उस (विक्रमादित्य) ने राष्ट्र और हिन्दूधर्म सिथियनों को पूर्णतया हराकर का रक्षा की कि जिनका राजनीतिक महत्व और विदेशीय आचार-विचार भारतवासियों को अखर रहा था। मजुमदार वही पृ 63। देखो वही, पृ 638 भी। विक्रमादित्य ने शकों को निकाल भगाया एवं राजा बन गया जिसके पश्चात् उसने अपना ही युग याने सम्वत् प्रवर्तन किया।—कोनाव, वही और वही स्थान।

4 शार्पेन्टियर, वही और वही स्थान।

5 ततश्चतुर्थ्यां नियतानपर्ण, विज्ञप्तमेय गुरुणा नुमन।—कालकाचार्य कथानक गा 54 पृ 5। देखो श्रीमती स्टीवन्सन वही पृ 76। जैसा कि क्लाट कहता है इसका समर्थन तपागच्छ पट्टावली से भी होना है (इण्डि एण्टी पुस्त 9 पृ 251)। पक्षान्तर में खरतरगच्छ पट्टावली में कहा है कि कालक जिनने पर्युषणा पर्व तिथि में परिवर्तन किया, वीरात् 993 में हुए और यह कि इनके पूर्व इसी नाम के दो आचार्य और हो चुके थे जिनमें से एक वीरात् 453 में हुए और यहां गर्दभिल्ल ने सम्बन्धित थे।'—इण्डि एण्टी पुस्त 11, पृ 247।

हो तो दो दृष्टियो से महत्व की है । एक तो वह दक्षिण मे श्वेताम्बरो का सम्बन्ध बताती है और दूसरे दक्षिण के ऐसे जैन राजा का वह उल्लेख करती है कि जिसका कालकाचार्य जैसे महान् गुरू तक इतना मान रखते थे और जिसका पज्जूषण जैसे महान् जैन धार्मिक पर्व की तिथि परिवर्तन कराने मे प्रमुख भाग था ।[1]

गर्दभिल्ल के उत्तराधिकारी विक्रमादित्य का विचार करते हुए जैनो के उल्लेखो से हमे पता चलता है कि जैन साहित्य के इतिहास मे प्रखर ज्योतिर्धर श्री सिद्धसेन दिवाकर उसके दरबार मे उस समय रहते थे और उन्ही ने महान् राजा विक्रम को और श्रीमती स्टीवन्सन के अनुसार 'कुमारपुर के राजा' देवपाल को भी ।[2] जैनधर्मी बनाया था,[3] इसी समय के लगभग दो और घटनाए भी घटित हुई कही जाती हैं । पहली तो यह कि मरुच मे जैन साधू स्नामक वादी आर्य खपुट द्वारा बौद्धो की वाद मे हार ।[4] और दूसरी यह कि जैनो के परम पवित्र श तुजय तीर्थ के पास पालीताणा नगर की स्थापन यावसाहर ।[5]

खरतरगच्छ पट्टावली कहती है कि महावीर के पाट से सोलहवे श्री वज्रस्वामी (वी सं 496-584) ने दक्षिण की ओर बौद्धो के प्रदेश मे जैनधर्म का प्रचार-प्रसार किया था ।[6] पालीताणा स्थापना की दूसरी घटना का सम्बन्ध पादलिप्ताचार्य से है जो कि विक्रम महान् को समकालिक थे ।[7] जैनो के अनुसार पादलिप्ताचार्य को आकाशगामिनी विद्या सिद्ध थी ।[8] इस पर टिपण करते हुए श्रीमती स्टीवन्सन कहती है कि "शत्रु जय की स्थापना एक जैनाचार्य ने की थी कि जिनमे आकाशगामिनी विद्या थी और जिनके एक शिष्य कोसुवर्णसिद्धि प्राप्त थी । इन दो शक्तियो के प्रभाव से वहा ससार का अद्वितीय मन्दिर नगर बस गया ।"[9] इस तीर्थ के सम्बन्ध मे खरतरगच्छ पट्टावली मे कहा है कि वीरात् 570 मे वह जीर्ण हो गया था और विक्रम के समकालिक

---

1. राजा सातयान पक्का जैन था, यह कालकाचार्य-कथा (गाथा 50-54, पृ. 4-5) से यद्यपि स्पष्ट है परन्तु वह कौन था, इसका कुछ भी पता नही है । प्रतिष्ठानपुर सातवाहनो की पश्चिमी राजधानी थी, इससे हम अवगत हैं । जैन दन्तकथा इस वश के राजा हल को भी जैनी ही कहती है । देखो ग्लैसन्यप डेर जैनिस्मस, पृ 53, झवेरी, निर्वाणकलिका प्रस्तावना पृ 11 । 2. देखो, श्रीमती स्टीवन्सन, वही और वही स्थान ।

3 उस (सिद्धसेन दिवाकर) ने विक्रमादित्य को वीरात् 470 मे जैनधर्मी बनाया था । —"क्लाट, वही, पृ 247 । देखो वही, पृ 251, एड्गर्टन, वही, पृ 251 आदि, श्रीमती स्टीवन्सन, वही, पृ 77, टानी, वही, पृ 116 आदि, मैसूर आर्कियालोजिकल सर्वे, 1923, पृ 10 ।

4 विद्यासिद्धा आर्यखपुटा आचार्या ...मृगुकच्छे...बुद्धो निर्गत., पादयो पतित । —आवश्यक सूत्र पृ 411-412 । देखो झवेरी, वही और वही स्थान । 5 देखो वही, प्रस्ता पृ 19; श्रीमती स्टीवन्सन, वही, पृ 77-78 ।

6 देखो क्लाट, यही, पृ 247, हेमचन्द्र, परिशिष्टपर्वन्, सर्ग 12, श्लोक 311, 388; आवश्यक सूत्र, पृ 295 ।

7 क्लाट, वही, पृ 247, 251 । "(पादलिप्त) पालित्तसूरि पालीताणा की नीव से नि सन्देह सम्बन्धित है । झवेरी, वही, वही स्थान । 8 पादलिप्त ने पैरो मे औषधि लगाकर उडने की यह गगनवाहिनी विद्या प्राप्त की थी और वे रोज शत्रु जय, गिरनार या रेवतगिरि सहित पाच तीर्थो की यात्रा किया करते थे । —वही प्रस्ता पृ 11 । देखो टानी, वही, पृ 195 ।

9 श्रीमती स्टीवन्सन, वही, पृ 78, टिप्पण 1 । "नागार्जुन...पादलिप्तसूरि का शिष्य...स्वर्णसिद्धि प्राप्त करने को प्रयत्नशील था ।...आदि ।" —झवेरी, वही, प्रस्ता पृ 12 ।

भावड के पुत्र जावड ने उसका उद्धार कराया था।[1] जैन दन्तकथानुसार यह राजा और जावड दोनों पालीताणा यात्रा के लिए गए और दोनों वहां रहे उस अर्से मे उनने तीर्थ की रक्षा के लिए बहुत धन खर्च किया था।[2]

दक्षिण के साथ श्वेताम्बरों के सम्बन्ध के विषय मे कालक की भांति ही पदालिप्त की भी गणना होना चाहिए। हरिभद्रसूरि की सम्यक्त्वसप्तति में लिखा है कि ये महान् आचार्य मान्यखेट गए थे।[3] और इन सब स्थानों में 'सद्गुणी सम्पन्न जनसंघ' थे। इस प्रकार पादलिप्त और कालक की दन्तकथाएं स्पष्टतः सूचित करती हैं कि ई. पूर्व पहली शती में दक्षिण में श्वेताम्बर जैनों की ही प्रमुखता थी।[4] सम्यक्त्वसप्तति के अनुसार प्रतिष्ठानपुर का राजा शालिवाहन पादलिप्त को 'सब बुरी धार्मिक पद्धतियों' का अन्त कर देने वाला कहता है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि शालिवाहन भी पादलिप्त के ही सम्प्रदाय का यानि श्वेताम्बर जैन होना चाहिए।[5]

विक्रम सम्बन्धी इन सब बातों को विचार करते हुए कहा जा सकता है कि ये सब बहुतांश में पट्टावलियों पर ही आधारित हैं जो कि 'बहुत कुछ काल्पनिक और संदिग्ध है और जैनसंघ के आधुनिक गच्छों या उपभेदों द्वारा सुरक्षित रखी गई हैं।'[6] इसके सिवा इनका आधार वह साहित्य भी है जो उस काल का रचित है जिसकी हमारी प्रतिपाद्य अवधि से जरा भी मेल नहीं है। प्रश्न की बात यह है कि इन सब संयोगों पर से क्या हम इस निश्चय पर आ सकते हैं कि जैन दन्तकथा एकदम निराधार है और यह कि मध्यकालीन भारत के तथा कथित प्रख्यात वीरों में का यह विक्रमादित्य एकदम दन्तकथाओं का ही राजा है ?

इस सम्बन्ध में भिन्न भिन्न विद्वानों के मन्तव्यों की यथासम्भव सूक्ष्म परीक्षा एडगर्टन ने अपने ग्रंथ 'विक्रम्स एडवेंचर्स'[7] की प्रस्तावना में की है। उन मन्तव्यों के निरसन में प्रस्तुत किए इस विद्वान के तर्कों की पुनरावृत्ति किए बिना ही यह कहना पर्याप्त होगा कि विक्रमादित्य की बात को अलग रख दें तो भी प्राचीन भारत की अनेक व्यक्तियों के सम्बन्ध में निश्चय पूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता है हालांकि उनकी ऐतिहासिकता अभिलेखों या सिक्कों से आज निर्विवाद है। कोई भी कारण नहीं है कि इस हिन्दू आदर्श राजा '—सच्चे राजा के लिए अनुकरणीय आदर्श की सत्यता में अविश्वास किया जाए जब कि उसका आधार जैन और ब्राह्मण दोनों ही ग्रंथों में है। एडगर्टन के शब्दों में कहा जा सकता है कि ऐसा लगता है कि जैन युगप्रधानाचार्यों की सूचियां

---

1 जावड सौराष्ट्र के एक व्यापारी ने चीन और पूर्वी द्वीप समूहों को एक जहाजी बेड़ा भेजा था जो बारह वर्ष बाद सुवर्ण से लदा हुआ लौटा था। जावड का पिता विक्रम का समकालीन था।' —मजुमदार वही, पृ 65। देखो शत्रुंजय माहात्म्य सर्ग 14 गाथा 104 192 आदि पृ 808 816 आदि करारी वही प्रस्तावना पृ 19। 2 देखो शत्रुंजय माहात्म्य सर्ग 14 गाथा 280 पृ 824।

3 मान्यखेट या मान्य खेट आज का मालखेड़ा ही कहा जाता है जो कि निजाम राज्य में है। —डेज ज्योग्राफिकल डिक्शनरी पृ 126। यह मालखेड़ा या मान्यखेट जहां पादलिप्तसूरि गए थे, परवर्ती सदियों में राष्ट्रकूटों की राजधानी रूप में प्रख्यात हो गया था कि जिनमें जैनधर्म के संरक्षक और मानने वाले राजा कुछ ही नहीं थे।

4 सम्यक्त्वसप्तति गाथा 96, 97। देखो मैसूर आर्कियालोजिकल रिपोर्ट 1923 पृ 10-11। 'शासन का अधिष्ठान सम्बद पादलिप्तसूरि मान्यखेटपुर में ही रहे थे। —झवेरी वही प्रस्तावना पृ 10।

5 सम्यक्त्वसप्तति, गाथा 158। देखो मआरि 1923 पृ 11 झवेरी वही प्रस्तावना पृ 11।

6 चार्पेंटियर वही, पृ 167।

7 एडगर्टन वही। प्रस्तावना पृ 58 आदि।

याने पट्टावलियो भारतीय इतिहास के अन्य साधनो जितनी ही सत्य और विश्वस्त है ऐसा कहना निःसन्देह अतिशयोक्तिक नही माना जाना चाहिए)...मुझे यह ज्ञात नही है कि जैनो के इतिवृत्तो को विलकुल ही अमान्य कर देने का कोई भी निश्चित और सुस्पष्ट कारण है और यह सुस्पष्ट कह देने का कि विक्रम नाम का कोई राजा ई पूर्व 57 वर्ष मे हुआ ही नही था। क्या हम उस सदी का इतिहास पर्याप्त जानते है कि जिससे हम यह कह सके कि मालवा को स्थानीय उन नामो मे मे किसी भी नाम के राजा ने कि जिनसे विक्रम पहचाना जाता है, मध्यभारत मे अपना राज्य इतना व्यापक नही कर लिया होगा (हालाकि हिन्दू अतिशयोक्तिया उसे सार्वभौम चक्रवर्ती ही मानती हे परन्तु वैसा सर्वभौम उसे स्वीकार करने की हमे जरा भी आवश्यकता नही है ?"[1]

एड्गर्टन के सिवा अन्य विद्वान जैसे कि व्हूलर और टानी भी जैन इतिवृत्तो की ऐतिहासिकता की रक्षा करते है। डॉ. व्हूलर कहता हे कि "विशेषरूप से यह स्वीकार करना ही चाहिए कि प्राचीन और हाल की वर्णनात्मक कथाओ की व्यक्तिया यथार्थ ही ऐतिहासिक हैं। यद्यपि कभी कभी ऐसा भी हुआ हे कि कोई व्यक्ति जिस समय वह हुआ उससे पूर्व अथवा परवर्ती काल मे रख दी गई हो और उसके विषय मे कितनी ही एकदम अमभवसी वातें कह दी गई हे, फिर भी ऐसी बात कोई नही है कि जिससे हम निश्चयता से यह कह सकें कि इन वृत्तो मे उल्लिखित व्यक्ति एकदम काल्पनिक ही है। पक्षान्तर मे, प्रत्येक प्राप्त होने वाला नया शिलालेख प्रत्येक प्राचीन पुस्तक सग्रह और प्रत्येक यथार्थत ऐतिहासिक ग्रन्थ जो प्रकाश मे आता है, उनमे वर्णित एक या दूसरे व्यक्ति के अस्तित्व का समर्थन ही मिलता है। इसी प्रकार उनकी दी हुई तिथिया भी हमारी विशेष सावधानी की अपेक्षा रखती है। इस वर्ग के दो ग्रन्थो से उनका जव समर्थन हो जो कि एक दूसरे से विलकुल ही स्वतन्त्र हे तो विना हिचकिचाहट के उन्हे ऐतिहासिकरूप से सत्य मान लेना ही उचित है।"[2]

डॉ. स्टेन कोनेव तो इससे भी बढकर कहता है कि "विक्रम की दन्तकथाओ के प्रति अब विद्वान न्यून उपेक्षा रखने वाले होते जा रहे हैं। वह महान् सन्त 'कालकाचार्य-कथानक' को और उसके अजमानादि की बातो का उचित ही स्वागत करता है। उसके शब्द ही इस सम्बन्ध मे उद्धृत करना ठीक है। वह कहता है कि "मैं जानता हू कि अनेक यूरोपीयन विद्वान, यद्यपि उनमे से अधिकाश भारतीय दन्तकथा को ससम्मान वर्णन करते है, फिर भी सामान्यतया उनका कोई विचार ही नही करते हैं। परन्तु ऐसा उनके करने का कारण मेरी समझ मे ही नही आता है। कालकाचार्य-कथानक के वृत्तात को अविश्वास हम करें इसका मुझे कोई भी कारण नही मालूम देता है। मैं ने अन्यत्र यह सिद्ध किया है कि प्राचीन काल मे मालवा मे राजा विक्रमादित्य का होना मानने के हमारे सामने अनेक कारण हैं," आदि।[3]

इस प्रकार शार्पेटियर, एड्गर्टन, व्हूलर, टानी और स्टेन कोनोव के प्रमाणानुसार हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि जैनो का दन्तकथा साहित्य ऐतिहासिक माने जाने का यथार्थत अधिकारी है, और विक्रम और उसके सम्वत् की वास्तविकता अस्वीकृत नही की जानी चाहिए। विंसेट स्मिथ का आधुनिकतम मत भी कुछ ऐसा ही है क्योकि वह कहता है कि "ऐसा कोई राजा हुआ हो, यह सम्भव है।"[4] फिर, जैसा कि हम पहले ही देख आए है, अवन्ती अथवा मालवा का राज्य महावीर के दिनो मे भी जैनधर्म का केन्द्र रहा था। मौर्यो के समय मे वह और भी अधिकाधिक आगे आया और अन्त मे उनके अन्तिम दिनो के पश्चात् जैन जैसे धीरे-धीरे मगध राज्य

---

1 वही पृ 64।

2. व्हूलर, उवेर डास लेवेन डेस जैन-मूंकस हेमचन्द्र पृ 6। देखो टानी, वही, प्रस्ता पृ 6-7, वही, पृ 5 आदि।

3 कोनोव, वही, पृ 294। 4. स्मिथ आक्सफर्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ. 151।

से अपना स्थान खाते गए वैसे ही भारत के पश्चिमी प्रदेशों में प्रवासी होते गए, जहां वे स्थायी रूप से बस गए और उनकी वह बसाहट वहां आज तक कायम है।[1] इसमें सन्देह नहीं कि उत्तर भारत के जनधर्म के उस काल के इतिहास में कलिंग का अपना ही खास योगदान है परन्तु फिर भी जैनों की तब सामान्य वृत्ति पश्चिम की ओर हो गई थी और ई. पूर्व दूसरी सदी के मध्य में जिस दूसरे स्थान में जैनों की बस्ती सुदृढ़ जम रही थी वह मथुरा था। चन्द्रगुप्त के दिनों में और उसके पश्चात् सम्प्रति और खारवेल के दिनों में भी जैनों का फैलाव असाधारण रूप से वीर्यवान रहा हो ऐसा लगता है। इन महान् सम्राटों के धार्मिक दृष्टिकोण और भावों की बात जाने भी दें तो भी जैनों के असाधारण वीर्यवान प्रसारण की साक्षी हमें उन अनेक जैन कुलों और शाखाओं में मिलती है कि जिनके जैनधर्म में होने का हमें ई. पूर्व लगभग दूसरी सदी से प्रारम्भ होने वाले की तिथियों के मथुरा के शिलालेखों से परिचय मिलता है।

मथुरा के ये शिलालेख हमें उत्तरी भारत के इण्डोसिथियन राज्य काल तक ले आते हैं। हम यह तो देख ही आए हैं कि चन्द्रगुप्त ने अपने को मसीडोनी जूडे के नीचे कराहते रहे उन भारतीयों का नेता बना लिया था और अलेक्जेण्डर के प्रयाणगमन पश्चात् उसकी सेना को हरा कर भारत के गले पर से दासता का वह जूड़ा दूर कर दिया था। अलेक्जेण्डर के प्रयाणगमन पश्चात् ही देश में कैसी घटनाएं घटीं इसका स्पष्ट परिचय हमें नहीं है। 'महान् अलेक्जेण्डर की मृत्यु के पश्चात् तुरन्त ही भारत की घटनाओं ने क्या मार्ग लिया था उस पर अंधकार का घनाकोहरा छाया हुआ है।'[2] फिर भी इतना तो निश्चित ही है कि उसकी मृत्यु के लगभग एक सदी पश्चात् तक मौर्य सम्राटों की सुदृढ़ बाहुओं ने भारत को भारतियों के लिए सभी आक्रान्तों से बचाए रखा था और उनके यवन पड़ोसियों के साथ भी समान बर्ताव ही किया गया था।[3]

मौर्यों के पश्चात् मगध का ब्राह्मण सुंगों का राजतन्त्र और उत्तर पश्चिम का ग्रीक तब खारवेल के नेतृत्व में हुए चेदियों के प्रचण्ड आक्रमणों के सामने झुकते जा रहे थे, यह हम देख आए हैं। डिमिट्रियस और युक्रेटिडस की आपसी लड़ाइयों ने ग्रीक शक्ति को कितनी निर्बल बना दिया था कि यह भी हम उल्लेख कर चुके हैं। बैक्ट्रिया के यवनों व अन्य भारतीय दुश्मनों का और सुंगों के विरुद्ध किए सातवाहनों के प्रचण्ड आक्रमणों का विचार करने का हमारा कोई इरादा नहीं है। परन्तु इतिहास की सलंगता की दृष्टि से इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि 'ई. पूर्व दूसरी और पहली सदी में काफिरस्तान और गंधार के भागों में यवनों का राज्य उत्थापित होकर उनके स्थान में शकों का राज्य स्थापित हो गया था।[4] रेप्सन के शब्दों में भारत की राजनैतिक विच्छिन्नता, सिथियनों द्वारा ई. पूर्व लगभग 135 में बैक्ट्रिया की विजय से और रोम एवम् पार्थिया के सम्बन्ध संघर्ष से जिसका कि प्रारम्भ ई. पूर्व 53 में हुआ था समाप्त हो चुकी थी।[5] इन शक राजों में के एक मुरुण्ड नाम के राजा के साथ पादलिप्ताचार्य का प्रगाढ़ परिचय था। जैनों के कथा साहित्य के अनुसार यह मुरुण्ड पाटलीपुत्र का राजा हो ऐसा लगता है। उसके दरबार में पादलिप्त का प्रभाव पूरा पूरा जमा हुआ था।[6] इस महान् आचार्य ने इस

---

1 देखो शार्पेंटियर वही और वही स्थान। 2 मैक्रिडायेल्ट केहिइ, भाग 1 पृ 427।

3 देखो स्मिथ अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ 253।

4 रायचौधरी, वही पृ 273। 5 रेप्सन केहिइ, भाग 1, पृ 60।

6 पाटलीपुरे राजास्ति मुरुण्डो नाम स हुताशं करणा नृप सूरेबलिम्य प्रादाना प्रणामकृद्ध रवेरिव।— प्रभावकचरित, पादलिप्तप्रबंध श्लोक 44, 61। देखो सम्यक्त्व सप्तति गाथा 48 भावनगर, 1923 पृ 11 भवेरी वही प्रस्ता पृ 80।

राजा की भयकर शिरपीडा को शात किया था प्रभावकचरित नामक ग्रन्थ मे इस घटना का इन शब्दो मे वर्णन किया गया है,—

'पादलिप्त ज्यो ही अपनी अगुली उसके घुटने पर लगाते है कि तुरन्त ही राजा मुरण्ड की शिरोवेदना दूर हो जाती है ।'[1]

बैक्ट्रिया के सिथियन (शक) आक्रामको के बाद यूची आए । जब ई. पहली सदी मे इन यूचियो के प्रमुख कबीलो, कुषाण, ने तुर्किस्तान और बैक्ट्रिया सहित उत्तर-पश्चिम भारत तक अपना साम्राज्य विस्तार कर लिया तो यह कुषाण साम्राज्य भारत और चीन के बीच मे शृंखला रूप हो गया और आपसी व्यवहार का एक सफल साधन भी वह बना जिसका परिणाम लाभप्रद ही हुआ । पिछले कुछ वर्षो की खोजो ने प्रमाणित कर दिया है कि भारतीय सस्कृति, भारतीय भाषा और भारतीय अक्षर चीनी तुर्किस्तान मे स्थापित हो गए थे । और ना त्रि. महत्ता के शब्दो मे फिर कहे तो चीनी तुर्किस्तान के गुहा-मन्दिरो के चित्र-कार्य मे जैन विषयो का उपयोग किया गया है । भारतीय सामान्य इतिहास की इस रूपरेखा के बाद मथुरा के शिलालेखो की ओर हम आए और जैनधर्म के साथ उनके सम्बन्ध के महत्व की परीक्षा करे । कनिंघम के निम्न शब्दो की अपेक्षा उनका ऐतिहासिक महत्व दूसरा कोई भी अच्छी तरह से नही बता सकता है.—इन शिलालेखो से मिलने वाले तथ्य भारतीय प्राचीन इतिहास के लिए विशेष महत्व के है । इन सह लेखो का सामान्य अभिप्राय एक ही है याने अमुक व्यक्तियो द्वारा अपने धर्म की प्रतिष्ठार्थक लिए, और अपने एवम् अपने माता-पिताओ के लाभार्थ दिए दानो-भेटो का अभिलेख करना । जहा शिलालेख केवल इस साधारण बात का ही विज्ञापन करता हो तो उसका कुछ महत्व नही होता, परन्तु जब इन मथुरा के अभिलेखो मे, जैसा कि अधिकाश मे देखा जाता है, दाताओ ने उस काल मे राज्य करते राजा का नाम, दान देने की तिथि और सम्वत् दे दिए है, वहा ये नष्ट इतिहास के रूपरेखा पृष्ठो की वस्तुत उतनी ही पूर्ति कर देते है ।[2] जो सीधी सूचना इनसे प्राप्त होती है, वह एक प्राचीन एवम् अति महत्व के युग की-याने ईसवी सन् के प्रारम्भ के कुछ ही पूर्व और परवर्ती काल की है जब कि, जैसा कि हम चीनी आधारो से जानते है, भण्डो-सिथियनो ने समस्त उत्तर-भारत को जीत लिया था हालाकि उनके विजित क्षेत्र का विस्तार बिल्कुल ही अज्ञात है । इसलिए इन उपलब्ध शिलालेखो का महत्व यह है कि हमे इनसे पता लगता है कि मथुरा पर स्थाई अधिकार सम्वत् 9 के कुछ ही पूर्व हो गया था जबकि भण्डो-सिथियन राजा कनिष्क उत्तर-पश्चिमी भारत वर्ष और पजाब पर राज्य करता था ।'[3]

मथुरा के अनेक जैन शिलालेख ककाली टीले से ही प्राप्त हुए है जो कि कटरा से आधी मील दूर दक्षिण मे है । कटरा मथुरा के पुराने किले से पश्चिम की ओर एक मील पर है । यह ककाली टीला बहुत फैला हुआ रहा हो ऐसा लगता है । इससे प्राप्त हुई सभी आकार बडी से बडी औरउससे छोटी, की मूर्तियो की सख्या को जेल टेकरी से प्राप्त बौद्ध मूर्तियो की सख्या हालाकि वे भी बहुत है फिर भी, नही पहुची है ।[4] आज जहा वह टीला है,

---

1 प्रभावक चरित, श्लोक 59 । देखो सम्यक्त्व–सप्तति, गाथा 62, मैंआर, 1923, वही और वही स्थान ।

2 मथुरा के बौद्धधर्म के शिलालेख भी शैली और विषय मे जैनो के शिलालेखो जैसे ही है । देखो डासन, राएसो पत्रिका (नई माला), स 5 पृ 182 । 3 कनिंघम, आसइ, पुस्त 3, पृ 38-39 ।

4. देखो वही, पृ 46 । "ककाली टीला क्या तो मूर्तियो मे और क्या शिलालेखो मे बहुत ही उर्वर रहा है और ये सब...विशुद्ध जैन स्मारक है । ऊचाई की भूमि पर एक बडा जम्बू स्वामी का उत्सर्गित जैन मन्दिर है... उस स्थान पर वार्षिक मेला लगा करता है... —वही, पृ 19 । यह मन्दिर चौरासी टीले के निकट है कि जो स्वयम् एक अन्य जैन स्थापत्य का स्थान है ।" —देखो वही पुस्त. 17 पृ 112 ।

वहा किसी समय दो भव्य मन्दिर रहे होंगे। अनक लेख तो खडी और बैठी नग्न मूर्तिया के पादपीठ पर खुदे हुए हैं जिनम से कुछ मूर्तिया चौमुखी यानि चतुमु ख हैं। डॉ ब्हूलरे के अनुसार नीचे का लेख उनमे प्राचीनतम है।

समनस माहरक्षितास आतेवासिस वछीपुत्स सावकास (श्रावकास) उत्तरदामक पासादोतोरन ॥ "महारक्षित (माघरक्षित) मुनि के शिष्य वछी के पुत्र (वात्सी माता और) श्रावक उत्तरदामक (उत्तरदासक) के मन्दिर के उपयोग के लिए प्रासाद तोरण (भेंट)।"[1]

एक दम प्राचीन अक्षर और अन्य भाषायी विशिष्टताओं के कारण वह विद्वान मानता है कि यह लेख ईसवी पूव दूसरी शती के मध्य का होना चाहिए। इसके परवर्ती काल म वे दो शिलालेख प्राप्त हैं कि जिनका सम्बन्ध मथुरा के महत्रपा स है। इनम से एक तो पूण है और दूसरा 'भा' से प्रारम्भ होने वाले किसी क्षत्रप महाराज का नाम मात्र देता है।[3] पहला शिलालेख महाक्षत्रप शोडास क 42वें वष और हेमन्त ऋतु के दूसरे महीने का है। इसम अमोहिनी नाम की किसी स्त्री क पूजा की शिला उत्सर्गित कराए जाने का उल्लेख ह।[4] इस लेख म किस सम्वत् का उपयोग किया गया है यह स्पष्ट नही है।

कंकाली टीले के इसी राजा के नाम वाले दूसरे शिलालेख पर म महाक्षत्रप शोडास का पता सबस पहले कनिंघम न खोज निकाला था।[5] आजेज (Azes) के सिक्कों से मिलत जुलत इसके सिक्को पर स उस विद्वान ने इसका समय लगभग 80-57 ई पूव माना था और यह अनुमान लगाया था कि वह मथुरा के दूसरे क्षत्रप राजुबल अथवा रजुबल का ही पुत्र हो।[6] इस अनुमान का समथन मथुरा के सिहध्वज से भी होता है कि शोडास को छत्रव (क्षत्रप) और महाछत्रव राजुल (रजुदुल) का पुत्र कहता है।[7] प्रो रेप्सन कहता है कि महा क्षत्रप राजूल जिसका दूसरे लेखो मे राजुबल नाम भी मिलता है निःसंदेह ही वह रजुबुल है कि जिसने पूव पजाब म राज्य करते हुए यवनराज स्ट्रेटो I म और स्ट्रेटोश्य की नकल क्षत्रप और महाक्षत्रप नाम से सिक्के पाडे थे। वह शोडास का पिता था कि जिसके समय मे इस स्मारक का निर्माण हुआ था। इसके बाद मथुरा की अमाहिनीवाली शिला में शोटास स्वयम् महा क्षत्रप रूप से उल्लिखित है और उसका समय 42 वें वष की हेमन्त ऋतु का दूसरा महीना है।"[8]

शिलालेख म किस सवत् का उल्लेख हुआ ह इस सम्बन्ध म मत विभिन्नता ह[9] परन्तु जिस शली स इसम तिथि दी गई ह उससे यह बहुत ही सम्भव प्रतीत होता है कि उसम किसी भारतीय सवत् का ही प्रयोग हुआ है।[10] यदि यह मान्य हो जैसा कि सम्भव लगता है तो वह विक्रम सवत् ही (ई पूव 57) है और इसलिए शिलालेख

---

1 ब्हूलर एपी इण्डि पुस्त 2 लेख स 1 प 198–199। 2 वही, प 195।

3 देखो ब्हूलर, एपी इण्डि पुस्त 2 लेख स 3, प 199।

4 देखो वही लेख 2, प 199। 5 देखो कनिंघम, वही प 30 लेख स 1।

6 देखो वही प 40–41। रजुबुल रजुवुल या राजूला का परिचय शिलालेखा और सिक्का दोना स ही मिलता ह। मथुरा क निकटस्थ मारा के ब्राह्मी अक्षरो क एक शिलालेख मे उसे महाक्षत्रप कहा गया है। परन्तु ग्रीक दन्तकथा उसके कुछ सिक्को पर उस राजा का राजा, रक्षक' कहती हुई यह बताती है कि सम्भवत उसन अपनी स्वतन्त्र सत्ता घोषित कर दी थी। –रायचौधरी वही प 283।

7 वही। 8 रेप्सन, कहिइ भाग 1 प 575।

9 देखो रायचौधरी, वही प 283 आदि, स्मिथ, वही पृ 241, टि 1।

10 देखो रेप्सन, वही प 575-576।

की तिथि ई पूर्व 16-15 होना चाहिए डा कोनोव ने शोडास के शिलालेख मे विक्रम सवत् उल्लिखित किए जाने के वास्तविक कारण दिखाए है ।[1] उसका कहना है कि 'मुझे लगता है कि उस समय तक चार महीनो की एक ऋतु और तीन ऋतुओ के अनुसार तिथि देने की पद्धति ही बाद मे विक्रम सवत् का खास लक्षण माना जाने लगा था । प्राचीनतम शिलालेखो से जिनमे कि इस सवत् का उल्लेख है, सूचित होता है कि वह मालव सम्वत् कहा गया है । इस सम्वत् के प्रयोग के दो प्राचीनतम उदाहरण याने-नरवर्मन काल के मन्दसोर के और दूसरे कुमार-गुप्त 1म काल की वही के लेख मे ऋतुए स्पष्ट रूप से दी गई है । इस प्रकार मै मानता हू कि शोडास ने अपने शिलालेख मे विक्रम सवत का ही व्यवहार किया है और यही सम्वत् कनिष्क और उसके वशजो ने समस्त भारत वर्ष की अपनी तिथियो के लिए स्वीकार किया है क्योकि प्रजाकीय गणना के लिए उत्तर-भारत मे वही सम्वत व्यवहृत होता था ।'[2]

इन दो क्षत्रप शिलालेखो के बाद वैसे शिलालेखो का समूह आता है जिन्हे 'आर्ष' (Archaic) शीर्षक के नीचे वर्णित किया गया है और जो व्हूलर के अनुसार कनिष्क के पूर्व के युग या काल के है ।[3] उन मे से नीचे का एक उल्लेख योग्य है :—

'अर्हत् वर्धमान को नमस्कार शको और पार्थियो को काले नाग के समान गोतिपुत्र (गुप्तिपुत्र) की कौशिक गोत्र की पत्नि शिवमित्रा ने पूजा की एक शिला कराई थी ।[4]

डा. व्हूलर के अनुसार गोतिपुत्र और कौशिक शिवमित्रा दोनो ही राजकुल के थे, और 'गोतीपुत्र, पार्थियो और शको को एक काले नाग के समान' वाक्य उसके वीर जाति के होने की सूचना देते हैं । वह विद्वान कहता है कि 'इससे जिन युद्धो का निर्देश होता है वे या तो कनिष्क के पूर्व सिथियनो ने मथुरा जीता उसके पूर्व के हो अथवा उनकी सत्ता हट जाने के बाद के भी हो सकते है । लेख के अक्षर जो कि विशेष रूप से पुरानी परिपाटी के है और सम्भवतया ई पूर्व 1ली सदी के हो सकते है, पहले विकल्प का पक्ष ही समर्थन करते है । यदि शिलालेख सिथियन विजय से पहले का लिखा हुआ हो तो वह जैन मन्दिर की प्राचीनता का मूल्यवान प्रमाण भी प्रस्तुत करता है जहा कि लेख उपलब्ध हुआ था ।'[5]

इनके बाद कालक्रमानुसारी लेखो का वह समूह आता है कि जिनमे तिथिया दी है और जो कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव का उल्लेख करते है । इनके अतिरिक्त भी तिथि वाले लेख है जिन्हे भी उन्ही के समय का कहा जाता है हालाकि उनमे उक्त कुषाण राजो मे से किसी के नाम का उल्लेख नही हुआ है ।' स 11 से 24 के लेखो का समूह', डा व्हूलर कहता है कि,' भी तिथि वाले लेखो का है कि जो मेरी राय मे कनिष्क, हुविष्क, और वासुदेव के काल के ही है । परन्तु उनमे से एक मे भी राजा का नाम नही दिया हुआ है । फिर भी मेरा विश्वास है कि जो कोई इन राजो के नाम वाले तिथ्याकित लेखो से सावधनी के साथ उन्हे मिलाएगा, वह किसी अन्य निष्कर्ष पर नही आएगा ।'[6]

ये तिथीवाले कुषाण लेख सम्वत् 4 से सम्वत् 98 की ज्ञात सीमा के हैं ।[7] यह सम्वत विक्रम है या अन्य कोई, यह ठीक ठीक कहना सम्भव नही है । "इस युग की काल गणना भारतीय इतिहास की अत्यधिक उलझी हुई समस्या रही है और अब भी इसका कोई हल निकल आया हो ऐसा नही कहा जा सकता है । कहने का

---

1 देखो कोनोव, एपी. इण्डि, पुस्त 14, पृ 139-141 । 2 देखो कोनोव-वही, पृ 139, 141 ।
3 व्हूलर, वही, पुस्त 2, लेख स 4-10, पृ, 196 । 4 वही, लेख, स 23, पृ. 396 ।
5 वही, पृ 394 । 6 व्हूलर, एपी इण्डि, पुस्त 196 । 7 देखो वही, कनिघम- वही, पृ 14 ।

तापय वन न कि अनुमानी आज भी शका स्पष्ट ही है। [1] कुषाण काल गणना की महत्वपूर्ण बात के विषय म आज बहुत मत विभिन्न उठता ह।[2] फिर भी अनेक मनीषी व विद्वानो क साथ हम भी कह सकते ह कि उन लेखो म प्रयुक्त सम्वत् ई 78 स प्रारम्भ होने वाला शक सम्वत ही है।[3]

कंकाली टील का जन पादपीठ को एक शिलालेख इस प्रकार का ह—

सिद्ध महाराजस्य कनिष्कस्य सवत्सर नवमे मास प्रथ दिवस 5," आदि[4] यद्यपि शोडास और अ य कुषाण शिलालेखो की भाति एवम् प्राचीन मालव विक्रम सवत् का रीति अनुसार यहाँ भी ऋतु, मास और दिन क्रमानुसार का तिथि उल्लेख करने की भारतवष की प्राचीन पद्धति ही हम दखत है फिर भी ऐसा नही कहा जा सकता ह कि कुषाण राजा ने किसी भी समय म शक सम्वत् का उपयोग नहीं किया था। पक्षान्तर म प्राचीन विक्रम सवत की इस लोकप्रियता का कनिष्क और उसके उत्तराधिकारियो न अपने ब्राह्मीलिपि अभिलेखो म उपयोग किया हो तो वह कुछ भी अनहोनी बात नहीं है और हम यह जानत ही ह कि कुषाणो म एक राजा का नाम वासुदेव था जो कि विशुद्ध भारतीय नाम ह।[6]

फिर कुषाणो क सम्बन्ध म विक्रम सवत् स्वीकार कर लेन स मथुरा क क्षत्रपो के उत्तराधिकारियो की स्थिति का निश्चय करना कठिन हो जाता ह। हमारी यह कठिनाई उस समय और भी बढ जाती है जब कि हम जानते हैं कि कनिष्कवशजो क समय म मथुरा भी उसी एक साम्राज्य का अश था।[7] अन्त म तक्षशिला के प्राचीन खण्डहरो की खुदाई म सर जाहन मार्शल को मिल अवशेषो स यह निश्चित होता ह कि कनिष्क का समय ईसवी पहली सदी क अन्त का होना चाहिए और इसका चीनी इतिहासकारो की गणना स तुलना करते हुए और उसके साथ इन शिलालेखो की तिथि का मेल बिठाते यह निश्चय होता ह कि ईसवी 78 म प्रारम्भ होता प्रख्यात शक सम्वत् कनिष्क न प्रचलन किया ही होगा।[8] इस प्रकार कुषाण शिलालेखो म निर्दिष्ट सवत् 4 स 98 का समय ई लगभग 82 स 176 का आता है।

कुषाण शिलालेखो म के दो विशेष रूप स उल्लखनीय ह। इनम का एक साम्प्रदायिक इतिहास की दृष्टि स अत्यन्त महत्व का ह जो इस प्रकार है —

79 वष की वर्षा ऋतु क चौथ महीन क बीसव दिन की स्त्री आविका दिना (दत्ता) द्वारा भेट की गई मूर्ति देवो क निर्मित बौद्ध स्तूप म स्थापना की गई थी।[9]

---

1 स्मिन वही प 583।

2 कनिष्क क काल सम्बन्धी विभिन्न मतो क लिए देखो रायचौधरी वही प 295 आदि।

3 फग्युसन ओल्डनबग टामस, बनरजी स्मिथ आदि विद्वानो क अनुसार कनि क न ई 78 म प्रारम्भ होने वाले सम्वत् को जो पीछे शक सम्वत् कहलाया प्रचलन किया था। —वही प 297; देखो हरताली उवासगदसाओ प्रस्ता पृ 11। इस बात म बहुत मतभेद ह कि शक सम्वत का प्रवतक वास्तव म कौन था यद्यपि यह तो निश्चित भी है कि कोई विदेशी जाति ही इसका प्रवतक होना चाहिए। जसा कि प ओझा कहते हैं कि इस सम्वत क चलाने वाला व्यक्ति इसका निर्विवाद रूप स निर्देशन करना रहा ह देखो ओझा प्राचीन लिपिमाला 2 य सस्करण प 172-173। 4 कनिंघम वही सग्र भ 4 प्लेट 13, पृ 31।

5 सोनाथ गुप्त प 141। 6 देखो कनिंघम वही प 41।

7 देखो रायचौधरी, वही, प 284। 8 रेप्सन वही, प 583।

9 क नर वही लेख स 20, पृ 204।

इस शिलालेख पर से हम देख सकते हैं कि मथुरा मे एक प्राचीन स्तूप था जो व्हूलर के अनुसार ई 157 (शक 79) मे देव-निर्मित माना जाता था अर्थात् वह इतना प्राचीन था कि उसके निर्माण की सत्य कथा ही भुला गई थी ।[1] दूसरा शिलालेख कुषाण राजो के इतिहास के लिए महत्व का है । इसमे 'महाराज देवपुत्र हुक्ष (हुष्क या हुविष्क)'[2] का नाम है । इससे हम निश्चय ही जान सकते हैं कि राजतरंगिणी मे उल्लिखित और काश्मीरी गाव उष्कर हुष्कपुर के नाम मे सुरक्षित हुष्क शब्द सत्य ही प्राचीन समय मे हुविष्क के पर्याय रूप ही प्रयोग होता था ।[3]

इन कुषाण शिलालेखो के बाद कालक्रम से कोई तीन शिलालेख आते हैं जो डा व्हूलर के अनुसार गुप्त-काल के है ।[4] एक अन्य शिलालेख जो वहा मिला है, वह ई 11वी सदी का[5] है । इस प्रकार लगातार लगभग एक हजार वर्ष से कुछ अधिक जैनो का धार्मिक केन्द्र-स्थल रूप से मथुरा रहा लगता है ।[6] गुप्तकाल के शिलालेखो की चर्चा हम आगे के लिए छोड देते हैं । जहा कि उस काल मे जैनधर्म की स्थिति का विस्तार से विचार किया जाएगा । यहा तो इन सब शिलालेखो की जैनधर्म के इतिहास की दृष्टि से क्या उपयोगिता है, इसी का विचार करेंगे क्योकि राजकीय दृष्टि से तो विचार इनका ऊपर हो ही गया है । इस दृष्टि से इन लेखो की महत्ता दो प्रकार या कारणो से है । पहली तो जैनधर्म या जैनसघ के इतिहास के विशिष्ट भावो की दृष्टि से और दूसरा उत्तरीय जैनो के इतिहास की सामान्य महत्ता की दृष्टि से ।

पहला कारण ही हम ले । इस सम्बन्ध मे दो बाते हमारा ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करती है । एक तो यह कि अन्तिम तीर्थ कर के अतिरिक्त अन्य तीर्थ करो को इनमे नमस्कार किया गया या अजलि अर्पित की गई है, दूसरा यह कि शिलालेखो मे एक से अधिक तीर्थ करो का उल्लेख है । पार्श्व और उनके पुरोगामी तीर्थ करो की ऐतिहासिकता का विचार करते हुए इसका विचार किया ही जा चुका है । फिर, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कुछ अभिलेख इस प्रकार समाप्त होते है 'सर्व प्राणियो के कल्याण और सुख के लिए हो ।' जैन अहिंसा के आदर्श का विचार करते हुए इसका निर्देश कर ही चुके है इन कुछ बातो के अतिरिक्त कि जिनकी विवेचना पहले की जा चुकी है, इन मथुरा के शिलालेखो सम्बन्धी अत्यन्त महत्व की बात यह है कि इनमे जैन साध्वियो के नाम एवम् उनकी महान् प्रवृत्तियो का भी निर्देश है ।[7] इसमे जरा भी शका नही की जा सकती है कि आर्या सगमिका और आर्या वसुला कि जिनका नाम निम्न शिलालेख मे आया है, साध्विया ही है ...अयसिङ्गमिकये शिशीनिन अर्यावसुलये निर्वर्तन.. आदि । (पूज्य सगमिका की शिष्या पूज्य वसुला के उपदेश से...) ।[8] यह बात उनकी उपाधि 'अर्या' (पूज्य), उनकी शिशीनि (शिष्या) और वक्तव्य मे उनके निर्वर्तन याने मागने अथवा उपदेश से दिया गया दान, पर से स्वत सिद्ध होता है । इतना निश्चय हो जाने पर यह मानने मे कठिनाई होती ही नही है कि मथुरा के शिलालेख वहा के जैनो मे साध्वियो का अस्तित्व बताते है ।

इस प्रकार श्वेताम्बर चतुर्विध सघ मे साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका का अस्तित्व ईसवी युग के प्रारम्भ

1, वही, पृ 198 । देखो शार्पेटियर, वही, पृ 167 । 2 व्हूलर, वही, लेख स 26, पृ 206 ।

3 वही, पृ 198 । 4 व्हूलर, वही, लेख स 38–40, पृ 188 ।

5 वही, स 41, पृ 198 । 6 देखो ग्राउजे, इण्डि एण्टी, पुस्त. 6, पृ 219 ।

7 व्हूलर, एपी इण्डि, पुस्त 1, लेख स 2, 5, 7, 12, 14, आदि, पृ 382, 384–386, 388–389 ।

8 वही, लेख स 2, पृ 382 ।

तक उनाया जा सकता है[1] और इसका समर्थन वह जन शिलालेख भी करता है कि जो कनिंघम को मथुरा म एक ? । शिला पर मिला था और जिसमें चतुवण सघ पढा जाता है।[2]

साध्वियो के अस्तित्व के विषय म विशिष्ट बात यह है कि कोई साध्वी किसी श्राविका को उपदेश करती मालूम होती ह । ऐसा यह एक ही उदाहरण मिला है । यहा साध्वी पूज्य कुमार मित्रा अपनी ससारी पुत्री कुमारभट्टि को वधमान की मूर्ति कराने का उपदेश देती है।[3] अन्य शिलालेखो मे साध्वियां सघ का श्राविकाओ का समष्टि रूप से ही दान देने की प्रेरणा करती हैं। उक्त कुमारमित्रा विधवा या सधवावस्था म पति के साथ ही साध्वी बनी यह कुछ भी नहा कहा जा सकता है क्योकि दोनो ही बातें सम्भव है । कदाचित् यह भी हो सकता ह कि उसने अपने पति की जीवितावस्था म अकेले ही उसको माता न दीक्षा दी हो ।[4] डा बूलर उसको विधवा मानता है और कहता है कि 'आज के समय म भी जन साध्वियो का अधिकांश भाग विधवाओ का ही होता है जो, बहुतरी जातियो के सामान्य नियमानुसार पुनर्विवाह नहीं कर सकती हैं और उन्हें सिर मुडी साध्वी बनाकर बडी सरलता से उद्धार के माग पर लगा दिया जाता है'।[5]

मथुरा के शिलालेखो म निर्देशित साधु कुलो और शाखाओ के सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उनमें कितने ही नाम ऐसे आए हैं कि जिनका जैनो की दन्तकथा साहित्य म आने वाले नामो के साथ मेल खा जाता है।[6] जन साधुओ के इन विभागो म अन्य शाखाओ की अपेक्षा कोट्टिय कोटिक गण के साधू ही मथुरा म अधिक सख्या म होंगे । डॉ बूलर के अनुसार 'यह द्रष्टव्य है कि यही एक गण चौदहवी सदी ईसवी तक परम्परागत चलता रहा था। उसकी इतनी दीर्घ आयु और उसकी शाखाओ की जैसी कि ब्रह्मदासिका कुल उच्चनागरी शाखा[7] और श्रीगृह सिला जाति आदि की दीर्घ आयु का लेख स 4 से समर्थन होता है। इस शिलालेख की अंतिम सम्भव तिथि सम्वत् 59 यानि ई सन् 128–129 है । तब वर्तमान पूज्य आचार्य सोह चार पुरानाम अपने गुरुओ का नाम गिनाते है जिनमे से सर्व प्रथम ईसवी काल के प्रारम्भ म ही हुए होंगे । यह गण जैसा कि लेख म प्रकट होता ह उस पुरातन काल म भी इतना विभक्त हो गया था और यह बात उसके ई पूर्व 250 म प्रारम्भ होने की दन्तकथा को पुष्ट करता है। [8]

---

1 यह विशिष्ट जन सिद्धान्त है कि श्रावक और श्राविकाएं भी जनसघ के भाग होते हैं। इस विषय म जैन वादो म वस्त हो स्पष्टतया विभिन्न हैं।

2 उक्त शिलालेख का हमारा अर्थान्तराकरण इस प्रकार है—नमो अरहतान नमो सिद्धान स 62 ग्र 3 दि 5 शिष्या चतुवर्णस्य समस्य वापिकाय द त्ति । यह अभिलेख स्पष्ट नहीं है । कुछ स्वर-सकेत और अक्षर ठीक ठीक पढ़े नहा जा सकते हैं। इसकी तिथि सम्वत् 9? है और इसमे कुल के विषय में सम्भवत चतुवर्ण समुदाय के लिए, कहा गया लगता ह । तिथ्यादि और दानादि अश बहुत-कुछ पठनीय है । दाता कोई स्त्री शिष्या सी लगती है लेख के लिए देखो कनिंघम आर्कियालोजिकल सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्ट, 20 मत स 6 प्लेट 13 । देखो बूलर वही, पृ 380।

3 देखो वही नम स 7 पृ 385 386 वही पृ 380 । 4 देखो उपयस इण्डि एण्टी पुस्त 13 पृ 278।

5 बूलर वही पृ 380 । 6 देखो वही पृ 378-379।

7 यह भौगोलिक नाम ऊचनगर के गढ के अनुरूप ही लगता है कि जो उत्तरप्रदेश के बुलन्दशहर म है । देखो कनिंघम आर्कियालाजिकल सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्ट 14 पृ 147।

8 बूलर वही पृ 379-389। देखो क्लाट, वही, इण्डि एण्टी पुस्त 11 पृ 246। कोट्टियगण के सम्प्रदायो की बात कुछ भी कठिनाई उपस्थित नहीं करती है क्योकि व सब कल्पसूत्र म दिए तदनुरूप नामों म मिलते हुए है। देखो याकोबी कल्पसूत्र प 82।

इन शिलालेखो की भाषा, शब्द और रूप, मिश्र अर्थात् अर्ध-प्राकृत-सस्कृत है । ऐसा होते हुए भी कुछ शिलालेख पाली शैली की विशुद्ध प्राकृत मे असिलिखित कहे जाते है । जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है उनमे अक्षर बहुत ही प्राचीन है और केवल इसी आधार पर उन्हे ई. पूर्व दूसरी और पहली सदी का माना जाता है । सर ए. कनिंघम सग्रह के कुछ शिलालेखो मे पूव्वीये या पूर्व्वये रूप जो कि जैन प्राकृत और महाराष्ट्री प्राकृत के हैं, प्रयुक्त हुए है ।[1] यह निश्चित रूप मे कुछ भी नही कहा जा सकता है कि इन अभिलेखो की भाषा को किसने प्रभावित किया था जब तक कि हमे ईसवी पहली और दूसरी सदी मे मध्य-भारत मे प्रयुक्त भाषा का ठीक-ठीक परिचय न हो । फिर भी ऐसा लगता है, जैसा कि डॉ बूहलर कहता है, कि "कितनी ही बातो मे वह पाली और अशोक के आज्ञापत्रो तथा आध्र के प्राचीन शिलालेखो की भाषा की अपेक्षा जैन प्राकृत और महाराष्ट्री के बहुत अनुरूप है ।"[2]

डा भण्डारकर[3] एवम् अन्य विद्वानो की भाति ही यह विद्वान भी इस मिश्र भाषा के मूल के विषय मे कहता है कि 'अर्धदग्ध प्रजा के लेखन-वाचन के परिणाम से ही ऐसा हुआ होगा क्योकि जिनको सस्कृत का अपूर्ण ज्ञान रहता था और इसीलिए जो उसे सामान्यतया प्रयोग करने के अभ्यासी नही थे, वे ही ऐसी भाषा लिख सकते हैं । इसमे शका ही नही है कि मथुरा के सब शिलालेख गुरुओ और उनके शिष्यो द्वारा लिखे गए है क्योकि किसी पर उनके लिखने वालो का कोई भी नाम नही है । परन्तु इस परिणाम पर हम इसलिए पहुचते है कि उसी प्रकार के परवर्ती अनेक अभिलेखो मे उन यतियो के नाम दिए गए है जिनने उनकी रचना की है या लिखे है । पहली और दूसरी सदी मे यतिलोग, जैसा कि आज भी करते है, अपने उपदेशो और धर्मशास्त्रो की व्याख्याओ मे समकालिक बोलचाल की लोकभाषा का प्रयोग ही करते थे और धर्मशास्त्र प्राकृत मे ही लिखते थे । यह स्वाभाविक ही था कि उनके सस्कृत लेखन के प्रयास अधिक सफल नही थे । इस सिद्धान्त का इस बात से प्रबल समर्थन होता है कि प्रत्येक अभिलेख मे प्राय: अपभ्र शो की सख्या और लक्षण असमान है और अनेक वाक्यो मे जैसे कि वाचकस्य आर्य्य-बलदिनस्य शिष्यो अर्या-मात्रिदिन तस्य निर्व्वर्त्तना, ऐसा ही प्रमाणित होता है । उक्त वाक्य का अतिमाश नए नवसिखिए की लिखावट ही लगता है ।"[4]

उत्तर-भारत के जैन इतिहास की दृष्टि से मथुरा के शिलालेख ई पूर्व तथा पश्चात् के इण्डो-सिथिक समय मे जैनधर्म की सम्पन्नावस्था के अचूक प्रमाण हैं, इससे इन्कार नही किया जा सकता है । महावीर और अन्य तीर्थकरो के मन्दिर एवम् प्रतिमाएँ बनाने वाली और उनको पूजने वाले चुस्त जैन समाज को अस्तित्व का ये सब लेख पूरा-पूरा भान कराते है । खारवेल के हाथी गुफा के शिलालेख के पश्चात् मथुरा का ककाली टीला ही हमे इस बात का सम्पूर्ण एव सन्तोष जनक प्रमाण प्रस्तुत करता है कि ईसवी युग के प्रारम्भ मे जैनधर्म भी बौद्धधर्म जितना ही महान् सम्पन्न और समृद्ध था ।

---

1 कनिंघम, आर्कियालोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया रिपोर्ट, स. 3, लेख स 2, 3, 7 और 11, पृ 30-33 ।

2 बूहलर, वही, पृ 376 । 3 देखो भण्डारकर, इण्डि एण्टी, पुस्त 12, पृ. 141 ।

4. बूहलर, वही, पृ 377 ।

छठा अध्याय

गुप्त काल में जैनधर्म की स्थिति

मथुरा के शिलालेख हमें बहुत कुछ कुषाण काल के अन्त तक ले आते हैं। इस समय की दन्तकथाएं, स्मारक और शिलालेख यह सिद्ध कर देते हैं कि जैनों की सत्ता उत्तर पश्चिमी भारत से लेकर दक्षिण में लगभग विन्ध्याचल तक और पामीर की घाटियों में दूर प्रदेशों तक में थी। कनिष्क के राज्य में और वासुदेव के समय में कुषाण सत्ता बिहार पर भी थी ऐसा मानने के पर्याप्त कारण हैं।[1] उत्तर भारत की यह सार्वभौम सत्ता वासुदेव के मरते ही टूट गई। कुषाण युग का यही अंतिम राजा था और इसकी अधीनता में भारतवर्ष का बहुत व्यापक क्षेत्र था।

स्मिथ कहता है कि यह तो स्पष्ट ही है कि कुषाण सेना वासुदेव के नम्र राज्यकाल के अन्त में निर्बल पड़ गई थी और उसकी मृत्यु के पूर्व अथवा पश्चात् ही तुरन्त पौर्वात्य साम्राज्यों की जो दशा सामान्यतया होती है वही कनिष्क के महान् साम्राज्य की भी हुई। अर्थात् थोड़े ही समय तक सुन्दर संगठन का अनुभव कर वह भिन्न भिन्न भागों में विभक्त हो गया। अनेक राजाओं ने अपनी स्वतन्त्रता का दावा किया और उनमें चाहे वह थोड़े ही समय के लिए हुआ हो परन्तु फिर भी अपने पृथक्-पृथक् राज्य स्थापित कर लिये। परन्तु तीसरी सदी के इतिहास के साधन एकदम ही अप्राप्य होने के कारण यह कहना प्रायः असम्भव है कि ये स्वतन्त्र राज्य कितने और कैसे थे ?[2]

तीसरी और चौथी सदी के प्रारम्भ में पंजाब के अतिरिक्त उत्तरीय भारतवर्ष के राज्य, वंशों का निश्चित् रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं है। कुषाण साम्राज्य के अवसान और गुप्त साम्राज्य के उद्गम के बीच की एक सदी का समय भारतवर्ष के इतिहास का अन्धकारतम अंतरिम काल है।[3] फिर भी गुप्तों के उदय के साथ ही अन्धकार का यह पर्दा उठ जाता है और भारतीय इतिहास एकता और एकता अनुभव करता है।

गुप्तों के आगमन के साथ ही मगध फिर आगे आता है। इतिहास में दो बार उसने साम्राज्य की स्थापना की, मौर्य साम्राज्य ई. पूर्व चौथी और तीसरी सदी में एवम् गुप्त साम्राज्य ई. चौथी और पांचवीं सदी में।[4] छठी सदी पहले के शशांक काल के साम्राज्य की स्थानीय सत्ता की अपेक्षा भी इस गुप्त साम्राज्य की सत्ता अधिक

---

1 देखो स्मिथ वही पृ 274 276 जायसवाल बिहार पत्रिका सं 6 पृ 22।

2 स्मिथ वही पृ 289 290।

3 यह काल प्रत्यक्षतया अत्यन्त उलझन का था यही नहीं अपितु उत्तर पश्चिम में विदेशी आक्रमण भी तब हो रहे थे। इस स्थिति का दिग्दर्शन आभीरों, गर्दभिल्लों, शकों, यवनों, बाह्लीकों और अन्य अख्यात राज्यवंशों के कि जिन्हें आंध्रों के उत्तराधिकारी बताया गया है, पुराणों के विभ्रान्त वर्णनों से होता है। वही, पृ 290।

4 रेप्सन वही, पृ 310।

थी । इसमे उत्तर भारत के अत्यन्त घनी बस्तीवाले और उर्वर प्रदेश सभी आ गए थे । पूर्व मे ब्रह्मपुत्र से लेकर पश्चिम मे जमना और चम्बल नदी तक, और उत्तर मे हिमालय की तलेटी से दक्षिण मे नर्मदा तक वह साम्राज्य फैला हुआ था । इस विस्तृत सीमा के आगे भी आसाम और गांगेय (डेल्टा) व द्वीप के सीमान्त प्रदेश और हिमालय की दक्षिणी ढाल के राज्य, एवम् राजपूताना और मालवा के स्वतन्त्र कबीले उस साम्राज्य से सहायक संधियो द्वारा सलग्न थे । पक्षान्तर मे दक्षिण के प्राय सारे राज्यो मे सम्राट की सेना छारखार कर उनमे अपनी सार्वभौम सत्ता और अपराजेय शक्ति मनवा आई थी ।[1]

गुप्त काल मे धर्म की स्थिति क्या थी इस विषय मे इतना तो निश्चित है कि इस वश के राजा प्रत्यक्षत ब्राह्मणधर्मी हिन्दू थे और उनकी विष्णु के प्रति विशिष्ट भक्ति थी । परन्तु वे भी सर्व धर्म के प्रति आदर की प्राचीन भारत की रूढि का ही पालन करते थे । विशेष प्रीति नही होते हुए भी बौद्ध एवम् जैनधर्म दोनो ही को इनने फलने फूलने दिया था । अनुमान होता है कि वैष्णवधर्म के प्रति विशिष्ट समादर दिखाते हुए सर्वधर्म सहिष्णुता और परधर्मो मे हस्तक्षेप नही करना ही उनका लक्ष्य था ।[2] उदाहरणार्थ चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य या चन्द्रगुप्त द्वय, गुप्तवश का पाँचवा सम्राट, "बौद्ध और जैनधर्म के प्रति सहिष्णु होते हुए भी स्वयम् सनातनी हिन्दू और विष्णु का परम भक्त था ।"[3]

गुप्त राजो की सर्वदर्शनसार सग्राहक नीति के सिवा भी, जैनो के प्रति उनका विशिष्ट आदर, जैसा कि पहले कहा ही जा चुका है, मथुरा के शिलालेखो से प्रमाणित होता है । उन जैन शिलाभिलेखो मे तीन, डॉ व्हूलर के अनुसार, गुप्तकाल के है ।[4] उनमे से एक जो कि नीचे लिखे अनुसार है, के विषय मे तो कोई शका ही नही है क्योकि वह एक बैठी मूर्ति पर खुदा हुआ है और कुमारगुप्त के राज्यकाल का है । वह लेख इस प्रकार है—

जय हो ! 113 वे वर्ष मे, महान् राजो के महाराजा और चक्रवर्ती कुमारगुप्त के विजयी राज्य काल मे, बीसवे दिन (शीत-मास कार्तिक के)—उस दिन भट्टिमव की पुत्री (और) दाणी ग्रहमित्रपालित की गृहपत्नि सामाढ्या (श्यामाढ्या) ने एक प्रतिमा स्थापन कराई कि जिसको यह आज्ञा (उत्सर्ग कराने की) कोट्टियगण (और) विद्याधरी शाखा के दतिलाचार्य (दत्तिलाचार्य) ने दी ।"[5]

दूसरे दोनो शिलालेखो मे से एक अच्छी स्थिति मे नही है । इसलिए उसका सरल अनुवाद देना सभव नहीं है । परन्तु उसमे मन्दिर बनवाने या मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाने का अभिलेख ही हो ऐसा लगता है ।[6] तीसरा लेख लिपि की दृष्टि से, व्हूलर, के मतानुसार, गुप्तकाल का ही लगता है । यह शिलालेख एक छोटी मूर्ति या पूतले के पादपीठ पर खुदा हुआ है, इस प्रकार है :—

"सत्तावनवे 57 वे वर्ष मे, शीत काल के तीसरे महीने मे, तेरहवे दिन मे (उपर्युक्त विशेष दिन) दिन को... ।"[7]

---

1 देखो स्मिथ, वही, पृ 303 । 2 "मानासर, इसलिए, गुप्तयुग का सकेत करता लगता है ; समस्त भारत-व्यापी साम्राज्य का अस्तित्व, ... ब्राह्मणधर्म की लोकप्रियता और विशेषत वैष्णव सम्प्रदाय की और झुकाव एव बौद्ध व जैनधर्म के प्रति सहिष्णुता और विरोधाभाव...।" —आचार्य, इण्डियन आर्किटेक्चर अकार्डिंग टू मानासार शिल्पशास्त्र, पृ 394 । 3 स्मिथ, वही, पृ 309 ।

4 देखो व्हूलर, एपी इण्डि, पुस्त. 2, लेख स 38–40, पृ 198 ।

5 व्हूलर, वही, लेख स 39, पृ 210–211 । 6 वही, लेख स. 40, पृ 211 ।

7 वही लेख स 38, पृ 210 ।

उसी विद्वान के शब्दों में लिपि का आकार, और विशेषतः ह्रस्व और दीर्घ स्वरों के चिह्नित करने की विशिष्ट शैली—यथा दीर्घ की मात्रा व्यंजन के दाईं ओर एवम् ह्रस्व की मात्रा बाईं ओर लगाना—लेख म 38 को इससे पूर्व का समय देने से असम्भव मेरे विचार में, बनाता है।[1]

गुप्त सम्वत् 113 और 57 की तिथि वाले उपरोक्त दोनों लेखों के यथार्थ काल का निर्णय करने के लिए हम गुप्तों के प्रवर्तित सम्वत् का विचार करना आवश्यक है। गुप्तकाल 'गुप्तवर्ष' जैसे शब्द को गुप्त राजा के उत्कीर्णित लिपि और अन्य अभिलेखों में आते हैं उनसे ऐसा लगता है कि वह सम्वत् उस वंश के किसी राजा ने अवश्य ही प्रवर्तित किया होगा। परन्तु इसका कोई लिखित प्रमाण आज तक तो उपलब्ध नहीं हुआ है। परन्तु इलाहाबाद के समुद्र गुप्त के शिलालेख से जाना जाता है कि चन्द्रगुप्त 1म जो कि उनका पूर्वज था हो ऐसा राजा है कि जो प्रथम को 'महाराजाधिराज' कहता है। उनके पूर्वज गुप्त और घटोत्कच दोनों ही राजा केवल महाराज कहलाते थे।[2] यह और इसके साथ ही समुद्रगुप्त के और चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय के शिलालेखों के उल्लेख जो कि गुप्त संवत् 82 से 83 तक[3] के हैं पर से विद्वानों ने गुप्त सम्वत् का प्रवर्तन काल चन्द्रगुप्त 1म के राज्य काल में निश्चित किया है।

स्मिथ कहता है कि पौवात्य पद्धति से उसके राज्यारोहण समय में जबकि उस साम्राज्य का उत्तराधिकारी घोषित किया गया और जिस समय दन्तकथानुसार पाटलीपुत्र पर अधिकार किया गया तब संवत् प्रवर्तित करने जितना ही उनका राजकीय महत्त्व भी था। गुप्त संवत् जो कि कितनी ही सदियों तक भिन्न भिन्न प्रदेशों में चलता रहा था, का पहला वर्ष ता. 26 फरवरी सन् 320 से ता. 13 मार्च सन् 321 तक का था। इसकी पहली तारीख या तिथि चन्द्रगुप्त 1म के राज्यारोहण की तिथि रूप ली जा सकती है।

गुप्त संवत् के प्रवर्तन की ई. 319 320 तिथि एलबरूनी के वक्तव्य के आधार पर निश्चित की गई है जो कहता है कि शक सम्वत् के 241 वर्ष पश्चात् गुप्त संवत् का प्रवर्तन हुआ था। तदनुसार यह ई. सन् 319–320 आता है।[4] अरब पर्यटक का यह वक्तव्य सत्य सिद्ध

1 वही पृ 198। यह प्रोफेसर का स (एपि० इण्डि०, पुस्त 4 पृ 219) है। इसकी विवेचना करते हुए विद्वान पण्डित कहता है कि यदि यह तिथि उसी संवत् का 57 वा वर्ष है जो कि कनिष्क और हुविष्क के लेखों में है तो यह इस स्थान में मिलने वाली प्राचीनतम् जैन मूर्ति है। परन्तु मैं यह विश्वास नहीं कर सकता हूं। मेरे विचार से यह मूर्ति अपेक्षाकृत आधुनिक है। —ओझा वही पृ 218।

2 जो (समुद्रगुप्त) मानव के प्रतिपादनीय आचारों की प्रतिमानना सतत करने वाला प्रयत्नशील या मानव हो था (परन्तु अन्यथा इस भूमि पर रहता हुआ अवतार —जो प्रख्यात गुप्त महाराजा के पौत्र का पुत्र था जो प्रभावित चन्द्रगुप्त 1म महाराजाधिराज का पुत्र था, आदि आदि। —फ्लीट कारपस इन्स्क्रिप्शनम् इंडिकेरम भा 3 लेख न 1 पृ 15–16। देखो ओझा, वही पृ 174।

3 देखो स्मिथ अर्ली हिस्ट्री पुस्त 31 पृ 265 ओझा वही और वही स्थान।

4 स्मिथ अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ 296। देखो ओझा वही पृ 175 बार्जेस एन्टीक्विटीज आफ इण्डिया पृ 46।

5 गुप्तकाल के सम्बन्ध में लोग कहते हैं कि गुप्त वंश दुष्ट और शक्तिशाली थे और जब उनका अंत हो गया तो यह तिथि एक युग प्रवर्तन का मान ली गई। ऐसा मालूम होता है कि वल्लभ उनका अन्तिम राजा था क्योंकि गुप्त युग का संवत् वल्लभी युग के संवत् की भांति ही, शक काल के 241 वर्ष बाद ही शुरू होता है। —सचाऊ एलबरूनीज इण्डिया भाग 2 पृ 7।

हुआ है,[1] और फ्लीट के अनुसार मदसौर का शिलालेख इसका समर्थन करता है ।[2]

इस प्रकार गुप्त सवत् का प्रारम्भ ई सन् 319 मे लेने से मथुरा के ये दो शिलालेख कि जो वर्ष 57 और 113 के है, अनुक्रम से ई सन् 376 और 432 के कहे जा सकते है स्वीकृत गुप्तवंश के कालक्रमानुसार पहला शिलालेख चन्द्रगुप्त 2 य का और दूसरा शिलालेख मे कहे अनुसार कुमारगुप्त 1म का समय का है ।[3] जैसा कि पहले से ही कहा जा चुका है गुप्तो का प्राचीनतम शिलालेखी अभिलेख स 82 से प्रारम्भ होता है और उसमे डा व्हूलर का यह कहना सत्य ही है कि पहला शिलालेख जैसा कि चन्द्रगुप्त 2य के समय का हम कह चुके है, यदि उसके विषय मे उसका अनुमान स्वीकार कर लिया जाता है तो 'उसकी तिथि, सम्वत् 57, गुप्त सम्वत् का सर्व प्रथम उल्लेख है जो कि अब तक मिल सका है ।'[4]

इन दो मथुरा शिलालेखो के सिवा भी जैनो से सम्बन्ध रखने वाले दो गुप्त सम्बन्धी अभिलेख और भी है । उनमे कालक्रमानुसार पहला उल्लेख उदयगिरि गुफा का शिलालेख है जिसमे स्पष्टत राजा के उल्लेख के स्थान मे प्रारम्भ के गुप्त राजो की वशावली दी हुई है । उसकी तिथि पर से यह भी कुमारगुप्त 1म के समय का ही लगता है । उसमे तिथि शब्दो मे दी गई है जो वर्ष 106 (ई सन् 425-426) के कार्तिक मास के कृष्ण पक्ष की पाचवें सूर्य दिवस की है ।[5] उस शिलालेख के उस अश का अनुवाद कि जिससे उसका जैन होना स्पष्ट प्रगट होता है इस प्रकार है उसने (याने शंकर जिसका नाम 6ठी पक्ति मे है) जिसने (आध्यात्मिक) रिपुओ को जीत लिया है, (और) जिसने शाति और सयम साध लिये है, (उस) गुफा के मुख मे, जिन की यह मूर्ति नाग की विस्तृत फणो और परिचारिका देवी (भरपूर सजी हुई) सहित, (और) जिनो मे सर्वोत्तम ऐसे पार्श्व के नाम वाली, निर्मित (और स्थापित) कराई । वह निश्चय ही सत आचार्य गोशर्मन...का शिष्य है' आदि ।[6]

इस प्रकार उदयगिरि गुफा के शिलालेख का उद्देश गुफा के मुख पर पार्श्व या पार्श्वनाथ की प्रतिमा स्थापना का उल्लेख करना मात्र है । जिस दूसरे शिलालेख की ऊपर बात कही गई है वह है कुमारगुप्त 1म के पश्चात् होने वाले स्कन्दगुप्त का कहाउ[7] का पाषाण स्तम्भ पर का लेख ।[8] खाखी रेतिये पत्थर का यह स्तम्भ जिस पर कि

---

1. "अब तक मे ने यही बताया है कि पहले पहले की गुप्त तिथिया और, उनके साथ ही अन्य भी जो कि उसी सम श्रेणी की सिद्ध की जा सकती है, सब ई 319–328 या उसके आसपास के युग की मानी जानी चाहिए जैसा कि एलबरूनी ने ध्यान खीचा है और जो वीरावल के शिलालेख, वल्लभी सवत् 945 के से समर्थित है ।" फ्लीट, वही, पस्ता पृ 16 आदि ।
2 देखो वही, प्रस्तावना पृ 23 ।
3 देखो स्मिथ, इण्डि एण्टी, पुस्त 31, पृ 265–266 । चन्द्रगुप्त का राज्यकाल ई लगभग 380 से ई लगभग 412 तक रहा था और कुमार गुप्त का ई लगभग 413 से ई लगभग 455 तक । देखो वही, स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ 345-346, भण्डारकर, वही, पृ 48–49, बार्नेट, वही, पृ 47–48 ।
4 व्हूलर, वही और वही स्थान । 5 देखो फ्लीट, वही, लेख स 61, पृ 258 ।
6 वही, पृ 259 । देखो हुल्ट्ज, इण्डि एण्टी, पुस्त 11, पृ 310 ।
7 "इस शिलालेख का प्राचीन काकुभ या काकुभग्राम. और आज का कहाउ या कहवा उत्तर-पश्चिम प्रात जिसका कि अब नाम उत्तर-प्रदेश है, के गोरखपुर जिले की देवरिया या देओरिया तहसील सलमपुर-माझोली परगना का प्रमुख नगर, सलमपुर-मझोली के दक्षिण से पश्चिम की ओर पाच मील दूर स्थित एक गाव है ।" –फ्लीट, वही, पृ 66 । देखो भगवानलाल इन्द्रजी, इण्डि एण्टी, पुस्त 10, पृ. 125 ।
8 देखो स्मिथ, वही, पृ 346 । कहा जाता है कि कुमारगुप्त 1म के बाद ई लगभग 455 मे यह राजसिहासन पर बैठा था । देखो वही, बार्नेट, वही पृ 48 ।

लेख खुदा हुआ है कहाउ गाव के उत्तर में कुछ दूर पर है। उस लेख म प्राचान गुप्त सम्राट स्कन्दगुप्त के राज्य का निर्देश है। उसकी तिथि शब्दो म दी हुई है जिसके अनुसार वह ह 141 वा वष (तदनुसार ई सन् 460-461) और ज्यष्ठ मास।[1] लेख का उद्देश उसके नीचे उद्धत अश म स्पष्ट होता है

'उसने (अर्थात् मद्र ने, जिसका नाम लेख की 8वी पक्ति म उल्लिखित है) इस समस्त ससार का (सदा ही) परिवतनो की परम्परा स गुजरता देख भयभीत हो अपने लिए बहुत धम कमाया (और अपने से)-अन्तिम सुख के लिए (और) (सब) जीवित प्राणियो के कल्याण के लिए पाच सुन्दर (प्रतिमाए[4]), पाषाण की बनी उनकी कि जिनने अर्हतो के माग म जो कि धार्मिक क्रियाए करते है अनुसरण किया है स्थापित करके-उस भूमि म फिर यह अत्यन्त सुन्दर पाषाण स्तम्भ जोकि मेरू पवत के शिखर की चोटी के समान लगता है (और) जो (उसकी) कीर्ति प्रदान करता है स्थापित किया।'[3]

शेष कहाउ शिलालेख यह अभिलेख करता है कि मद्र नाम के किसी व्यक्ति ने आदिकीर्तिया याने तीथकरो की प्रतिमाए प्रतिष्ठापित कराई थी और यह स्तम्भ पर की मूर्तिया द्वारा भी समर्थित होता है। इन मूर्तियो म की अत्यन्त महत्व की पाच खडी नग्न मूर्तिया हैं कि जो डा भगवानलाल इन्द्रजी के अनुसार आदिनाथ शान्तिनाथ नमिनाथ, पार्श्व और महावीर, इन पाच लोकप्रिय तीथकरो की है।[4]

गुप्त और जना का सम्बन्ध बताने वाली शिलालखी इन साक्षिया के अतिरिक्त हम मुनि जिन विजय[6] के अत्यन्त आभारी हैं कि जिनका कुवलयमाला[5] का इसके विद्वत्तापूर्ण विवेचन गुप्तकाल के जन इतिहास पर बहुत ही प्रकाश डालता है। जनो के इस कथासाहित्य के रचयिता विद्वान उद्योतनसूरि ने स्वयम् को इस ग्रन्थ म ही इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि जो उस काल की कि जिसम व हुए और प्रवृत्ति की थी यथायता का प्रतीक है। हम यह कहा गया है कि यह रोचक प्राकृत कथा शक स 700 याने ई सन् 779 म समाप्त हुई थी।[7] इस काल म अनेक अमर रचनाए हुई थी परन्तु उनके लेखको न उनम अपना नाम देने की जरा भी चिन्ता नही की है फिर भी कुवलयमाला कि जिसम ऐतिहासिक दृष्टि बराबर अन्तर्निहित हुई है उस काल का एव उन परिस्थितिया की

---

1 देखो फ्लीट वही, लेख स 15 पृ 96 भगवानलाल इन्द्रजी वही और वही स्थान।

2 फ्लीट वही पृ 68, भगवानलाल इन्द्रजी वही पृ 126।

3 लेख के इस अश के यथार्थ शब्द इस प्रकार हैं नियमवतामर्हतामादिकर्तृन् पचन्द्रिम्बा पथिरवा आदि। डा इन्द्रजी ने इसको इस प्रकार अनूदित किया है। तपस्वी अर्हता के मार्गानुसारी पाच प्रमुख आदिकर्तृ (तीर्थकरो) की स्थापना कर।' -इण्डि एण्टी पुस्त 10 पृ 126। इस अनुवाद पर विद्वान पण्डित ने इस प्रकार टिप्पण दिया है। 'आदिकर्तृ-मूलस्थापक, वह जिसने पहले पहल माग बताया परन्तु यह विशेषण तीर्थकरो के लिए सामान्यत प्रयोग किया जाता है। देखो कल्पसूत्र, शक्रस्तव, नमोत्थुण समणस्स भगवओ महावीरस्स चरमतित्थयरस्स। इसका संस्कृत इस प्रकार है। नमोस्तु श्रमणाय भगवते महावीरायादिकर्तृ चरमतीर्थकराय-। वही पृ 126 टिप्पण 16। 4 वही, पृ 126। देखो फ्लीट वही पृ 66।

5 जिन विजय जसास स 3, पृ 169 आदि।

6 यह 8वी सदी का जना के वर्णनात्मक साहित्य का एक ग्रन्थ है। आज मारवाड म परन्तु उस समय गुजरात का ही अश माने जानेवाला जावालीपुर (जालोर) में यह पूर्ण किया गया था।

7 सगकाल वोलीणे वरिसाण सहि सत्तहि गएहि। एगदिणेणूणेहि रइया अवरण्हवलाए।।-वही गाथा 36 पृ 180।

जिनमे उसकी रचना हुई और उसके रचियता सूरि की गुरुपरपरा का यथार्थ चित्र बहुत कुछ हमारे सामने प्रस्तुत करती है। प्रास्ताविक गाथाओ मे हमारे लिए उपयोगी कुछ गाथाएं इस प्रकार हैं ;—[1]

(1) अत्थि पुहईपसिद्धा दोण्णि यहा दोण्णि चेय देस त्ति।
तत्थात्थि पट्ट आमेण उत्तरावहं बुहुजणाइण्ण ॥

(2) सुहविअचारुमोहा विअसिअकमलाणणा विमलदेहा।
तत्थत्थिजलहिदइआ सरिआ अह चछाभाय त्ति ॥

(3) तीरम्मि तीय पयडा पव्वइया णाम रयणसोहिला।
जत्थत्थि ठिए भुत्ता पुहइ सिरितोररायेण ॥

(4) तस्स गुरू हरिउत्तो आयरिओ आसि गुत्तवंसाओ।
तीय णयरीय दिण्णो जेण णिवेसो तहिं काले ॥

(5) तस्स वि सिस्सो पयडो महाकई देवउत्तणामो त्ति।[2]

इन गाथाओ का भावार्थ यह है। "विश्व मे दो मार्ग और दो ही देश है (दक्षिणापथ और उत्तरापथ) कि जो सर्व प्रख्यात हैं। इनमे से उत्तरापथ विद्वानो से भरा पूरा देश माना जाता है। उस देश मे चन्द्रभागा नाम की नदी बहती है, जो ऐसा लगती हे कि मानो सागर की प्रिया ही हो। उस नदी के तट पर फवइथा नामक सुप्रसिद्ध और सम्पन्न नगर बसा हुआ है। जब वह यहा था तब श्रीतोरराय पृथ्वी पर राज्य भोगता था। आचार्य हरिगुप्त, जिनका गुप्तवश मे जन्म हुआ था, इस राजा के गुरू थे, और उस समय वह भी वहा रहते थे। देवगुप्त जो एक महा कवि था, इन आचार्य का शिष्य हो गया था।"

उद्योतनसूरि की ये प्रस्ताविक गाथाए उत्तर भारत की जैन समाज और सामान्य भारतीय इतिहास दोनो ही दृष्टियो से अत्यन्त महत्व की हैं। राजा तोरमाण या तोरराय जिसका तीसरी गाथा के उत्तरार्ध मे निर्देश किया गया है, हूणो[3] के प्रख्यात सरदार के सिवा और कोई नही है कि जिसके नेतृत्व मे उत्तर-पश्चिमीय घाटियो मे

---

1 जिनविजयजी सूचित करते हैं कि इस कुवलयमाला की दो ही हस्तप्रतिया अभी तक उपलब्ध हुई है। एक पूना के सरकारी सग्रह मे और दूसरी जैसलमेर के जैन भण्डार मे। दोनो प्रतिया न केवल छोटी छोटी बातो मे ही अपितु अति महत्व की ऐतिहासिक बातो मे भी एक दूसरे से भिन्न है। विद्वान् पण्डित इन भेदो को मूल लेखक कर्तृक ही मानता है और विश्वास करता है कि दोनो ही प्रतियो मे ये मतभेद मूल श्रोतो से ही आए हैं। देखो, वही, पृ 175।

2 देखो वही, पृ 177। पूना की प्रति मे उपर्युक्त पहली दो गाथाए नही मिलती हैं। वह प्रति तीसरी गाथा से ही प्रारम्भ होती है। फिर प्रस्ताविक गाथा भी इस प्रति की जैसलमेर के प्रति की गाथा से एक दम भिन्न है। वह गाथा इस प्रकार है —अत्थि पयडा परीण। तोररायेण के स्थान मे पूना प्रति मे तोरमाणेण लिखा हुआ है। पाचवी गाथा के प्रथमार्थ के स्थान मे हम पूना प्रति मे निम्नलिखित सम्पूर्ण गाथा पाते है :—

(तस्स) बहुकलाकसलो सिद्धान्तयवयाणओ कई दक्खो।
आयरिय देवगुत्तो ज(स्स)ज्जवि विज्जरए कित्ती ॥—वही।

3 हूण मध्य-एशिया मे आर्यो की ही एक जाति थी। उनने गुप्त साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया था और कुछ समय तक भारतवर्ष के एक बडे भाग पर उनका आधिपत्य भी रहा था। हूणो का राज्यतोरमाण के उत्तराधिकारी मिहिरकुल की पराजय और मृत्यु के साथ ही समाप्त हो गया था। इसको छठी सदी ईसवी के मध्य के लगभग रखा जा सकता है। हूणो के विशेष परिचय के लिए देखो ओझा, राजपूताना का इतिहास, भाग 1, पृ 53 आदि, 126 आदि।

हो कर हूणों के टोले के टोले उत्तर-भारतवर्ष में प्रलय की भांति सब ओर फैल गए थे। इस तोरराय को हूण सरदार तोरमाण मान लेने में कोई भी ऐतिहासिक भूल नहीं है क्योंकि समस्त भारतीय इतिहास में केवल एक ही पृथ्वीभोक्ता तोरमाण है। वह अपने समय का एक अति प्रख्यात व्यक्ति ही था क्योंकि जैसा कि हम अभी कह चुके हैं वही हूणों के आक्रमण और परिणामतः गुप्त साम्राज्य के विघटन का प्रधान नायक था। मध्य एशिया को त्याग कर वह अपने अनुयायियों सहित भारतवर्ष में घुस आया और पंजाब एवं दिल्ली को विजय कर वह मध्य-भारत के मालवा देश तक भीतर में पहुंच गया था। विंसेंट स्मिथ कहता है कि भारतवर्ष के इस आक्रमण का कि जो कितने ही वर्षों तक निःसंदेह ही चलता रहा था नेता तोरमाण नाम का सरदार था कि जिसने मध्य-भारत के मालवा प्रदेश तक अपना अधिकार ई. सन् 500 के पहले ही जमा लिया था ऐसा कहा जाता है। उसने अपने लिए महाराजा का राजा का भारतीय विरुद धारण किया था और भानुगुप्त एवम् वल्लभी का राजा व अन्य अनेक राजाओं को उसने अपने करद राज्य बना लिये होंगे।[1]

स्वभावतः मध्यएशिया के आयों के नेता इस हूणाधिपति ने भारतवर्ष की राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक स्थितियों में भारी क्रांति ही ला दी होगी। उसके आधिपत्य का समय निःसंदेह अल्पकालीन था परन्तु जिस समय उसकी मृत्यु हुई —ई. छठी सदी के प्रथम दशक में उसका जमाया हुआ भारतीय साम्राज्य इतना शक्ति-शाली था कि वह उसके पुत्र एवम् उत्तराधिकारी मिहिरकुल को मिल सका। परन्तु यह आश्चर्य की बात है कि पुरातत्वज्ञों को उसकी राजधानी कहां थी इसका असंदिग्ध रूप में पता अभी तक भी नहीं लग पाया है। अनेक आधारों से हम इतना तो जानते हैं कि पंजाब का शाकल आधुनिक सियालकोट उसके उत्तराधिकारी मिहिरकुल की राजधानी थी।[3] फिर भी कुवलयमाला के कथानुसार तोरमाण की राजधानी चन्द्रभागा आज की चिनाव, नदी के तट पर की पव्वइया नगरी थी।

इस पव्वइया को जिसका कि संस्कृत रूपान्तर पर्वतिका या पार्वती है, उत्तरी-भारत में निश्चित करना कठिन है। युयान च्वांग के भारतवर्ष का पर्यटन याने ट्रेवल्स इन इण्डिया ग्रन्थ में हम पो लो सन पू लू याने मुलतान से लगभग 700 ली उत्तर पूर्व के पो फा-टो[4] देश में उसके जाने का पता चलता है। इस लेखांश का पो फा टो वाटर्स कहता है कि 'शब्द' सम्भवतया पो ला-फा टो याने पर्वत का ही पर्याय मालूम होता है।[5] इससे क्या हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि चीनी पर्यटक का पर्वत नगर ही तोरमाण की राजधानी पव्वइया नगरी था? विद्वान इस सम्बन्ध में सब एक मत नहीं हैं।[6] इसलिए हम इतना ही कह सकते हैं कि जैनों के

---

1 स्मिथ वही पृ 335। देखो वार्येट वही पृ 49।

2 देखो स्मिथ वही और वही स्थान। ओझा वही पृ 128।

3 देखो स्मिथ वही और वही स्थान ओझा वही पृ 129 वार्येट वही पृ 50।

4 देखो वाटर्स, युआनच्यांग्स ट्रेवल्स इन इण्डिया भाग 2 पृ 255 बील सी यू की, भाग 2 पृ 275।

5 वाटर्स वही और वही स्थान। देखो बील वही और वही स्थान।

6 विंसेंट स्मिथ के अनुसार पो फा-टो (पर्वत) काश्मीर राज्य जैसा कि वह आज संगठित है के दक्षिण स्थित (जम्मू) जमू का राज्य होना चाहिए। देखो वाटर्स वही, पृ 342। कनिंघम शोरकोट को ही पो फा-टो कहता है यद्यपि वह यह भी मानता है कि पर्यटक निर्दिष्ट स्थिति तो चेनाव पर के मंग के स्थान में मिलती है। कनिंघम एंशंट ज्याग्राफी आफ इण्डिया पृ 233-234। डा फ्लीट के अनुसार पो फा टो प्राचीन नगर हड़प्पा के सिवा दूसरा कोई हो ही नहीं सकता है। फ्लीट रा ए सो पत्रिका 1907 पृ 650।

अनुसार, तोरमाण की राजधानी पव्वइया नगरी थी और अब यही देखना शेष रह जाता है कि इस नगरी को उत्तर-भारत के नक्शे मे किस स्थान पर ठीक ठीक स्थिरीकरण किया जा सकता है ।

हमारे लिए यहा महत्व की बात तो यह है कि कोई हरिगुप्त नाम के जैनाचार्य इस महान् तोरमाण के गुरू थे । कुवलयमाला का यह कथन वस्तुत अति ही महत्व का है । कुछ ही शिलालेखो को छोड कर, कि जिनका हमने ऊपर निर्देश किया हुआ हे, अभी तक कोई भी ऐसी व्यवहारिक बात नही मिली थी कि जो गुप्त काल मे जैनधर्म की स्थिति पर प्रकाश डाल सकती थी । तोरमाण जैसे विदेशी और विजयी राजा का गुरू एक जैनाचार्य का होना जैन इतिहास मे कोई कम महत्व की घटना नही कही जा सकती है । कितनो ही नगण्य इसे मानी जाए, फिर भी इससे हम इतना निष्कर्ष का आधार तो मान ही सकते है कि शैशुनागे, नन्दो और मौर्यो के काल की ही भाति भारतीय इतिहास के इस सुवर्ण युग मे भी जैनाचार्य राजगुरू पद पर रहे थे ।

आचार्य हरिगुप्त का विचार करने पर ऐसा लगता है कि वे उस समय के महान् आचार्य होना चाहिए । उनका परिचय हमे गुप्तवशी कह कर ही कराया गया है । यह कहना अति कठिन है कि वे गुप्त राज्यवश के ही व्यक्ति थे अथवा इसी नाम के किसी अन्य वश के । हमारे सामने ऐसी कोई भी साक्षी नही है कि जिससे हम इन विषय मे कुछ भी कह सकते है । परन्तु जिनविजयजी के अनुसार,[1] यह कहा जा सकता है कि जैन साधुओ मे यह एक सामान्य प्रथा थी जब किसी प्रख्यात वश या कुल का कोई व्यक्ति साधू बनता था तो इसका उल्लेख धर्म की प्रभावना की दृष्टि मे बडी सावधानी से अवश्य ही किया जाता था । सघ के श्रावको के समक्ष उपदेश देते हुए जैन साधू सामान्यतया अपने गुरुओ के इतिहास की ऐसी बाते कह कर श्रोताओ के मन पर भगवान् महावीर के धर्म और अनुयायियो की महत्ता की छाप बैठाना कभी नही भूलते थे । इस पर से यह अनुमान यदि हम करे कि आचार्य हरिगुप्त का वश जिसके कि विषय मे तोरमाण और उसके गुरू के तीन शताब्दियो बाद होने वाले श्री उद्योतनसूरि ने उल्लेख किया है, अवश्य ही एक शक्तिशाली और सम्मान्य होना चाहिए तो वह कुछ भी अतिशयोक्तिक या ऐतिहासिक दृष्टि से अशोभन नहीं है । फिर इन हरिगुप्ताचार्य का हुए सम्राट के साथ सम्बन्ध भी इस अनुमान को समर्थन करता है । गुप्तो के राज्यकुटुम्ब को कोई व्यक्ति जैन साधू हो जाए, यह भले ही विस्मयकारी और अविश्वस्त सा लगता हो, परन्तु ऐसा मान लेने का ही कोई कारण नही है । फिर उन उद्योतनसूरि की प्रस्ताविक गाथाएँ यह भी सूचित करती है कि इन हरिगुप्त आचार्य के एक शिष्य महाकवि देवगुप्त था । इस देवगुप्त के उद्योतनसूरि ने आगे की प्रस्ताविक गाथा मे गुप्तवश का राजर्षि कहा है ।[2] इससे यह स्पष्ट है कि देवगुप्त गुप्त राजवश की ही कोई व्यक्ति होना चाहिए । ये सब तथ्य ऐतिहासिक सत्य मान लिये जाए इससे पूर्व नि सन्देह हमे और समकालिक निश्चित साक्षियो की आवश्यकता है कि जो परिणाम का समर्थन करे । फिर भी इस प्रकार की किसी ऐतिहासिक सरचना के लिए ऐसे तथ्यो की उपयोगिता और सार्थकता से इन्कार ही नही किया जा सकता है ।

इस पृष्ठभूमि से जब हम यहा तक पहुच ही गए है तो एक कदम आगे बढ कर यह भी देखे कि क्या गुप्त राज्यवश के किसी व्यक्ति से हरिगुप्त और देवगुप्त की समानता सम्भव भी होती है ? गुप्तो के विषय मे जो भी ऐतिहासिक अभिलेख अब तक सग्रह किए जा चुके है, उनमे हमे हरिगुप्त का कोई नाम नही मिलता है । फिर भी 1894 मे कनिंघम ने अहिच्छत्रा मे एक ऐसा ताबे का सिक्का प्राप्त किया था कि जिसके एक ओर पीठ पर रखा

---

1 जिनविजयजी, वही, पृ 183 ।

2 सो जयइ देवगुप्ता वंसे गुत्ताण रायरिसी—चतुरविजय, कुवलयमाला-कथा (जैन आत्मानन्द सभा), प्रस्तावना, पृ. 6 ।

हुआ कलश था और दूसरा ओर ये शब्द "श्री महाराजा हरिगुप्त"[1] उसके अक्षरों के आकार और घाट से और उसमे दिए नाम की तुलना से सिक्का विज्ञानवेत्ताओं का मानना है कि यह सिक्का गुप्तवंश के किसी राजा द्वारा ही पाया गया होगा।[2] फिर भी इस हरिगुप्त का गुप्तवंश के किसी राजा के साथ सम्बन्ध बैठाया नहीं जा सकता है। प्राचीनलिपिशास्त्र के अनुसार ऐसा लगता है कि इस सिक्के में वर्णित हरिगुप्त विक्रम की छठी सदी के मध्य में होना चाहिए।[3] इस प्रकार तिथि और स्थान जहां कि यह सिक्का पाया गया था और इस सिक्के पर का वर्णन जैन हरिगुप्त के साथ ठीक बैठ जाता है। सिक्का पंजाब के किसी जिले में मिला है और हरिगुप्त तोरमाण का समकालिक होने से वह भी विक्रम की छठी सदी के मध्य का होना चाहिए। इस प्रकार तिथि, स्थान नाम और वंश इन सब बातों की समानता को दृष्टि में लेते हुए इस सिक्के का और जैनों का हरिगुप्त एक ही व्यक्ति माना जाए तो उसमें कोई भी भूल नहीं है।

अब देवगुप्त का विचार करें। इसके विषय में भी वैसी ही कठिनाइयां है फिर भी बाण के हर्षचरित से जो कि ऐतिहासिक रोमांच कथा का सर्व प्रथम प्रयास कहा जाता है[4] हमें पता लगता है कि थानेश्वर और कन्नौज के महाराजा के ही काल में मालवा के सिंहासन पर एक राजा था जिसे हर्षवर्धन के बड़े भाई राज्यवर्धन ने हराया था क्योंकि मालवा राज कान्यकुब्ज के राजा ग्रहवर्मन कि जिससे हर्षवर्धन की भगिनि ब्याही गई थी, का वैरी घोषित कर दिया गया था।[5] मालवा के इस राजा को डा. ब्हूलर ने मधुबन शिलालेख को ही देवगुप्त ही माना है।[6] अब प्रश्न उठता है कि क्या जैन दंतकथा का देवगुप्त हर्षचरित में जिसे मालवा का राजा बताया गया है वही है। इस विषय में कठिनाइ केवल दोनों देवगुप्तों के समय के समन्वय की है।

तोरमाण की अनेक तिथियां में से सब से बाद की तिथि ई. लगभग 516 की है। यदि इसे मान लिया जाए तो 75 वर्ष का रहनेवाला अन्तर केवल इसी कल्पना पर ठीक बैठाया जा सकता है कि तोरमाण की मृत्यु ई. लगभग 516 के कुछ ही बाद हुई होगी हरिगुप्ताचार्य अपने इस कृपालुराजा की मृत्यु के बाद भी बहुत

---

1 देखो एलन कैटलाग आफ इण्डियन कॉइन्स गुप्ता डाइनस्टीज पृ. 152 और प्लेट 26, 16, कनिंघम, कॉइन्स आफ मिडीवल इण्डिया पृ. 19 प्लेट 2 7 चन 6। यहां यह भी कह देना चाहिए कि कलश जैसा कि जिनविजयजी ठीक ही कहते हैं जैनों का एक लोकप्रिय प्रतीक है। देखो जिनविजयजी वही 184।

2 देखो कनिंघम वही पृ. 18 19 अक्षर 'ह का आकार गुप्तों का विशेष प्रकार का है।' वही, पृ. 19।

3 उनकी लिपि के अनुसार हरिगुप्त के सिक्के 5वीं सदी के मालूम होते हैं। एलन वहां पृ. 105।

4 कॉवेल और टामस हर्षचरित प्रस्तावना पृ. 8।

5 देखो वही, प्रस्ता पृ. 11-12 प्रस्थान राज्यवर्धन जिसके द्वारा, युद्ध में अपना दण्ड बलात देवगुप्त आदि राजा जो दुष्ट अश्वों के समान थे म्लान मुख हो, वश हो गए। ब्हूलर एपी इण्डि पुस्त 1 पृ. 74। देखो वायॅट वहां पृ. 52 मुकर्जी राधाकुमुद, हर्ष, पृ. 16-19, 53।

6 बाण के वर्णन की सत्यता को स्वीकार करते हुए यह कहा जा सकता है कि देवगुप्त मालवा के राजा का नाम था। वही प्रमुख रिपु था और उसके राज्य की विजय, बाण के इस वर्णन से भी समर्थित होती है कि मण्डिन जो राज्यवर्धन के साथ गया था मालवा की लूट हर्षवर्धन के पास उस समय लाया कि जब हर्ष कुमार भास्करवर्मन के राज्य में राजा गौड में प्रतिशोध लेने के अभियान में पहुंचा था। मैं यहां कह दूं कि मानव शब्द न तो यहां और न श्री हर्षचरित में अन्य उल्लेखों में ही मध्यभारत के मालव के लिए प्रयुक्त हुआ है। पंजाब में भी एक दूसरा मालव थानेश्वर के निकटतम था और कदाचित् वही यहां अभिप्रेत है। ब्हूलर वही पृ. 70। देखो मुकर्जी राधाकुमुद वही पृ. 25 50 आदि।

विद्वान ई 526 म पूरा हो जाना दिखाते हैं।[1] स्मिथ और विलबरफोस ब्यल के अनुसार भटाक ने ई 490 में इस वश की स्थापना की थी।[2] भटाक और ध्रुवसन के बीच म होन वाल राजा दो भाइयों न अल्प काल तक ही राज्य किया होगा और इस प्रकार ध्रुवसन I म ई 526 मे वल्लभी की गद्दी पर आया होगा। इसका समथन इस बात स भी होता ह कि वल्लभी वश का सातवा राजा धरसेन 2 य इ 569 म उस गद्दी पर आया था।[3]

वल्लभीपति ध्रुवसेन की सरक्षकता म एकत्र हुए जन श्रमणसघ की चर्चा आगे क अध्याय म की जाएगी। यहा तो बस इतना ही कह देना पर्याप्त हैं कि जैनधम के मूल शास्त्र और अन्य साहित्य इस युग म लिख कर पुस्तकारूढ किए गए थे और जैन इतिहास म स्मति परम्परा का युग तभी से समाप्त हो गया। जन इतिहास की इस महत्वपूण घटना का सम्बन्ध गुप्तवश क साथ ही है यह भी द्रष्टव्य है। इस समय तक जैनधम सारे भारत-वष म बहुत कुछ फल गया था और इस तथ्य को किसी भी प्रकार अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। जन जाति का उल्लेख करत शिलालेख ई छठी सदी और उसक बाद सख्या म बढ जात ह। गुप्त साम्राज्य क अन्त हो जान क पश्चात् भारत वष का भ्रमण करनेवाले चीनी पयटक ह्यूएनत्साग न भारत और उसकी सीमा के बाहर भी जनधमका फला हुआ देखा था।[4] जनधम क विषय म एसी बिखरी सूचनाओ का अनुसरण करना नि सदेह बडा ही रोचक होगा परन्तु ऐसा करना हमारे क्षेत्र के बाहर यान विषयातर ही होगा। उद्धृत अभिलेख इस कथन का समथन करने के लिए पर्याप्त हैं कि महावीर निर्वाण के बाद की प्रथम पाच सदिया म बौद्ध दतकथा और यथाथ एतिहासिक प्रमाण दोनों ही इस बात की साक्षी दत ह कि बौद्धधम से बिल्कुल ही स्वतन्त्र रूप म प्रमुख धम रूप से देश म जैनधम अस्तित्व भोग रहा था। एतिहासिक प्रमाणा मे कुछ एस भी हैं कि जो इस शका का बिलकुल निरसन कर देते हैं कि जना की दतकथाए स्वयम् ही झूठी ठहरती है।

---

1 ध्रुवसेन 1 म, वल्लभी का मैत्रक राजा ई 526–540 म राज्य करता था। –बार्नेट वही प 50। अब चू कि वल्लभी का यह ध्रुवसेन 1 म ई 526 म राजगद्दी पर बठा कहा जाता है। –शार्पेंटियर उत्तराध्ययनसूत्र प्रस्ता प 16। विद्वान पण्डित की यह तिथि महावीर निर्वाण ई पूव 467 पर और जन शास्त्र-वाचना की तिथि वीरात् 993 पर आधारित है। वाचना की दूसरी तिथि वीरात् 980 है और इस गणना से यह ई 514 के लगभग आती है। ज्यो याकोबी कल्पसूत्र प्रस्ता प 15। फायहर रिलीजस लिटरेचर ऑफ इण्डिया प 163। इन दोना तिथिया म अन्तर इसलिए है कि वीरात् 980 म जनागम निश्चित रूप म लिपिबद्ध हुए थ और वीरात् 993 म ध्रुवसन प्रथम के आश्रम में आनन्दपुर म जनसघ क सामन कल्पसूत्र पहल पहल पढा गया था। नवशताशीतितमवर्षे कल्पस्य पुस्तके लिखन नवशतत्रिनवतितमवर्षे च कल्पस्य पषद्वाचनति।–कल्पसूत्र, सुबोधिका टाका सूत्र 148 प 126। वीरात् 980 और 993 की दोनों तिथिया के लिए देखो सबुई पुस्त 22 प 270 भी।

2 देखो स्मिथ, वही और वही स्थान विलबरफास-ब्यल, वही प 38।

3 देखो वही प 39। धरसेन 2 य ई 573–589 तक राज्य करता था। –बार्नेट वही, प 51।

4 ह्यूएनत्साग का दिगम्बरों या निग्रन्था क कपिशी म देख जान का उल्लेख इस तथ्य का द्योतक है कि वे कम से कम उत्तर-पश्चिम म तो धमप्रचार भारतवष की सीमा स परे करने लग गए थ। ह्यूनर इण्डियन स्क्ट ऑफ दी जैनाज, पृ 3-4 टि 4, बील वही भाग 1, पृ 55।

सातवां अध्याय

उत्तर का जैन साहित्य

जैनो ने सदा सर्वदा साहित्य के क्षेत्र मे प्रसन्न प्रवृत्ति का विकास किया है। "यह साहित्य अत्यन्त ही विस्तृत और रस से ओतप्रोत है। भारतीय और यूरोपीय ग्रन्थालय जैन हस्तप्रतियो के ऐसे भारी सग्रह से भरे है। जिनका अभी तक भी कोई उपयोग नही किया गया है।"[1] जैन ग्रन्थकार अधिकाश साधुवर्ग के ही है। ये साधू चौमासे के चार महीने ग्रन्थ लेखन मे उपयोग करते थे जब कि उनका भ्रमण करना धर्म से निषिद्ध है और इसलिए उन्हे एक स्थान मे स्थिर निवास करना होता है। ग्रन्थ-रचयिताओ मे साधुओ के ही अधिकाशत होने के कारण साहित्य मे भी उनकी वृत्ति की छाया विषय और आशय दोनो मे ही स्पष्ट मालूम होती है। प्रमुख बातो मे वह साहित्य धार्मिक लक्षण वाला है और इस विषय मे वह बौद्ध एव ब्राह्मणीय साहित्य से मिलता हुआ है। ईश्वरवादी और दार्शनिक ग्रन्थ, सन्तो की कथाए, धार्मिक पुस्तिकाए, और तीर्थकरो की स्तुति के स्त्रोत इस साहित्य के प्रमुख अग है। विज्ञान, नाटक, काव्य, चम्पू और शिलालेख आदि सासारिक विषयो के इनके ग्रन्थो मे भी धार्मिक वातावरण ही गू जता है।

जैन इतिहास के जिस काल का हम यहा विचार कर रहे है, उसका सम्बन्ध साहित्य लिखे जाने के पूर्व काल से ही है। देवर्धिगणि एक दीपस्तम्भ के समान खडे है और वे उस काल का अन्त कि जिसमे सिद्धान्त कहा जाने वाला जैनो का आगमिक साहित्य ही प्रमुखतया है, अँकित करते है। फिर भी जैनो के समस्त साहित्य की प्रस्तावना रूप से यहा यह कह देना उचित है कि इस अपार साहित्य मे भी चर्चित विषय अत्यन्त विविधता के है। "सर्व प्रथम तो सिद्धान्त और उस पर लिखी गई टीकाओ का समूह है। इसके अतिरिक्त वैज्ञानिक साहित्य भी अनेक प्रकार का है। सिद्धान्त, न्याय और दर्शन की विशिष्ट पद्धति का विकास जैनो ने किया है। फिर उनने ब्राह्मणीय विद्वानो का भी बडी सफलता से विकास किया है। सस्कृत और प्राकृत दोनो ही के व्याकरण और कोश की उनने रचना की है। यही क्यो, गुजराती को भी कुछ कोश और व्याकरण उनके रचित मिलते हैं और फारसी का एक कोश भी। काव्य, अलकार, छन्द और नीति की दोनो शाखाए याने राजनीति एवम् सामान्य नीति के भी अनेक जैन ग्रन्थ हैं। नीति ग्रन्थो मे जीवन के कुशल निर्वाह के नियम दिए गए है। राजकुमारो की शिक्षा के लिए जैनो ने गजशास्त्र, शालिहोत्र, युद्ध-रथो, और धनुष शास्त्र एवम् कामशास्त्र पर भी ग्रन्थ लिखे है। राजकुमारो से अतिरिक्त जनता के उपयोग के लिए उनने मत्र-तन्त्र और ज्योतिष, चमत्कार याने जादू, शकुन-अपशकुन और स्वप्नविचार पर ग्रन्थ लिखे है कि जिनका भारतीय जीवन मे सदा ही महत्वपूर्ण भाग रहा है। उनके रचित वस्तुशास्त्र, सगीत, राग और वाद्य, सुवर्ण, रत्न आदि पर भी ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं... । सक्षेप मे बहुव्यापक लोकप्रिय साहित्य के रचियता जैन है।"[2]

---

1 हर्टल, आन दी लिटरेचर आफ दी श्वेताम्बराज आफ गुजरात, पृ 4। 2 हर्टल, वही, पृ 5–6।

इस संक्षिप्त प्रास्ताविक कथन के बाद अब हम जनों के पवित्र धर्मग्रन्थ यान सिद्धान्त का विचार करें कि जो उनकी मान्यतानुसार उसी युग का है जिसका कि हम यहां विचार कर रहे हैं हम पहले भी देख चुके हैं और आगे इसी अध्याय में फिर देखेंगे कि उनके साहित्यिक वारसे के विषय में जनों की दन्तकथा का हम अविश्वास नहीं कर सकते हैं। फिर भी यहां हम मात्र सिद्धान्त ग्रन्थों की एक सूची देते हैं कि जिनका स्वीकार व्यवर[1] विंटरनिटज[2] शार्पेटियर[3] आदि ने थोड़े बहुत अंश में कर लिया है —

1 चौदह पुव्वा या पूर्व (आज अनुपलब्ध)

1 उप्पाय (उत्पाद)।
2 अग्गेणिय अथवा अग्गाणिय (? अग्रायणीय)[4]
3 वीरियप्पवाय (वीर्यप्रवाद)।
4 अत्थिनत्थिप्पवाय (अस्तिनास्तिप्रवाद)।
5 नाणप्पवाय (ज्ञानप्रवाद)।
6 सच्चप्पवाय (सत्यप्रवाद)।
7 आयप्पवाय (आत्मप्रवाद)।
8 कम्मप्पवाय (कर्मप्रवाद)।
9 पच्चक्खाणप्पवाय (प्रत्याख्यानप्रवाद)।
10 विज्जिणुप्पवाय (विद्यानुप्रवाद)।
11 अवंभ (अवध्य)।
12 पाणाउम (प्राणायु)।
13 किरियाविसाल (क्रियाविशाल)।
14 लोगविंदुसार (लोकबिंदुसार)।

2 बारह अंग

1 आयार (आचार)।
2 सूयगड (सूत्रकृत)।
3 ठाण (स्थान)।
4 समवाय
5 वियाहपण्णत्ति (व्याख्याप्रज्ञप्ति), जो सामान्यतया भगवती कहा जाता है।
6 नायाधम्मकहाओ (ज्ञाताधर्मकथा)।
7 उवासगदसाओ (उपासकदशा)।
8 अंतगडदसाओ (अन्तकृतदशा)।
9 अणुत्तरोववाइयदसाओ (अनुत्तरोपपातिकदशा)।
10 पण्हावागरणाइं (प्रश्नव्याकरणानि)।
11 विवागसूयम् (विपाकसूत्रम्)।
12 दिट्ठिवाय (दृष्टिवाद) आज उपलब्ध नहीं है।

3 बारह उपांग (बारह अंगों के अनुरूप)

1 उववाइय (औपपातिक)
2 रायपसेणिज्ज (राजप्रश्नीय)।
3 जीवाभिगम।
4 पन्नवणा (प्रज्ञापना)।
5 सूरियपण्णत्ति सूर्यप्रज्ञप्ति
6 जंबूद्दीवपण्णत्ति (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति)।
7 चंदपण्णत्ति (चन्द्रप्रज्ञप्ति)।
8 निरयावली।
9 कप्पावडंसिआओ (कल्पावतंसिका)।
10 पुप्फीआओ (पुष्पिका)।
11 पुप्फचूलिआओ (पुष्पचूलिका)।
12 वण्हिदसाओ (वृष्णिदशा)।

---

1 देखो व्यवर इण्डि एण्टी पुस्त 17, पृ 279 आदि, 339 आदि पुस्त 18 पृ 181 आदि, 369 आदि पुस्त 19 पृ 62 आदि पुस्त 20 पृ 170 आदि, 365 आदि और पुस्त 21 पृ 14 आदि 106 आदि 177 आदि 293 आदि 327 आदि 369 आदि।

2 देखो विंटरनिटज गशिष्ट डेर इण्डिशन लिटरेटूर भाग 2 पृ 291 आदि।

3 देखो शार्पेटियर वही प्रस्ता पृ 9 आदि बेल्वलकर ब्रह्मसूत्राज ऑफ बादरायण पृ 107 आदि।

4 देखो शार्पेटियर, वही प्रस्ता पृ 12।

4. दस पइण्ण अथवा प्रकीर्णानि

1 चउसरण (चतु : शरण ।	2 आउरपच्चक्खाण (आतुरप्रत्याख्यान) ।
3 भक्तपरिण्ण (भक्त परिज्ञा) ।	4 मथार (सस्तार) ।
5, तडुलवेयालिय (? तण्डुलवैतालिक) ।	6 चदाविउझमा (चन्द्रवेध्यक) ।
7 देविंदत्थव (देवेन्द्रस्तव) ।	8 गणिविज्जा (गणितविद्या) ।
9 महापच्चक्खाग (महाप्रत्याख्यान) ।	10 वीरत्थव (वीरस्तव) ।

5. छह छेद सूत्र

1 निसीह (निशीत्थ) ।	2 महानिसीह (महानिशीथ) ।
3 व्ववहार (व्यवहार) ।	4 आयारदसाओ (आचारदशा),यादेसासूयस्कध (दशाश्रुतस्कध) ।
5. बृहत्कल्प ।	6 पचकल्प ।

6. चार मूल सूत्र

1 उत्तरउझयण (उत्तराध्ययंन) ।	2 आवस्सय (आवश्यक) ।
3 दशवेयालिय (दशवैकालिक) ।	4 पिंडनिज्जुत्ति (पिण्डनिर्युक्ति) ।

7 दो सूत्र :

1 नन्दीसुत्त (नन्दीसूत्र) ।	2. अणुयोगदारसुत्त (अनुयोगद्वारसूत्र) ।

उपरोक्त सब सिद्धान्त ग्रन्थ श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ही हैं क्योकि दिगम्बरो ने इन्हे अस्वीकार कर दिया है । दिगम्बरो की यह दन्तकथा उस भीषण दुष्काल से सम्बन्धित है कि जो मगध मे चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्य काल मे पडा था । भद्रबाहु और उनके शिष्यो के दक्षिण-प्रवास के पश्चात् जैनधर्म के पवित्र सिद्धान्त ग्रन्थो का विस्मरण द्वारा नाश होने का भय उपस्थित हो गया और स्थूलभद्र एवम् उसके शिष्यो ने एक परिषद् उन साधुओ निमत्रित की कि जो उधर ही रह गए थे । यह परिषद ई पूर्व तीसरी सदी मे मौर्य साम्राज्य की राजधानी एवम् जैनसंघ के इतिहास मे प्रसिद्ध पाटलीपुत्र मे एकत्रित हुई थी । जैनो की इस परिषद ने जैसा कि डा शार्पेटियर कहता है, 'बहुत कुछ वही कार्य किया होगा कि जो बौद्धो की पहली सगीति याने परिषद ने किया था ।'[1] इस परिषद ने अगो और पूर्वो दोनो का ही पाठ स्थिर किया और यही से सिद्धान्त की प्रथम भूमिका प्रारम्भ हुई ।[2] परन्तु दक्षिण से लौटने वाले मुनियो को सिद्धान्त के इस प्रकार स्थिर किए पाठ से सन्तोष नही हुआ । उनने इस सिद्धात को मानने से इन्कार ही नही किया अपितु यह भी घोषित कर दिया कि पूर्व ज्ञान और अश ज्ञान दोनो ही विच्छेद

---

1 शार्पेटियर, वही, प्रस्तावना पृ 14 ।

2 'इस प्रकार, स्थूलभद्र की दन्तकथानुसार, पहले दस पूर्व और अगो का सिद्धान्त और अन्य शास्त्र जो कि भद्रबाहु रचित थे जैसे कि कल्पसूत्र, स्थिर हुए ।'—वही । इसलिए पाटलीपुत्र मे एक परिषद बुलाई गई जिसमे ग्यारह अग सकलित किए गए और 14 पर्वो मे से बच रहे पूर्व का 12 वा अंगद्दिट्ठिवाय नाम को सग्रहित हुआ ।'—विंटर्निट्ज, वही, पृ 293 । देखो फार्कहर, रिलीजस लिटरेचर आफ इण्डिया, पृ. 75, याकोबी, कल्पसूत्र, प्रस्ता पृ 11, 15 । पाटलीपुत्र की परिषदे का हेमचन्द्र के वर्णन के लिए देखो परिशिष्टपर्वन्, सर्ग 9, श्लोक 55-76, 101-103 ।

चला गया है ।[1] दिगम्बरों की इस मान्यता का कि जो आज सिद्धान्त रूप में उपलब्ध है वह मूल रूप से नहीं है यही आधार है । हम आगे थोड़ी ही देर बाद देखेंगे कि उनकी यह दन्तकथा श्वेताम्बर मान्यता के कारणों के विचार दृष्टि से कुछ भी महत्त्व की नहीं है ।

परन्तु इस प्रश्न पर विचार करने के पूर्व हम दूसरी परिषद् का भी कि जो देवर्धिगणि के नेतृत्व में वल्लभी में गुजरात देश की एकत्रित हुई थी । उल्लेख कर देना चाहते हैं । इस देवर्धिगणि का जैन साहित्यिक इतिहास में वैसा ही स्थान है जैसा कि बौद्ध साहित्य के इतिहास मे बुद्धघोष का है । यह जैन परिषद ई. छठी सदी के प्रारम्भ में मिली थी । मगध की पहली परिषद के पश्चात् काल व्यतीत होते होते श्वेताम्बर सिद्धान्त फिर से अव्यवस्थित हो गया यही नहीं अपितु उसके सम्पूर्णतया नष्ट हो जाने का भी पूरा पूरा भय हो गया । इसलिए जैसा कि हम पहले ही देख आए हैं महावीर निर्वाण के पश्चात् 980 अथवा 993वें वर्ष में एक देवर्धिगणि नाम के महान् जैनाचार्य ने जो कि क्षमाश्रमण कहलाता था, यह देख कर कि सिद्धान्त लुप्तप्राय होता जा रहा है क्योंकि वह लिखा नहीं लिया गया है दूसरी बड़ी परिषद वल्लभी में एकत्रित की ।[2] बारहवां अंग तो जिसमें कि चौदह पूर्वों का ज्ञान संग्रह किया गया था उस समय तक नष्ट हो ही चुका था और इसलिए जो कुछ शेष रहा था उसी को लिख कर तब सुस्पष्ट रूप दे दिया गया । इस प्रकार देवर्धिगणि का यह प्रयत्न कुछ प्राचीन लेखी प्रतों और कुछ स्मृति परम्परा के आधार से पवित्र धर्मशास्त्रों के सिद्धान्त के संकलन और सम्पादन का ही रहा होगा ।[3] जैसा कि आधुनिक विद्वानों में से अधिकांश का मानना है हम भी यह शंका करने की आवश्यकता नहीं है कि सिद्धान्त का समस्त बाह्य रूप ध्रुवसेन के समय का ही है कि जिसकी संरक्षकता मे यह महा परिषद सम्मिलित हुई थी ।

अब दिगम्बर दन्तकथा का विचार हम करें कि जो कहती है कि मगध के भीषण दुष्काल के बाद ही सिद्धान्त सम्पूर्णतया विस्मृत या नष्ट हो गया था । पहली बात तो यह है कि इस प्रकार का प्रतिस्थापक कथन किया जा सके ऐसा कोई भी आधार हम प्राप्त नहीं है । यहां एक बात प्रारम्भ में ही कह देना अति आवश्यक है और वह यह कि दिगम्बर भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि भगवान् महावीर के प्रथम शिष्य सब पूर्वों और अंगों के ज्ञाता थे । उन्हें भी द्वादशांगी का श्वेताम्बरों की भांति ही बहुमान है ।[4] इसलिए हम यह निश्चय करना ही

---

1 मगध के भीषण दुष्काल आदि के लिए देखो शार्पेंटियर वही प्रस्ता पृ 13 15 विंटरनिट्ज वही, और वही स्थान ।

2 शार्पेंटियर, वही, प्रस्ता पृ 15 । देखो विंटरनिट्ज वही पृ 293 294 । याकोबी सबुइ, पुस्त 22 प्रस्ता पृ 37-38 । एक अन्य परम्परा के अनुसार सिद्धान्त का प्रकाशन श्री स्कंदिलाचार्य की प्रमुखता में हुई मथुरा की परिषद् में हुआ था । ब्यूलर इण्डि एण्टी पुस्त 17 पृ 282 ।

3 पुव सवसिद्धान्ताना पाठन च मुखपाठनेऽ वा सित । —याकोबी कल्पसूत्र पृ 117 । देखो विंटरनिट्ज वही, पृ 294 । इस परिषद् के कार्य विवरण और प्रतिसंस्करणकारों की शैली का ठीक परिचय के लिए देखो शार्पेंटियर वही प्रस्ता पृ 16 आदि । प्रत्येक गुरु के अथवा कम से कम प्रत्येक उपाश्रय के लिए पवित्र धर्मग्रन्थों की प्रतियां उपलब्ध करने को देवर्धिगणि ने सिद्धान्त का बहुत बड़ा संस्करण यानि अनेक प्रतियां तैयार कराई होंगी । —याकोबी सबुइ, पुस्त 22 प्रस्ता पृ 38 ।

4 देखो ब्यूलर इण्डि एण्टी पुस्त 7 पृ 29 । फिर भी हम श्वेताम्बरों एवम् दिगम्बरों दोनों ही द्वारा कहा जाता है कि अंगों के अतिरिक्त पूर्व वह जान वाले अन्य और सम्भवतया प्राचीन भी ग्रन्थ थे जिनकी मूलतः संख्या चौदह थी । —याकोबी, वही प्रस्ता पृ 44 ।

शेष रह जाता है कि मूल सिद्धात सर्वथा ही विलुप्त या नष्ट नही हो गया था। प्राचीन लिपिक साक्षी जो कि इस सम्बन्ध मे प्रस्तुत की जा सकती है, वह मथुरा के शिलालेखो की है। जैसा कि हम देख आए हैं, उन अभिलेखो में जो अनेक शाखाओ और कुलो का निर्देश किया गया है, उनकी अभिन्नता उन शास्त्रो के उल्लेखो मे बराबर प्रमाणित होती है कि जिन्हे 'दिगम्बर परवर्ती और मूल्यहीन घोषित करते हैं हालाकि उनका कुछ अ श मे उपयोग करते भी वे मालूम होते है।'[1] फिर महावीर सम्बन्धी दन्तकथा भी मथुरा-शिल्प मे जैसी कि श्वेताम्बर शास्त्रो मे उल्लिखित पाई जाती है, वैसी ही अ कित मिलती है। जैन साधुओ को वाचक[2] याने पाठक या उपदेशक के विरुद सहित उल्लेख किया गया है। डा विंटरनिट्ज के अनुसार यह शेषोक्त तथ्य इस बात की साक्षी प्राचीनलिपिक देता है कि जैनो के पवित्र धर्म शास्त्र ईसवी युग को प्रारम्भ तक तो अवश्य ही विद्यमान थे।[3] फिर जैसा कि पहले कहा जा चुका है जैन साधू अपवाद रूप से नग्न भी रह सकते है ऐसा श्वेताम्बरो के ग्रन्थो मे भी कहा गया है। ये सब बातें प्रमाणित करती है कि मूल पाठ मे मनमाना फेरफार करने का जरा भी साहस किसी ने भी नही किया था अपितु उन्हे जहा तक सम्भव हुआ वहा तक सत्य रूप मे ही दिया गया था। अन्त मे जैन दन्तकथा की प्रामाणिकता की सब से बडी साक्षी यह है कि अनेक उपयोगी विवरणो मे वह बौद्ध दन्तकथा से एकदम ही मिलती हुई है।

अनेक विद्वानो के अभिप्रायानुसार सिद्धान्त के महत्वपूर्ण अशो मे ग्रीक खगोल के विचारो का उल्लेख नही होना भी इसका पुष्ट प्रमाण है कि ये सिद्धान्त ग्रथ अधिक नही तो कम से कम ईसवी सन् की पहली शती से तो अपरिवर्तित और अबाधित रहना ही चाहिए।[4] 'इनके छदो (Terminus a quo) पर से याकोबी जैसे सूक्ष्म परीक्षक और भारतीय छन्दशास्त्र को निष्णात का जैसे ही लगते ये सिद्धान्त ग्रन्थ प्रारम्भस्थल हैं क्योकि सामान्यत: इन सिद्धान्त ग्रन्थो मे व्यवहृत सभी छद चाहे वह वैतालिय, त्रिष्टुभ और आर्या कोई भी हो, पाली सिद्धान्त ग्रन्थो के छन्दो की अपेक्षा स्पष्ट ही अधिक विकसित है यही नही अपितु ये सिद्धान्त ग्रथ ललितविस्तार एवम् अन्य उत्तरीय बौद्ध ग्रथो मे प्रयुक्त से अपेक्षाकृत स्पष्टत प्राचीन है। इस अति प्रखर साक्षी से याकोबी इस निष्कर्ष पर पहुचा कि सिद्धान्त का प्रमुख और महत्व का प्राचीन भाग ईसवी पहली शती और त्रिपिटक काल के मध्य का याने ई पूर्व 300 से लेकर ई 200 की अवधि मे रचा हुआ होना ही चाहिए और मैं भी इस निष्कर्ष को बिलकुल न्याययुक्त ही मानता हू।'[5]

इसके अतिरिक्त सारे सिद्धान्त ग्रथो मे छुटेछवाए अनेक वाक्य है कि जो जैन सिद्धान्त का समय निश्चित करने मे परम सहायक होने जैसे हैं। इन सब वाक्यो को उद्धृत करना यहा आवश्यक नही है, फिर भी यहा एक

---

1 शार्पेटियर, वही, प्रस्ता पृ 11। देखो ब्हूलर, वही और वही स्थान।

2 वाचकस्य अर्यबलदिनस्य...। –ब्हूलर, एपी इण्डि, पुस्त 1, लेख स 3 पृ. 382। देखो वही लेख स. 4, 7, आदि, पृ 383-386। 3 देखो विंटरनिट्ज, वही और वही स्थान।

4 देखो शार्पेटियर, वही, प्रस्ता पृ 25। 'परन्तु अधिक वजनदार तर्क यह है कि सिद्धान्त मे हमे ग्रीक ज्योतिष का कुछ भी प्रभाव या चिन्ह नही दीखता है। सत्य तो यह है कि जैन ज्योतिष एक अविश्वासनीय असम्भवता की पद्धति है। यदि जैन ज्योतिष के लेखक को ग्रीक ज्योतिष का जरा भी ज्ञान होता तो वैसी असम्भव बातें लिखी ही नही जा सकती थी। चू कि ग्रीक ज्योतिष का भारत मे प्रवेश तीसरी या चौथी, सदी ईसवी मे हुआ लगता है, इससे ऐसा अनुमान होता है कि जैनो के आगम ग्रन्थ उस काल से पूर्व के ही रचित है।' –याकोबी, वही, प्रस्तावना, पृ 40।

5 शार्पेटियर, वही, प्रस्तावना, पृ 25-26, याकोबी, वही, प्रस्तावना पृ 41 आदि।

वाक्य उद्धृत करना उचित है क्योंकि सिद्धान्त-रचना काल के प्रश्न पर वह अच्छा प्रकाश डालता है। डा शार्पेंटियर के शब्दो मे वह इस प्रकार है 'दूसरे उपांग रायपसेणइज्ज मे जिसका दीघनिकाय के पायासीसुत्त से निकट सम्बन्ध देखकर प्रो लायमन ने दीर्घ विचार किया था एक स्थान पर कहा गया है कि किसी ब्राह्मण ने अमुक अपराध किया हो तो उसे डाम दिया जाता था —याने सुनख (कुत्ते), या कुण्डिय का आकार उसके भाल पर डाम दिया जाता था। यह वर्णन कौटिल्य के अर्थशास्त्र[1] मे दिए वर्णन के ही अनुरूप है जिसमे लिखा है कि चार चिन्ह इसके लिए प्रयोग किए जाए—याने चोरी के लिए कुत्ते का, गुरुतल्पे (गुरु पत्नि के साथ पापाचरण) के लिए भग का मनुष्य की हत्या के लिए कबंध का और सुरापान के लिए मद्यध्वज का चिन्ह डाम दिया जाए। परन्तु यह दण्ड विधान मनु एवम् परवर्ती स्मृतियो मे नही है यही नही अपितु इनमे ब्राह्मण को शारीरिक दण्ड से भी ऊपर माना गया है। ब्राह्मणो के शारीरिक दण्ड देने की प्रथा कौटिल्य के बाद ही बन्द हो गई होगी परन्तु जैन ग्रथो मे ऐसे दण्ड का उल्लेख होने से यही अनुमान निकलता है कि अन्य धर्मशास्त्रो की अपेक्षा ये जैन ग्रथ पहले के और कौटिल्य के समीपवर्ती काल के होना चाहिए।[2]

इन सब बातो को देखते हुए एक बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है कि श्वेताम्बरो के अभी के सिद्धान्त ग्रथ कब बाद के नही है यही नही अपितु कितने ही स्थानो पर उनमे घट बढ हुई होने पर भी मूल ग्रथो या पाठो पर ही वे रचित हैं। इन मूल पाठो की रचना समयक्रम से कब-कब हुई यह प्रश्न रोचक होते हुए भी बड़ा उलझन भरा है। फिर भी इस बात मे कोई भूल नही दीखती है कि इनका निश्चित रूप पाटलीपुत्र की परिषद मे स्थिर किया हुआ ही होना चाहिए, यही नही अपितु कितनी ही विशिष्ट बातो मे तो पाठ उसमे भी प्राचीन काल के होना चाहिए।[3] अब हम संक्षेप मे सिद्धान्त ग्रथो के विषयो पर विहगम दृष्टि [illegible] प्रत्येक की आवश्यक बातो की चर्चा करते हुए उनका साराश देने का यहा प्रयत्न करेंगे।

क्रमानुसार प्रथम स्थान चौदह पूर्वो का है। ये ही सिद्धान्त के प्राचीनतम विभाग हैं और श्वेताम्बर भी दृष्टिवाद नाम के बारहवें अग के साथ साथ ही सम्पूर्णतया विच्छेद जाना इनका मानते हैं। ये सर्वोत्तम प्राचीन सिद्धान्त स्वतन्त्र रूप मे स्थायी नही रह सके तो इनका सकलन दृष्टिवाद नाम के बारहवें अग मे किया गया था। परन्तु फिर भी इनका ज्ञान स्थायी नही रखा जा सका और दृष्टिवाद का बारहवा अग भी विलुप्त हो गया। पहले कहा ही जा चुका है कि पूर्वों का उपदेश महावीर ने स्वयम् दिया था परन्तु अगो की रचना उनके गणधर शिष्यों द्वारा हुई थी। डा शार्पेंटियर कहता है कि यह दन्तकथा पौराणिक तीर्थकर ऋषभदेव द्वारा सिद्धान्त के रचे जाने की बात की उपेक्षा कर देती है और सिद्धान्त के मूल का महावीर द्वारा ही रचा जाना कहना निश्चय ही उचित है। तथ्यो के सामान्य वर्णन की दृष्टि से यह कथन कि सिद्धान्त का प्रमुख अश महावीर और उनके निकटतम उत्तराधिकारियो से उद्भूत है विश्वस्त ही लगता है।[4]

पूर्वो के पश्चात् अगो का नम्बर या स्थान आता है। प्रत्येक अग मे कुछ औपचारिक विशिष्टता देखी जाती है कि जिससे किसी किसी का पारस्परिक निकटतम सम्बन्ध प्रमाणित होता है। बारह अगो मे से पहला, आयाराग

---

1 शामशास्त्री कौटिल्याज अर्थशास्त्र पृ 250 उदयवीर कौटलीय अर्थशास्त्र अधि 4, अध्या 8 पृ 136।
2 शार्पेंटियर वही प्रस्ता पृ 31।
3 मुझे यह नही लगता है कि प्रमुख पवित्र धर्मग्रन्थ आज के रूप मे पाटलीपुत्र की परिषद् में निर्धारित पाठों के ही अनुरूप हैं।—वही। देखो याकोबी, वही प्रस्ता पृ 9, 43।
4 शार्पेंटियर वही प्रस्ता पृ 11 12।

का ठीक-ठीक वर्णन जहा किया गया है, वहा सिद्धान्त सम्बन्धी अनेक ज्ञातव्य बाते, पौराणिक भक्तो और जैन इतिहास का भी विवेचन है ।[1] सिद्धान्त को और अन्य अगणित कल्पनाओ को यथार्थ रूप मे समझने का सपूर्ण भण्डार या विश्वकोश इन दोनो अगो मे है ।

जैनो का पाचवा अग भगवतीसूत्र है । यह जैन सिद्धान्त का अत्यन्त महत्वपूर्ण और मौलिक ग्रन्थ है । जैन इतिहास की दृष्टि से भी इसका स्थान अद्वितीय है । पार्श्व और महावीर काल के एव उनके समकालिको सम्बन्धी अपने पूर्व अध्यायो मे हमने इस अग का एक से अधिक बार उल्लेख किया है । इसके अतिरिक्त इसमे जैन मान्यताओ की अनेक उलझनो का स्पष्टीकरण भी है जो कही उपदेश रूप से तो कही दन्तकथा के संवाद (ऐतिहासिक सवाद) रूप से दिया गया है । इसकी दन्तकथाओ मे सबसे प्रमुख वे हैं जो कि महावीर के समकालिको और पूर्वगामियो के, पार्श्व के अनुयायियो के, जामाली और गोशाल के सम्प्रदायो के, विषय मे है । गोशाल पर तो भगवती का पन्द्रहवा शतक समूचा ही है ।[2] 'इन सब दन्तकथाओ से,' व्यँवर कहता है कि 'हमारे पर ऐसी छाप पडती है कि ये सब दन्तकथाए परम्परा से सरल भाव मे चलती आ रही है । इसीलिए, बहुत सम्भव है कि, वे महावीर के जीवन काल की अनेक प्रमुख घटनाओ की (विशेषत उनकी कि जो बौद्ध दन्तकथाओ के अनुरूप हैं) अति महत्व की साक्षी प्रस्तुत करती है ।'[3]

सिद्धान्त के छठे अगग्रथ नायाधम्मकहाओ मे हमे जैनो के वर्णनात्मक साहित्यक का दिग्दर्शन होता है । यह कहानियो या उपमेय दृष्टान्तो का सग्रह ग्रन्थ है जो नैतिक उदाहरण प्रस्तुत करने की दृष्टि से रचित हैं, और जैसा कि समस्त भारती वर्णनात्मक साहित्य मे देखा जाता है. जैनो का यह कथा साहित्य उपदेशात्मक ही है । अपने धर्मोपदेश के प्रारम्भ मे प्रत्येक जैन धर्मोपदेशक साधू सामान्यतया कुछ गद्य मे अथवा पद्यो मे, अपनी धर्मदेशना का विषय कहता है और फिर उसके निरूपण मे एक लम्बी रोचक कथा कह सुनाता है ताकि उसके अनुयायी वर्ग मे महावीर के सिद्धान्तो के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो क्योकि यही उपदेश की प्रभावकता का अमोघ साधन है ।

हर्टल के अनुसार जैनो की ऐसी धर्मदेशना का साहित्यिक रूप बौद्ध जातको से मिलता हुआ ही नही है, अपितु उससे कही बढा-चढा भी है ।[4] पौर्वत्य विद्याविद् का कहना है कि 'भारतीय इस कला की लाक्षणिक

---

1 देखो विंटर्निट्ज, वही और वही स्थान, व्यँवर, वही, पृ 377 । 'बारह अंगो के ब्योरे सहित विवेचन के साथ यहा भी, जैसा कि नन्दी मे हैं, दुवालसगम गणिपिडग समस्त पर एक पाठ दिया हुआ है । इस पाठ मे उन सब आक्षेपो का कि जो भूतकाल मे उस पर किए गए थे, जो वर्तमान मे किए जा रहे है और जो भविष्य मे किए जाएगे, विचार सक्षेप मे किया गया है और इसी भाति सक्षेप मे इन्ही तीनो कालो मे जो इसे श्रद्धा सहित मौनस'मति प्राप्त होने वाली है उसका भी विचार किया गया है और अन्त मे इसकी शाश्वत्ता की निश्चित घोषणा की गई है : न कयाइ न आसि, न कयाइ ना 'त्तिथ, न कयाइ भविस्सति ।'—वही, इस पर व्यँवर नीचे लिखी टिप्पणी करता है 'अभयदेवसूरि के अनुसार जामाली, गोष्टामाहिल, आदि आदि का विरोध—याने सात निन्हवो का' —वही, टिप्पण 65 ।

2. देखो विंटर्निट्ज, वही, पृ 300-301 । 'जिन दन्तकथाओ का यहा सकेत किया गया है, वे ही हमारा खास ध्यान आकर्षित करती हैं कि जिनमे महावीर के समकालिक अथवा पुरोगामियो का, उनके भिन्न मती विरोधियो के विचारो का...और उनके धर्म-परिवतन का विचार किया गया है ।'—व्यँवर, इण्डि एण्टी , पुस्त 19, पृ 64 ।

3 वही, पृ 65 ।

4 हर्टल, वही, पृ 7 ।

जना का वणनात्मक कथाए हैं। कथा कहन की जना की रीति बौद्धा की कथा कहन की रीति स कुछ अति आव श्यक बाता म विभिन्न है। उनकी मूल कथा भूतकाल की नही अपितु वर्तमान काल की होती है, वे अपने सिद्धात की बाता की शिक्षा प्रत्यक्ष रूप मे नही देत, और उनकी कहानिया म भावी जिन या तीथकर को पात्र रूप म प्रस्तुत करन की भी काई आवश्यकता नही होती है।'[1]

जैना के य वृत्तान्त अधिकाश म उपमय वार्ता के रूप म है। मामा यत मुख्य वार्ता की अपक्षा उसके उपमेय पर ही खूब भार दिया जाता है। विवच्य आगम के प्रथम स्कध मे एक वार्ता एसी ही है जो इस प्रकार है एक सेठ की चार पुत्र वधुए ह। इनकी परीक्षा लेन के लिए सेठ प्रत्येक को पाच दान शालि याने धान के देता ह और उन्ह उस समय तक सुरक्षित रखन का कहता ह जब तक कि वह उन्ह लौटान का आदश नही द। इसके अन्तर इन पुत्र वधुआ म स एक यह विचारती हुई उन पाच दानो को फेंक देती ह कि भण्डार मे धान ही धान भरा हुआ ह। जब सेठ मागेंगे मैं उन्ह दूसर दान भण्डार म स लकर लौटा दूंगी। 'दूसरा भी इसी प्रकार सोचती हुई व पाच दाने खा जाती ह। तीसरी उन्ह अपने आभूषणो क टिब्बे म सावधानी से रख देती ह। परन्तु चौथी उन्ह बो देती है और उनस अच्छी फसल बार बार उठाती है यहाँ तक कि पाच वर्षो म इस फसल स धान के भण्डार भर जात हैं। जब सेठ अन्त मे अपने दिए दान लौटाने की आज्ञा देता ह तो वह पहली दो पुत्र वधुओं की निंदा करत हुए उन्ह गृहस्थी के निकृष्टतम काय करने का भार सौंपता है तीसरी को गृहस्थी की समस्त सम्पत्ति की रक्षा का आदश देता है और चौथी को सारी गृहस्थी का प्रबध सौप देता ह और उस गह स्वामिनी बना देता है। इस सामान्य कथा का उपनय यह है कि साधुओ की भी पुत्र-वधुओ की सी चार जातिया होती ह। कुछ तो अगी-कार किए पच महाव्रतो की परिपालना की जरा भी चिंता नही करत कुछ उनकी उपेक्षा करत हैं परन्तु अच्छे साधू व है जो सतकता स पच महाव्रतो को पालते है और उत्कृष्टतम व हैं जो न केवल स्वयम् पालते ही हैं अपितु उन्ह पालन वाले अनुयायियो को भी खोजत हैं।[2]

सातवा आठवा और नवा अग भी बहुताश म वणनात्मक विषयो क ही ह। इनम से सातवें याने उवास-गदसाओ म दस धनाढ्य और सुशील श्रावको की कथाए है कि जो गहस्थ होन पर भी तपस्या द्वारा अन्त म उस उच्च दशा को पहुच जात हैं कि जहा श्रावक रहत हुए भी उनम चमत्कारिक शक्तियां प्रगट हो जाती ह। अन्त म व यथाथ जन साधू की ही भांति सलेखना व्रत मे दिवगत होत हैं और मर कर तपस्वियो क उपयुक्त देवताओ या स्वग म जात है।[3] इनम स अत्यन्त रोचक कथा धनी कुम्हार सद्दालपुत्त की है कि जो कभी आजीविको का मक्खलि याने अनुयायी था और जिस महावीर न अपन सिद्धात का श्रद्धान विश्वास पूवक[4] कराया था। इसी प्रकार आठवें और नवें अग म उन धर्मात्माओं की दन्तकथाए हैं कि जिनन अपन सासारिक जीवन का समाप्त कर या तो मोक्ष या उच्चतम स्वग प्राप्त किया था।[5]

अब हम दसवें और ग्यारहवें अग का विचार करेंगे जो क्रमश प्रश्नव्याकरण और विपाकसूत्र है। दसवा अग दन्तकथाओ का नहीं अपितु सैद्धांतिक बातो का है। परन्तु ग्यारहवा तो दन्तकथाओं ही का है। दसवें म

---

1 वही पृ 8। 2 देखो नाता सूत्र, 63। पृ 115 120।

3 देखो हरनाली उवासगदसाओ, भाग 1 पृ 1 44 आदि।

4 देखो हरनोली वही भाग 1 पृ 105–140।

5 देखो बार्नेट दी अन्तगडदसाओ एण्ड अनुत्तरोववाइयदसाओ पृ 15–16 110 आदि।

दस प्रकार के धर्म की चर्चा है। इसके दो विभाग किए गए हैं। एक में अधर्मों की विवेचना की गई है और दूसरे में धर्मों की। अधर्म याने जिनसे परहेज करना चाहिए जो कि पांच हैं याने हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह-आसक्ति। इन पांचों के उलट याने अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच धर्म हैं जिनका आचरण करना चाहिए।[1] पक्षान्तर में विपाकसूत्र नामक ग्यारहवें अंग में पुण्य और पाप कार्यों के फलों की दन्तकथाएं हैं कि जो डा. विटर्निट्ज के अनुसार अवदानशतक और कर्मशतक[2] नामक बौद्ध धर्मकथाओं जैसी ही हैं।

बारहवां अंग आज हस्ति में नहीं है। चौदह पूर्वों का कि जो अंग साहित्य में पृथक स्वतन्त्र रूप में अस्तित्व में नहीं रहे थे, समावेश इस बारहवें अंग में किया गया था, परन्तु दुर्भाग्य से वह भी विच्छेद हो गया।[3] बारहवें अंग दृष्टिवाद के विच्छेद हो जाने के विषय में एक प्रश्न विचारणीय है और वह महत्व का भी है। प्रख्यात योरोपीय जैनविद्याविद् कहते हैं कि जैन स्वयम् ही कोई विश्वासनीय कारण इस बात का नहीं देते हैं कि उनका यह प्राचीनतम और अत्यन्त पूज्य धर्मज्ञान कैसे नष्ट हो गया। अतः इस सम्बन्ध में उनने अनेक मत प्रकट किए हैं क्योंकि उन्हें यह एक अति अद्भुत बात दीखती है। हम यहां कुछ ही विद्वानों के मतों का दिग्दर्शन कराते हैं। व्यैवर कहता है कि सिद्धान्त के मूल तत्वों के अनुरूप नहीं होने से ही दृष्टिवाद की जैनों ने इरादापूर्वक उपेक्षा की ऐसा लगता है[4] डा. याकोबी कहता है कि दृष्टिवाद इसलिए अव्यवहृत और लुप्त हो गया कि उसमें महावीर और उनके विरोधियों के प्रवादों का ही वर्णन था और इनमें रस घटते घटते ऐसी स्थिति उपस्थित हो गई कि स्वयम् जैनों को ही वे एकदम अबूझ हो गए।[5] अन्तिम मत हम डा. लायमन का देते हैं जो इसके विच्छेद जाने एक दम अनोखा ही कारण कल्पना करते हैं। वे कहते हैं कि इसमें मन्त्र, तन्त्र, इन्द्रजाल फलित ज्योतिष आदि विद्याओं के अनेक पाठ होना चाहिए और उसके विच्छेद जाने का भी यथार्थ कारण यही होना चाहिए।[6]

जैनों के बारहवें अंग के नष्ट हो जाने के उपरोक्त अनेक कारणों में जो एक सामान्य कमी मालूम पड़ती है वह यह है कि दृष्टिवाद स्वयम् जैनों की उपेक्षा ही से नष्ट हुआ। दृष्टिवाद याने (पूर्व जो कि बहुतांश में वही है।'[7]) यह बात सुनने में कुछ अद्भुत सी लगती है और विशेषकर इसलिए कि वह जैनों की दन्तकथा से जरा भी मेल नहीं खाती है, क्योंकि जैनों की यह स्पष्ट मान्यता है कि पूर्वों का विच्छेद शनैः शनैः ही हुआ था और उनका

1 देखो व्यैबर इण्डि एण्टी. पुस्त 20, पृ 23।

2 देखो विंटर्निट्ज, वही, पृ 306।

3 बारहवें अंग के तीसरे विभाग में चौदह पूर्व का समावेश किया गया था। देखो व्यैवर, वही, पृ 174।

4. देखो व्यैवर, वही, पुस्त 17, पृ 286।

5, देखो याकोबी, सेबुई, पुस्त 22, प्रस्ता पृ 45, आदि।

6 '.. des Ditthivay eineganzanaloge tantra-artige Texpartie gatanden hat, sendern lasst damit zugleich aucherrathem. warrumder Ditthivay veloran geganzen isto' Leumann 'Beziehungen der Jaina-literatur Zu Andern literatur-kreisen Indians' Actesdu Congress a Leide, 1883, P 559

7 शार्पेंटियर, वही, प्रस्ता पृ 22–23। 'दन्तकथा निःसंदेह पूर्वों का दिट्ठीवाय के अनुरूप ही मानती है, व्यवर, इण्डि. एण्टी, पुस्त 20, पृ 170।

सम्पूर्णतया नाग तो महावीर निर्वाण के 1000 वर्ष पश्चात् भी हुआ यानि सिद्धान्त ग्रन्थों के अन्तिम प्रतिसंस्करण के ही समय। चाहे जिस अंश में हम जैनों की इस दन्तकथा को स्वीकार करें फिर भी डा शार्पेंटियर के अनुसार हम भी यहां कहेंगे कि जैनों का यह कथन सारा का सारा ही एक दम उपेक्षित और अवमानित किए जाने योग्य तो नहीं है।[1]

अब सिद्धान्त के दूसरे विभाग उपांगों का हम विचार करें। पहली बात तो यह है कि अंगों की संख्या के अनुरूप ही उपांगों की संख्या है। व्यबर और अन्य विद्वानों के अनुसार 'अंगों और उपांगों में सच्चे अंतरंग सम्बन्ध का ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं कि जो अंगों में एसा ही स्थान रखता हो।' उदाहरणार्थ पहला उपांग औपपातिक का ही लीजिए। जैसा कि पहले कहा जा चुका है इसका ऐतिहासिक महत्व इस बात में है कि इसमें महावीर के चम्पा में आगमन और वहां देशना देना एवम् चम्पा के राजा कूणिय यानि अजातशत्रु के महावीर के दर्शन और वन्दना का आना है।

दूसरे उपांग राजप्रश्नीय का अधिकांश भाग सूर्याभ देव के अपने बृहत्परिवार और परिकर सहित राजा श्वेत की अमलकप्पा नगरी में महावीर का वन्दन करने आने और विशेषतः उनके समक्ष नाच गान और वाद्यादि द्वारा अपनी भक्ति को प्रदर्शित करने के वर्णन में रुका हुआ[3] है। फिर भी इसका सारातिसार राजा पएसी (प्रदेशी) और श्रमण केसी के बीच हुए संवाद विवाद में आ जाता है जो कि जीव और देह के पारस्परिक सम्बन्ध को ले कर प्रारम्भ होता है और मुक्तमन राजा के जैनधर्मी हो जाने से समाप्त होता है।[4]

शेष उपांगों में से तीसरे और चौथे का हम साथ ही विचार कर सकते हैं क्योंकि वस्तु और चर्चा में दोनों ही समान हैं। तीसरे में संवाद रूप में चेतनमय प्रकृति के भिन्न भिन्न वर्गों और रूपों की चर्चा की गई है। पश्चात्तर में चौथे उपांग पन्नवणा या प्रज्ञापना में जीवों के भिन्न भिन्न भेदों की जीवनचर्या की विवेचना है।[5] यह प्रज्ञापना उपांग शेष सिद्धान्त ग्रन्थों से भिन्न दीख पड़ता है। खरतर और तपगच्छ की पट्टावलियों में महावीरात् चौथी सदी में होने वाले आर्य श्याम (अज्ज साम) या श्यामार्य इसके कर्ता कहे गए हैं।[6]

पांचवां छठा और सातवां उपांग सूर्यप्रज्ञप्ति, जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति और चन्द्रप्रज्ञप्ति है। ये जैनों के वैज्ञानिक ग्रन्थ हैं। भारतवर्षकी दन्तकथानुसार इनमें खगोल, भूगोल और स्वर्गादि का एवं काल गणना पद्धति का अनुक्रमित वर्णन किया गया है। पांचवें उपांग सूर्यप्रज्ञप्ति पर विस्तार में विचार करना आवश्यक है। डा व्यबर कहता है कि इसमें जैनों की खगोल का व्यवस्थित वर्णन है। ग्रीक प्रभाव ने इसमें परिवर्तन कुछ भी किया या नहीं यह एक

---

1 देखो शार्पेंटियर वही प्रस्ता पृ 23।

2 व्यबर वही पृ 366। देखो विन्टरनिटज वही और वही स्थान।

3 देखो राजप्रश्नीयसूत्र (आगमोदय समिति) सूत्र 1 आदि।

4 देखो वही सूत्र 65–79। 5 देखो व्यबर वही, पृ 371 373।

6 देखो इन्डियन एन्टी पुस्त 11, पृ 247 251। शार्पेंटियर के अनुसार चौथा उपांग स्पष्टतया युग-प्रधान आर्य श्याम की रचना कही गई है जो कालकाचार्य से निःसंदेह ही अभिन्न हैं और जिनका दन्तकथा विक्रमादित्य के पिता गर्दभिल्ल के समय में होना कहती है। शार्पेन्टियर, वही प्रस्ता पृ 27 देखो यानाबी जटशीतमजी म 34 पृ 251 आदि।

विचारणीय प्रश्न है। कुछ भी हो, उसमे हमे भारतीय ज्योतिष की वह मूल पद्धति मिलती है कि जो ग्रीको के प्रामाणिक और भारी प्रभाव के पहले की है।[1] भारतीय खगोल विद्या की मौलिक पद्धति का सूर्यप्रज्ञप्ति एक अद्वितीय उदाहरण है। पूर्व मे ग्रीक प्रभाव पडा उसके पूर्व की वह है। यह बात अन्य विद्वान भी स्वीकार करते है।[2] जैन इतिहास की दृष्टि मे उसका महत्व स्पष्ट है।

अन्तिम पाच उपाग निरयावली सूत्र नाम के एक ही मूल ग्रन्थ के पाच विभाग है। व्यैबर के शब्दो मे इन पाच विभागो को पाच उपाग रूप मे गिनना अ गो की संख्या मे उपागो की सख्या मिलाने के विचार से ही उद्भव हुई मालूम होती है।[3] आठवे उपाग का ऐतिहासिक महत्व उस बात मे है कि कुणिक के दस सौतेले भाई महान् लिच्छवी राजा चेडग के विरुद्ध किए युद्ध मे मारे गए थे और उसके फल स्वरूप उन सब ने भिन्न भिन्न नरको मे जन्म लिया।[4]

सिद्धात के दूसरे समूह उपांग के विषय मे इतना ही कहना पर्याप्त है। अब तीसरे समूह दस पयन्ना अथवा प्रकीर्णो का सक्षेप मे विचार करें। ये ग्रन्थ जैसा कि इस नाम शब्द का भावार्थ है, 'असंलग्न', 'शीघ्रता मे लिखी हुई रचनाओ का सग्रह है। जैसे वेदो के परिशिष्ट है, वैसे ही हम इन प्रकीर्णो को अ'गो के परिशिष्ट कह सकते है। कुछ अपवादो को छोड कर हम इनको वैदिक परिशिष्टो की भाति ही पद्य मे लिखे हुए पाते है। इनमे सर्वत्र सामान्यतया आर्या छन्द ही प्रयुक्त हुआ देखते हैं, वही छन्द जो अ गो मे कारिकाओं के लिए प्रयोग किया गया है।[5] इन पइन्नो मे अनेक विषय चर्चित हुए हैं। इन्हीं मे से एक विषय है वे प्रार्थनाए जिनके द्वारा अरिहत, सिद्ध, साधु और धर्म रूपी चार शरणो को स्वीकरण किया जाता है, अनशन द्वारा समाधि-मरण कहा जाता है। इन्ही मे मृण मे चेतना, गुरु और शिष्य के गुण, देवो की गणना आदि आदि विषयो की भी चर्चा है।[6]

सिद्धान्त का चौथा समूह छेदसूत्रो का है। इनमे साधारणत साधू-साध्वी की जीवनचर्या सम्बन्धी निषेधो का, उनकी स्खलना के दण्ड या प्रायश्चित्त का विचार किया गया है, हालाकि गौण रूप मे अनेक दन्तकथाए भी इनमे आ गई हैं। इसीलिए बौद्धो के विनय ग्रन्थो मे ये मिलते हुए है। कितनी ही बातो मे भिन्न होते हुए भी विषय और विवेचन पद्धति मे दोनो मे बहुत समानता है।[7] विटर्निट्ज और व्यैबर दोनो के अनुसार वर्तमान छेदसूत्रो का बहुत सा भाग अत्यन्त ही प्राचीन है, क्योकि इस विभाग के परमसाराश छेदसूत्र तीसरा, चौथा और पाचवा सिद्धात का प्राचीनतम भाग है।[8]

ये तीनो अर्थात् तीसरा चौथा और पाचवा छेदसूत्र जिनका नाम क्रमश दसा-कप्प-ववहार है, एक समूह

---

1 व्यैबर, इण्डि एण्टी, पुस्त 21, पृ 14–15।

2 देखो याकोबी, सेबुई, पुस्त 22, प्रस्तावना पृ 40; लायमन, वही, पृ. 552–553। थीबो, बएसो पत्रिका स 49, 1880, पृ 108। सूर्यप्रज्ञप्ति सम्बन्धी विशेष महत्व के कुछ तथ्यो के लिए देखो वही, पृ 107–121, 181–206। 3 व्यैबर, वही, पृ 23।

4 देखो निरयावालिकासूत्र, पृ 3–19। 5 व्यैबर, वही, पृ 106। देखो विंटर्निट्ज, वही, पृ 308।

6 देखो व्यैबर, वही, पृ 109–112, विंटर्निट्ज, वही और वही स्थान।

7 देखो व्यैबर, वही, पृ 179, विंटर्निट्ज, वही, पृ 309।

8 देखो विंटर्निट्ज, वही, पृ 309; व्यैबर, वही, पृ 179–180।

रूप म ही हैं।[1] इनमे स कल्प और व्यवहार की रचना बहुधा भद्रबाहु की ही कही जाती है जिनने इन्ह नौवें पूव स उद्धार किया था ऐसा भी कहा जाता है।[2] इस समूह में के दसा यान आचारदशा जिसे दशाश्रुतस्कंध भी कहा जाता है, के कर्ता रूप म तो भद्रबाहु के विषय में दंतकथा भी समथन करती है। इसी का आठवा अध्याय भद्रबाहु का कल्पसूत्र नाम स सुप्रसिद्ध है ही। यह सारा का सारा ही कल्पसूत्र है यार इस नाम के सारे ग्रन्थ के तीनो विभाग यान खण्ड। परन्तु याकोबी और अन्य विद्वान ठीक ही कहते हैं कि यथाथ मे अंतिम याने तीसरा खण्ड ही जिसका शीषक सामाचारी यान यतियो के नियम जिसे 'पयुषणा कल्प भी कहा जाता है' तो वह है और वही, आयारदसाओ के शेषांश सहित भद्रबाहु रचित कहा जाने योग्य है।[3]

भद्रबाहु के कल्पसूत्र की विस्तार से चचा करने की फिर स यहा आवश्यकता नही है। हम इसका पर्याप्त निर्ग्रन्थ महावीर और उनके पुरोगामी तईस तीथकरो के चरित्र, महावीर के उत्तराधिकारी जैन युगप्रधानाचाय और यतियो के पालने के विधि विधानो के वणन समय कर चुके हैं। छेदसूत्रो की इतनी ही चर्चा ही पर्याप्त है। आगे हम अंतिम दो विभागो का याने मूलसूत्र विभाग और इन चूलिका सूत्र विभाग का सक्षेप म विचार करेंगे।

पहले मूलसूत्र विभाग का ही लें। जैन सिद्धान्त के इस विभाग समूह का नाम मूलसूत्र क्यो दिया गया यह कुछ भी नही कहा जा सकता है। सामान्य बोलचाल म तो इस शब्द का अथ यही होता है कि मौलिक ग्रथ। परन्तु शार्पेटियर के अनुसार ऐसा ही सम्भव दीखता है कि बौद्धो की ही भांति जैनो ने भी इस मूल शब्द का प्रयोग मूल-पाठक के अथ म ही किया हो और वह भी भगवान महावीर के मूल शब्दो की अनुसार कथन भी किया गया हो।[4] इन सूत्रो के निम्नलिखित विषयो का जब विचार करते हैं तो इनम से पहले तीन साहित्यिक दृष्टि से, अत्यन्त महत्व के प्रतीत होते हैं। इनम भी उत्तराध्ययन जो इस विभाग का सब प्रथम सूत्र है और जिसमे प्राचीन धामिक काव्य के उदाहरण हैं सिद्धान्त का अति मूल्यवान विभाग है। साधु की आदश जीवनचर्या के नियमो और उन्हें स्पष्ट करने वाली उपमा कथाओ स यह सूत्र भरा हुआ है। प्राचीन विद्वानो के मतानुसार जो जो सार याकोबी ने दिया है उनमे मूल ग्रथ का उद्देश नएसाधु को उसके मुख्य आचारो की सूचना करने उदाहरणो और उपदेशो स साधु जीवन की महत्ता बताने आध्यात्मिक जीवन के भय स्थानो से उसे सावधान करने और कुछ सद्धान्तिक सूचनाए देना था है।[5]

जैन साहित्य के आधुनिक विद्वानो के अनुसार इसके अधिकांश विषय हमारे परम्परा प्राचीनतम होने की छाप डालते हैं और हम उसे ही बोद्धशास्त्रो का स्मरण दिलाते हैं विशेषतः दूसरा अंश अर्थात् वह कि जो सिद्धान्त का अत्यन्त आचार अंश है।[6] उसका उद्देश और उसमे चर्चित विषय इस प्रकार सूत्रकृतांग म मिलते जुलते हैं। फिर भी उत्तराध्ययन म अजैनवादो की चर्चा पूरी तरह स नहीं की गई है वहा कहीं सकेत मात्र उनका कर दिया गया है। ज्यो ज्यो समय बीतता गया त्यो अजैनवादो का भय कम होता गया और जैनधर्म की व्यवस्था दृढ़ता स जमती गई। तब साधु के लिए जीव और अजीव का ठीक ठीक ज्ञान होना महत्व का माना गया है क्योंकि इस ग्रथ के अन्त मे इसी विषय पर एक लम्बा अध्याय जोड़ दिया गया है।

---

1 देखो विंटरनिट्ज वही पृ 309, ब्यवर वही, 179, 210।

2 दसकप्पव्ववहारा निज्जूढा जेण नवपुव्वाओ। वन्दामि भद्दबाहु । ऋषिमण्डलस्तव श्लो 166।

3 याकोबी कल्पसूत्र पृ 22-23, विंटरनिट्ज वही, वही स्थान ब्यवर वही पृ 211।

4 शार्पेटियर वही प्रस्ता पृ 32। 5 याकोबी सबुई, पुस्त 45 प्रस्ता पृ 39।

6 देखो शार्पेटियर वही प्रस्ता पृ 34, विंटरनिट्ज वही पृ 312 ब्यवर, वही पृ 310।

7 याकोबी वही और वही स्थान।

इन मूलसूत्रो मे दूसरा आवश्यकसूत्र है और इसमे जैन साधू और गृहस्थ के आवश्यक छह कर्तव्यो का विचार किया गया है।[1] इन क्रियाओ के साथ ऐतिहासिक और अर्ध ऐतिहासिक महत्व के वृत्तात भी दिए गए हैं जो कि टीकाओ मे हमे वारसे के रूप मे प्राप्त होते है। व्यैबर के अनुसार 'इस शास्त्र मे इस विषय के महावीर के सिद्धात की विवेचना मात्र ही नही है, अपितु इस सिद्धान्त का इतिहास भी दिया गया है, याने महावीर के पुरोगामियो का, स्वयम् महावीर का और उनके ग्यारह गणधरो, एवम् विरोधियो निन्हवो का भी वर्णन है कि जिनने उनके उपदेशो मे शनै. शनै स्थान प्राप्त किया था। इन निन्हवो का कालक्रमानुसार विचार किया गया है। हरिभद्र ने प्राकृत गद्य मे और कभी कभी पद्य मे सम्बन्धित कथाए बहुत विस्तार मे दी है और दिट्ठति एव उदाहरणो की भी कथाए दी हैं कि जो सूत्र मे बहुधा दिए गए है।[2]

अब हम अन्तिम दो मूलसूत्रो का विचार करें। इनमे का दसवेयालिय विनय याने जैनसाधू के नियमों का विवेचन करता है। डा. विंटरनिट्ज के अनुसार यह सूत्र हमे बौद्धसूत्र धम्मपद का स्मरण कराता है।[3] प्रमुख जैन सिद्धातो के सम्पूर्ण परिदर्शक इस ग्रन्थ के रचियता महावीर के चतुर्थ पट्टधर शय्यम्भव या सज्जभव हैं। श्रीमती स्टीवन्सन इस सूत्र को 'साधू जीवन मे भी पाए जानेवाले पुत्र के प्रति पिता के प्रेम का स्मारक' रूप मानती है[4] क्योकि इसकी रचना मणक नामक पुत्र के लाभार्थ ही की गई थी।[5] चौथा मूलसूत्र पिण्डनिज्जुत्ती आगम का परिशिष्ट रूप मात्र है।

अब जैन सिद्धात के उन दो चूलिका सूत्रो का विचार करना ही हमारे लिए शेष रह जाता है कि जिनके नाम हैं नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वारसूत्र। इन दोनो के विषय यद्यपि समान है परन्तु चर्चा की पद्धति भिन्न भिन्न है। दोनो ही एक प्रकार के ज्ञानकोश के समान हैं। ये पवित्र सिद्धात शास्त्रो के यथार्थ ज्ञान और समझ के आधारो और रूपो की आवश्यक सूचनाओ सम्बन्धी प्रत्येक बात की पद्धतिसर समीक्षा इनमे की गई है।[6] इस प्रकार, व्यैबर कहता है कि इनके कर्ताओ ने पाठको के लिए एक मध्यरूप प्रस्तावना प्रस्तुत कर दी है। उसी के शब्दो मे कहे तो उन लोगो के लिए इनदोनो ग्रन्थो की योजना अत्यन्त ही सुघड है कि जो उनका प्रतिसस्करण या सग्रह समाप्त कर, पवित्र ज्ञान के ही विषय मे ज्ञान प्राप्त करने के अभिलाशी है। इस प्रकार जैनो की साहित्यक दन्तकथा के अनुसार देवर्धिगणि ही यद्यपि इन दोनो के रचियता है, परन्तु व्यैबर और शार्पेटियर के अनुसार, इस दन्तकथा या मान्यता पर आने का कोई भी ऐसा बाह्य कारण समझ मे नहीं आता है कि जो इनकी विषयसूची से मिलने वाली सूचना से भी समर्थित होता हो।[8] शार्पेटियर कहता है कि 'अन्ततोगत्वा मे समझता

---

1 समणेण सावएण य अवस्सकायव्वय हवइ जम्हा। अतोअहोणिसस्स य तम्हा आवस्सय नाम। आवश्यकसूत्र, पृ 53, छह आवश्यक अनुक्रम से इस प्रकार है: समाइय याने बुरे कर्मो से निवर्तन चउविसत्थो याने 24 तीर्थ करो की स्तुति वंदण याने गुरूओ की वदन, पक्किमण याने आलोचना, काउसग्ग याने पापो की ध्यान द्वारा निर्जरा, और पच्चक्खाण याने असनादि का त्याग। देखो वही। 2 व्यैबर, वही, पृ. 330।

3 देखो विंटरनिट्ज, वही, पृ 315। 4 श्रीमती स्टीवन्सन, वही, पृ 70।

5 देखो याकोबी, कल्पसूत्र, पृ 118 पलाट, वही, पृ 246, 251 दशवैकालिक की रचना सम्बन्धी दन्तकथा के लिए देखो हेमचन्द्र, परिशिष्टपर्वन, सर्ग 5।

6 देखो व्यैबर, वही, पृ 293–294. विंटरनिट्ज, वही और वही स्थान।

7 व्यैबर, वही, पृ 294। 8 देखो वही, शार्पेटियर, वही, प्रस्ता 18।

न कि इनमें देवर्धिगणि की रचना होने का कोई भी स्पष्ट प्रमाण नहीं है हम इतना ही कह सकते हैं कि वह इन शास्त्रों के प्रतिसम्करण का सम्पादक ही या प्रतिसम्करणकर्ता ही था[1] रचयिता नहीं।'

श्वेताम्बर जैनों के सिद्धांत ग्रन्थों के विषय में इतना विवेचन तो यहां पर्याप्त है।[2] उनकी भाषा के सम्बन्ध में देवर्धिगणि के समय तक की जैन साहित्य की अव्यवस्थित दशा पर से इस अनुमान पर आ सकते हैं कि उत्तराधिकार में मिलने वाली भाषा में भी शनै शनै परिवर्तन होता गया था। फिर भी इतना तो बहुत ही सम्भव प्रतीत होता है कि ई. पूर्व छठी सदी के धर्म सुधारकों ने कि जिनने लोक समूह के अधिकांश भाग को ब्राह्मण पण्डितों के पुरोहितों वाद के विरोध में मोक्ष-मार्ग का उपदेश दिया था अपनी देशना के लिए जन साधारण की भाषा ही का उपयोग किया न कि संस्कृत की विद्वद् मान्य भाषा का। लोकसमूह की यह भाषा महावीर के गृह मगध देश की रहनेवाले की भाषा ही हो ऐसा लगता है। फिर भी जैनों द्वारा प्रयुक्त मागधी 'अशोक' के शिलालेखों एवं प्राकृत व्याकरणों की मागधी से बहुत ही कम मेल खाती है।[3] यही कारण है कि जैनों द्वारा प्रयुक्त भाषा मिश्रित भाषा यानि अर्ध मागधी कही जाती है कि जो बहुतांश में मागधी से ही बना है परन्तु जिसने परदेशी बोलियों के तत्वों को भी ग्रहण कर लिया है। महावीर ने अपने सम्पर्क में आने वाले लोगों को अपनी बात समझाने के लिए ऐसी मिश्र भाषा का उपयोग किया था और इसीलिए उनकी भाषा मातृभूमि की सीमा पर के निवासी भी उसे अच्छी प्रकार समझ सकते थे।[4]

जैन परम्परा के अनुसार प्राचीन सूत्र अर्ध मागधी भाषा में ही रचे हुए हैं।[5] परन्तु प्राचीनसूत्रों की जैन प्राकृत टीका ग्रन्थों और कवियों की प्राकृत से बहुत विभिन्न है। इस प्राकृतिक भाषा को जैन प्राकृत यानि ऋषियों की भाषा कहते हैं जबकि जिस भाषा में सिद्धांत लिखे गए हैं वह महाराष्ट्री की निकटतम है और वह जैन महाराष्ट्री कहलाती है। जैन ग्रन्थों को अन्तिम रूप देने के पूर्व जैनों द्वारा प्रयुक्त और विभिन्न भाषा की विशिष्टता के विवरण में जाने की हमें आवश्यकता नहीं है। इतना भर कहना ही पर्याप्त है कि जब एक बार जैन महाराष्ट्री पवित्र भाषा स्वीकार कर ली गई तो वह जैनों की साहित्यिक भाषा भी उस समय तक बनी रही थी जब तक कि उसे संस्कृत ने स्थानापन्न नहीं कर लिया।

जैनों के सिद्धांतातिरिक्त साहित्य में एक ओर अगणित टीका साहित्य है जिसका प्रतिनिधित्व निज्जुत्ति या निर्युक्तियां करती हैं और दूसरी ओर वह स्वतंत्र साहित्य है जिसमें कुछ तो साधू अनुशासन नीति और सिद्धांत या विद्वद्भोग्य रचनाएं हैं और कुछ काव्य हैं जिनमें जिनों के प्रभाव की स्तुतियां या स्तोत्र भी हैं। परन्तु अधिकांश भाग वर्णनात्मक साहित्य का ही है। यह निश्चित प्रतीत होता है कि देवर्धिगणि द्वारा सिद्धांतों की अन्तिम वाचना या संकलन किए जाने के बहुत पूर्व ही जैन साधू आगम पर टीकाएं भाष्य आदि लिखने लग गए थे यद्यपि प्राचीन-

---

1 वही।

2, दिगम्बरों के सिद्धांत के लिए देखो विन्टरनिट्ज, वही II 316 याकोबी वही प्रस्ता पृ 30।

3 याकोबी वही प्रस्ता. पृ 17।

4 ल्यायमन, इण्ड जनिस्मस पृ 84।

5 पोराणमद्धमागहभासानियय हवइ सुत्त। हेमचन्द्र प्राकृत व्याकरण गाथा, 287।

6 याकोबी वही प्रस्ता पृ 20। जैनों के पवित्र ग्रन्थों की भाषा के अधिक विवरण के लिए देखो वही प्रस्ता पृ 17 आदि। ल्यायमन वही पृ 81 आदि।

तम टीकाए जिन्हे नियुंक्ति कहते है, कई बातो मे सूत्रो से बहुत ही निकट सबंधित है अथवा उन्हे स्थानापन्न भी उनने कर दिया है। पिण्डओर ओघ नियुंक्तियो ने तो सिद्धात ग्रन्थो मे ही स्थान प्रात कर लिया हैं। ओघनियुंक्ति पूर्वो मे से ही कुछ के आधार पर रची गई कही जाती है।[6]

शार्पेटियर के अनुसार नियुंक्तिया यद्यपि प्राचीन हैं, परन्तु वे जैनो के टीका साहित्य के प्राथमिक ग्रन्थ रूप कम नही कही जा सकती है। वे ही प्राचीनतम नही है अपितु जैनो के सिद्धात पर उपलब्ध या वर्तमान प्राचीनतम टीकाएं अवश्य ही हैं। ऐसा कहने का कारण यह हे कि नियुक्तिया मुख्यतया अनुक्रमणिका रूप मे हैं, उन विस्तृत टीकाओ की कि जिनमे सब वार्ताएं और दतकथाए विस्तार से दी गई हैं, ये सार रूप हैं।[1] प्राचीनतम टीकाकार भद्रबाहु ही थे कि जिनने पहले कहे अनुसार वर्धमान के निर्वाण पश्चात् 170 वे वर्ष मे काल धर्म प्रात किया था। सिद्धांत के भिन्न-भिन्न ग्रन्थो पर उनने दस नियुंक्तियो की रचना की ऐसा कहा जाता है जिनके नाम इस प्रकार हैः— आचारागनियुंक्ति, सूत्रकृताक नियुंक्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति नियुंक्ति, दशाश्रुतस्कंध नियुंक्ति, कल्पनियुंक्ति, व्यवहार-नियुंक्ति, आवश्यक नियुंक्ति, दशवैकालिक नियुंक्ति, उत्तराध्ययन नियुंक्ति और ऋषिभाषित नियुंक्ति।[2] बनारसीदास जैन के अनुसार भद्रबाहु की आवश्यक नियुंक्ति ही ऋषभदेव के पूर्वभवो का प्राचीनतम प्रमाण है क्योकि 'अ गो मे तीर्थकरो के पूर्व भवो का विशेष रूप मे वर्णन नही मिलता हैं हालाकि उनमे महावीर के सम-सामयिको मे से अनेक के मत एवम् भविष्य भवो को अनेक निर्देश प्राप्त होते है।[3]

ये सब टीका ग्रन्थ इसलिए महत्वपूर्ण है कि उनने हमारे लिए ऐतिहासिक और अर्धऐतिहासिक दत कथाओ और लोकवार्ताओ का महान समूह सग्रहित कर दिया है। बौद्ध भिक्षुओ की भाति ही जैन भिक्षु भी भारतीयो की धार्मिक कथाए सुनने की लुब्धता का लाभ उठाते अपने अनुयायियो की सख्या बढाने और उन्हे टिकाए रखने के लिए महर्षियो की कथाओ और लोक वार्ताओ का उपयोग करते रहे हैं। 'दतकथाओ और वार्ताओ के इस प्रकार सगृहित समूह मे से अनेक तो प्राचीन काल की लोक कथाओ के समूह मे मे हैं और कितनी ही जैनो की अपनी दतकथाओ मे से ली गई है। शेष मे से कितनी ही कदाचित परवर्ती काल मे रची गई हो ऐसा लगता है और वे बाद मे मूल ग्रन्थो की स्थाई टीकाओ मे स्थान पाकर अमर हो गई हैं।[4]

इसी प्रख्यात भद्रबाहु को भद्रबाहवी—सहिता कि जो खगोल विद्या का एक ग्रन्थ है, और पार्श्वनाथ की स्तुति 'उवसग्गहर' स्तोत का रचयिता कहा जाता है। उक्त भद्रबाहवी सहिता का कर्ता और नियुंक्तियो का कर्ता भद्रबाहु एक ही व्यक्ति है कि नही यह शकास्पद है। यह सहिना भी अन्य सहिनाओ जैसी ही है, फिर भी वराहमिहिर ने इसका कोई हवाला अपने ग्रन्थ मे नही दिया है, हालाकि अपने प्रामाणिको की सूची मे उसने सिद्धसेन[5] नामक एक अन्य जैन ज्योतिर्विद का नाम अवश्य ही गिनाया है। इससे ऐसा निष्कर्ष निकलता है कि यह भद्राबाहवी-सहिता -वराहमिहिर के परवर्ती काल की है। याकोबी के शब्दो मे कहे तो स्थिति जो भी हो, इस सहिता का रचयिता वही भद्रबाहु कभी नही हो सकता है कि जिसने कल्पसूत्र की रचना की थी, क्योकि उसका अन्तिम प्रति सस्करण

---

6 देखो विंटर्निट्ज, वही, पृ 317।

2. शार्पेटियर, वही, प्रस्ता पृ. 50—51। 3 देखो आवश्यक सूत्र. गा 84-86, पृ 61 याकोबी. वही, प्रस्ता पृ 12। 4 जैन, जैन जातकाज. प्रस्ता. पृ 3। 5 शार्पेटियर, वही, प्रस्ता पृ 51।

6 कर्न, बृहत्सहिताप भूमिका, पृ 29।

जिनकी तिथि (वारात् 980 = ई सन 454 या 514) उमी म दी हुई ह वराहमिहिर वे पहल की नही ता नी कम म कम समयमयी ता है ही ।[1]

उवसग्गहर स्तोत्र का रचियता भद्रबाहु का मानने की दतकथा इम श्लोक पर बधी हुई ह —

उवसग्गहर थुत्त काऊरण जेरण सघकल्लाराए ।
करुरणापरेण विहिम्र स भद्दबाहु गुरू जयउ ॥[2]

अर्थात् सघ के कल्यारण के लिए दयार्द्र गुरू भद्रबाहु म उवसग्गहर स्तोत्र की रचना की उनकी जय हो ।'

स्तोत्र का विषय है भगवान् पार्श्वनाथ का प्रभावानुवाद । इस स्तोत्र की अतिम गाथा से यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है जो इस आशय की है — हे महायश ! भक्ति के समूह से पूर्ण भरे हुए अ त करण से यह स्तवना मैं न की है इसलिए हे देव ! पार्श्व जिनचन्द्र ! मुझे जन्मोजन्म म बोधबीज देते रहो ।'[3] भद्रबाहु का इस स्तुति का रचयिता स्वीकार करत हुए याकोबी कहता है कि यदि ऐसा हो तो जन स्तुतियो के नए विस्तृत साहित्य म यह एक प्राचीनतम उदाहरण भी ह ।[4]

भद्रबाहु क अतिरिक्त भी अनक अन्य स्वतन्त्र ग्रन्थ यद्यपि उपलब्ध है परन्तु हम उनम से कुछ ही अत्य त महत्व क ग्रन्थो का यहा वर्णन करेंगे । इन ग्रन्थो म सब से पहला जो हमारा ध्यान आकर्षित करता है वह धर्मदासगरिग की उपदेशमाला ह कि जिसका महावीर का ही समकालिक होने का जनो का दावा है । इस ग्रन्थ म गृहस्थ एवम् साधुओ के लिए नैतिक नियमो का सग्रह किया गया ह इसकी ख्याति इसकी अनेक टीकाओ पर से है जिनम से दो टीकाए तो इसवी सन् की नौवी सदी की हैं ।[5] धर्मदास क बाद उमास्वाति का स्थान है कि जो श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो ही सम्प्रदायो म मान्य है । विटर्निट्ज के अनुसार चू कि वह एसी मान्यताओ का प्रतीक है कि जो दिगम्बरो की मान्यता स मेल नही खाती ह, इसलिए व उस अपन मे का एक नही कह सकते ह । उमास्वाति क किन तथ्यो पर यह बात कही जा सकती है या समझा जाना चाहिए हम कुछ भी नही कह सकत हैं । फिर भी विद्वान पण्डित का इस परिणाम पर अन्य विद्वानो की भाति ही पहुचना उचित लगता है कि सम्भवत वह महान् आचार्य काल पूर्व समय म होना चाहिए कि जब जनसघ दो सम्प्रदायो मे स्पष्ट रूप स विभक्त नही हो गया था ।[7] इसका तपागच्छ पट्टावली स भी समर्थन होता ह । उसके अनुसार वीरात् चौथी

---

1 याकोबी वही प्रस्ता पृ 14 । भद्रबाहु 2 य सम्बन्धी दिगम्बरो की दतकथा के लिए और श्वेताम्बरो की भद्रबाहु एवम् वराहमिहिर सम्बन्धी दतकथा क लिए देखो वही, पृ 13 30 । विद्याभूषण मैडीवल स्कूल आफ इण्डियन लोजिक, पृ 5–6 ।

2 कल्पसूत्र, सुबोधिका टीका पृ 162 ।

3 देखो याकोबी वही, प्रस्ता पृ 13 । 4 देखो वही प 12 ।

5 देखो धर्मदासगरिग उपदेशमाला (जनधर्म प्रसारक सभा भावनगर) पृ 2 ।

6 देखो विटर्निट्ज, वही पृ 343, मक्डोनल इण्डियाज पास्ट प 74 श्रीमती स्टीवन्सन वही पृ 82 ।

7 देखो विटर्निट्ज वही, प 351 हीरालाल रायबहादुर कटलोग आफ मन्युस्क्रिप्टस इन सी पी एण्ड बरार प्रस्ता प 7–9 विद्याभूषण वही पृ 9 ।

शती मे हुए श्यामार्य ' प्रज्ञापनासूत्र के कर्ता, उमा स्वाति के शिष्य थे ।[1] पक्षान्तर मे श्री हीरालाल के अनुसार इस प्रश्न का स्पष्टीकरण यह है कि उमास्वाति ने दोनो सम्प्रदायो के विवादास्पद विषयो को स्पर्श ही नही किया है ।[2]

ये उमास्वाति वाचक-श्रमण रूप से विशेष प्रख्यात है । तत्वार्थाधिगमसूत्र की श्वेताम्बरकारिका के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि वे नगरवाचक भी कहे जाते थे । वे स्वयम् प्रशस्ति मे कहते है कि उनका जन्म न्यग्रोधिका मे हुआ था परन्तु वे कुसमपुर या पाटलीपुत्र मे ही रहते थे ।[3] हिन्दू-दार्शनिक माधवाचार्य उनका परिचय उमास्वातिवाचकाचार्य कह कर कराता है ।[4] इस महान् आचार्य की कृतियो के विषय मे यह किवदन्ती है कि इनने कोई पाँचसौ प्रकरणो की रचना की थी परन्तु उनमे से केवल पाँच ही आज उपलब्ध है । इन सब को याने 1. तत्वार्थाधिगमसूत्र, 2 इसी का भाष्य, 3. पूजाप्रकरण 4. जम्बूद्वीपसमास. और 5 प्रशमरति की प्रशस्ति मे जैसी कि वह बगाल की एशियाटिक सोसाइटी के इनके सस्करणो मे प्रकाशित हुई है. इस प्रकार लिखा हुआ है — 'कृति सिताम्बराचार्यस्य महाकवे-रुमास्वातिवाचकस्य इति ।'[5]

उपरोक्त ग्रन्थो मे से तत्वार्थाधिगमसूत्र पर ही उनकी कीर्ति आधारित है । कितने ही अमूल्य ग्रन्थरत्न कि जो काल कराल ग्रास बनने से बच गए उनमे का यह अति मूल्यवान है । जैनो के आगम साहित्य का दोहन कर जैन तत्वज्ञान को सस्कृत सूत्रो मे रचने की पद्धति मे प्रवेश करनेवाले ये ही सबसे पहले जैनाचार्य है । उनका यह ग्रन्थ इसीलिए जैन इजील (बाईबल) रूप माना जाता है । जेनो के सभी सम्प्रदाय इसको मानते हैं । यह कितनी प्रामाणिक और उत्तम कृति है, इसकी प्रतीति उसके प्रति जैन टीकाकारो के दिए लक्ष्य से स्पष्ट समझ मे आती है । इस पर कमती से कमती इकतीस टीकाए आज उपलब्ध है । इसके सूत्रो मे कोई भी जैन सिद्धान्त या मान्यता प्रत्यक्ष या परोक्ष रीति से व्यक्त हुए बिना नही रही है । तत्वार्थसूत्र नि सदेह जैन तत्वज्ञान की अमूल्य और पवित्र निधि है ।[6]

उमास्वाति वाचक के सम्बन्ध मे इस प्रस्ताविक विवेचन के बाद, हम विक्रमादित्य युग के सुप्रसिद्ध जैन साहित्याकाश के प्रकाशमान नक्षत्र श्री सिद्धसेन दिवाकर और श्री पादलिप्ताचार्य का सक्षेप मे विचार करेंगे ।[7]

---

1 देखो क्लाट, वही, पृ 251 । श्वेताम्बर पट्टावलियो के इस वर्णन मे उसका ई पूर्व अनेक सदियो मे हुआ बताती है । महावीर के दसवे पट्टधर आर्य महागिरि का निधन निर्वाण पश्चात् 249 वें वर्ष मे हुआ था । उनके दो शिष्य थे — बहुल और बलिस्सह । बलिस्सह के शिष्य थे उमास्वाति । देखो वही पृ 246, 251 । दिगम्बर वृत्तान्तो मे उमास्वाति भद्रबाहु स छठे पट्टधर कहे गए हैं और कुन्दकदाचार्य के उत्तराधिकारी । उनका निधन-काल वि सम्वत् 142 याने ई 85 बताया है । देखो हरनोली, इण्डि एण्टी, पुस्त 20. पृ 341 । उमास्वाति के विशेष विवरण के लिए देखो हीरालाल रायबहादुर, वही, प्रस्ता. पृ 7–9, पेटरसन, रिपोर्ट आन सस्कृत मैन्युस्क्रिपट्स, पुस्त 4, प्रस्ता पृ 16. जैनी सेबुजे, पुस्त 2, प्रस्ता पृ 7–9 ।

2 हीरालाल, रायबहादुर, वही, प्रस्ता पृ 9 ।

3 तत्वार्थाधिगमसूत्र (संपा : मोतीलाल लधाजी), (अध्याय 10, पृ 203 ।

4 देखो कोव्यैल एण्ड गौफ, सर्वदर्शनसग्रह, पृ. 55 ।

5 हीरालाल, रायबहादुर, वही, प्रस्ता पृ 8 ।

6 जैनी, वही, प्रस्ता पृ 8 ।

7. राइस ई पी , कनैरीज लिटरेचर, पृ. 41 ।

सिद्धसेन और विक्रम के धर्म-परिवर्तन सम्बन्धी प्राचीन और दूसरे जैन दन्तकथाओं की यथार्थता के विषय मे पहले ही विवेचना की जा चुकी है। इसलिए दिवाकर काल के इस विवादास्पद प्रश्न पर फिर से लिखना यहाँ आवश्यक नहीं है। फिर भी दो तथ्य दन्तकथानुसार सिद्धसेन की तिथि के समर्थन में यहा प्रस्तुत किए जा सकते हैं। एक तो यह कि वाचक-श्रमण की ही भाँति सिद्धसेन दिवाकर श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो ही सम्प्रदायो को मान्य है। दूसरा यह कि दोनो सम्प्रदायो के साहित्य में इस आचार्य सम्बन्धी उल्लेख प्राचीन हैं।[1]

महान् सिद्धसेनरचित साहित्य में जैन न्याय और बत्तीस बत्तीसियाँ कही जाती हैं। उनने कुल कितने ग्रन्थ रचे इस अप्रधान बात को दूर रखते हुए यह कहा जा सकता है कि वही प्रकरण लिखनेवाले सर्व प्रथम श्वेताम्बराचार्य है। प्रकरण उस पद्धत्यानुसार रचना को कहा जाता है जिसमे प्रत्येक विषय वैज्ञानिक रीति से चर्चे जाते है। इसमें सद्धान्तिक ग्रन्थो की भाँति चाहे जैसे भिन्न भिन्न अथवा दन्तकथा रूप मे विषय की चर्चा नहीं की जा सकती है। यह प्राकृत में भी रचा जा सकता है परन्तु सामान्यत यह संस्कृत रचना ही होती है।[2] सिद्धसेन और अन्य महान् आचार्यों ने ई पूर्व और पश्चात् की कुछ सदियो में इस प्रकार के प्रयत्न भारतीय मानसिक संस्कृति के उच्चतम स्तर तक श्वेताम्बरो को ऊंचा उठाने के लिए किए जिनकी समाप्ति हेमचन्द्राचार्य द्वारा हुई थी कि जिनने प्रमुख भारतीय विचारों की प्रशंसनीय पाठ्य पुस्तकें भी जैनधर्म सम्बन्धी मान्य ग्रन्थो के अतिरिक्त लिखी थी।

न्यायावतार और सम्मतितर्क दो सुप्रसिद्ध ग्रन्थो के रचयिता रूप में सिद्धसेन की विशेष प्रसिद्धी है। पहला न्याय का पद्यमय ग्रन्थ है जिसमे न्याय और प्रमाण का स्पष्ट विवेचन किया गया है। दूसरा सामान्य दर्शन का एक मात्र प्राकृत भाषा का पद्यमय ग्रन्थ है जिसमे तर्कशास्त्र के सिद्धान्तो का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। इन दोनो विद्वत्ता पूर्ण ग्रन्थो की रचना के पूर्व जैन न्याय विषयक किसी भी प्रमाणभूत ग्रन्थ का अस्तित्व जानने में नहीं आया हालांकि इस न्यायशास्त्र के सिद्धांत तो धर्म और नीति के साहित्य में यत्र तत्र मिलते ही रहे थे। डा विद्याभूषण कहते हैं कि भारतवर्ष के अन्य धर्मों की भाँति ही जैनो के प्राचीन ग्रन्थो में धर्म और नीति की चर्चा में न्याय का मिश्रण हुआ तो था ही। परन्तु न्याय के ही विषय की विशुद्ध चर्चा करने का प्रथम मान सिद्धसेन दिवाकर का ही है क्योंकि जिन्होंने अनेक शाखाओं में से लेकर बत्तीस श्लोको में न्याय विषय पर न्यायावतार नामक ग्रन्थ लिख कर इस विषय को पृथक रूप दे दिया। जैनो में सिद्धसेन ही सब से पहला है।[3]

भद्रबाहु की ही भाँति सिद्धसेन के साथ भी जैनो की एक स्तुति जो पार्श्वनाथ की ही है, जुड़ी हुई है। इस स्तुति का नाम 'कल्याणमन्दिर स्तोत्र' है। इसके विषय में निम्न दन्तकथा है—एक समय सिद्धसेन ने अपने गुरु के समक्ष अभिमान पूर्वक यह प्रकट किया कि समग्र प्राकृत जैन साहित्य को वह संस्कृत में कर देने की इच्छा रखता है। इस दवढ़ंगी या पाखण्डी कथन के पाप के प्रायश्चित्त स्वरूप गुरु ने उन्हें पाराचिक प्रायश्चित्त का दण्ड दिया जिसके अनुसार बारह वर्ष तक का मौन धारण करते हुए उन्हें तीर्थ भ्रमण करते रहना था। इस प्रायश्चित्त को करते हुए घूमते घूमते वे उज्जैन में पहुँचे और वहाँ के महाकाल मन्दिर में उनने निवास किया। यहाँ उनने शिव

---

1 हीरालाल रायबहादुर वही प्रस्ता पृ 13।
2 याकोबी समरादित्य कहा प्रस्ता प 12।
3 विद्याभूषण न्यायावतार प्रस्ता 1।

को नमस्कार और उसकी स्तुति नही कर, पुजारियो को अति कष्ट कर दिया। उनने तुरन्त जा कर राजा विक्रमादित्य से यह शिकायत की जिसने उन्हे शिव को वन्दन करने की आज्ञा दे कर बाधित किया। तब सिद्धसेन ने कल्याणमन्दिर स्तोत्र के पाठ द्वारा शिव की स्तुति की, फल स्वरूप शिव प्रतिमा के दो टुकडे हो गए और उस खण्ड मे से जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रगट हो गई। इस प्रकार की दिव्य शक्ति से प्रभावित हो कर विक्रमादित्य और अनेको ने उनसे जैन धर्म स्वीकार कर लिया।[1]

पादलिप्त के विषय मे हम पहले ही बता आए है कि उनने राजा मुरण्ड को जैनधर्मी बनाया था। यह मुरण्ड राजा 'कान्यकुब्ज की छत्तीस लाख की प्रजा का सम्राट था।'[2] तरंगवती नाम की अति प्राचीन और सुप्रसिद्ध रोमाच जैनकथा के रचयिता के रूप मे भी उनकी मुख्याति है। मूल कथा यद्यपि नष्ट हो गई दीखती है क्योकि वह अब तक तो उपलब्ध नहीं हुई हे, परन्तु उसका बाद का किया सक्षेप 'तरंगलोला' नाम से सुरक्षित हे। सक्षेपकार नेमीचन्द्र ने उलझनभरे श्लोको और लोकपदो को इस संक्षेप मे से लोप कर दिया है। सक्षेप करने का कारण बताते हुए इस नेमिचन्द्र ने स्वयम् ही कहा है कि मूल बहुत ही विस्तृत, उलझनभरा, श्लोक-युगलको, षटको, कुलको आदि पूर्ण होने से मात्र विद्वद्भोग्य हो गया था और सामान्य जन उसका लाभ नहीं ले सकते थे।[3]

फिर भी तरंगवती का ही सक्षिप्त होने पर भी तरंगलोला महान् साहित्यिक रसवाली कृति है एवम् उस समय के प्रचलित लोकवार्ता साहित्य का एक अच्छा प्रतिबिम्ब है कि जो सस्कृत एव प्राकृत दोनो ही भाषाओ मे तब विशाल होना चाहिए हालाकि उसके बहुत थोडे ही ग्रन्थ हमे आज वास्तव रूप उपलब्ध है। ऐसे साहित्य के अन्य नमूनो की ही भाति इस रोमाचक कथा मे भी अन्त में नायक और नायिका दोनो ही ससार का त्याग कर दीक्षा ले लेते है। पूर्वभव का जाति स्मरण ज्ञान और उसके परिणाम ही इस कथा के हेतु है। इस कथानक मे यत्र तत्र धार्मिक उपदेश और सूचनाए भी मिलती ही हैं, परन्तु तब भी कथा उपदेशात्मक नही बन जाती है।

तरंगवती के सिवा, पादलिप्त के ग्रन्थो मे फलित-ज्योतिष का ग्रन्थ 'प्रश्न-प्रकाश' और प्रतिमा प्रतिष्ठा पद्धति का ग्रन्थ 'निर्वाण-कलिका' या 'प्रतिष्ठा-पद्धति' प्रसिद्ध है। यह निर्वाण-कलिका प्रतिमाओ की प्रतिष्ठा सम्बन्धी क्रिया-काण्डो का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ है।[4] यह पुरातत्वविदो के लिए भी बडे उपयोग का है क्योकि वह जैनागमो के रचना काल और वाचना-काल याने जब कि वे लिखे गए थे, के बीच की कडी प्रस्तुत करता है। यह सस्कृत मे लिखा हुआ ग्रन्थ है। उस काल मे जैनाचार्य अर्ध-मागधी मे ही रचनाएं किया करते थे। अत उस काल की प्रथा के प्रतिकूल सस्कृत मे इसकी रचना एक आश्चर्यजनक बात है। ...इसीमे आचार्य-पदवी प्रदान की भी विधि दी हुई है जो बडी ठाठ बाठ की हे। राज्यचिन्ह जैसे कि हाथी, घोडे, पालखी, चौरी, छत्र, योगपट्टक (पूजा करने का चित्र), खर्टीक (कलम), पुस्तकें, स्फटिक की जपमाला, और खडाऊ आचार्य को पदवीदान के समय दिए जाते थे।...नित्यकर्मविधि मे अष्टमूर्ति का निर्देश भी एक महत्व का हे। वह यह

---

1 हीरालाल, रायबहादुर, वही, प्रस्ता पृ. 13। देखो इसी कथा का विक्रमचरित मे दिया जैन रूपान्तर भी देखो एड्गर्टन, वही, पृ 253। 2 वही, पृ 251।

3 देखो झवेरी, निर्वाण-कलिका, प्रस्तावना, पृ 12-13।

4 झवेरी, निर्वाण-कालिका, प्रस्ता पृ 1।

बताता है कि जनो की पूजाविधि पर तान्त्रिक आगमों का जिनमें पूजनीय देव शिव है, अच्छा प्रभाव पड़ गया था ।[1]

इस प्रकार जैसा कि हम ऊपर देख आए हैं, यह निर्विवाद है कि जैन इतिहास का अनिश्चित युग भी साहित्य शून्य नहीं है। उस युग का भी प्राचीन साहित्य लिखा हुआ मिलता है। इस युग में जैन दन्तकथा साहित्य का हमारा यह सर्वेक्षण चूड़ान्त नहीं कहा जा सकता है फिर भी ऐसा कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि इस युग का जैन साहित्य अन्य भारतीय साहित्य की तुलना में क्या गुण और क्या विविधता किसी भी दिशा में जरा भी कम नहीं था। इस जैन साहित्य में सभी विषय के ग्रन्थ उपलब्ध हैं। ऐसे ग्रन्थ ही नहीं कि जिनका सिद्धान्त से निकटतम सम्बन्ध है यानि सैद्धान्तिक, नैतिक, वादानुवादात्मक और पक्ष-समर्थक अपितु इतिहास दन्तकथा महाकाव्य, रोमांचक एवम् वैज्ञानिक जैसे कि खगोल और भविष्य कथन विषयक भी जैनाचार्यों ने उस काल में लिखे थे।

---

1 भवेरी वही ग्रन्था पृ 5।

आठवां अध्याय

उत्तर-भारत में जैन कला

हम इस अध्याय मे उत्तर-भारत की कला के इतिहास मे शिलालेख, स्थापत्य और चित्रकला मे जैनो के योगदान का सामान्य रूप मे विचार करेंगे। डॉ गैरीनोट कहता है कि "भारतीय ललितकला को जैनो ने अति अद्वितीय अनेक स्मारक प्रदान किए हैं। स्थापत्य मे विशेष रूप मे जैन उस प्रवीणता के पहुँच गए है कि जहाँ उनकी प्रतिस्पर्धी कोई भी नही है।"[1] यह नि सशय सत्य है कि जैनो का अत्युत्तम प्रदर्शन स्थापित मे हुआ है। इसका कारण जैनो का वह विश्वास है और जो भारतीय अन्य धर्मो की अपेक्षा अधिक भी है, कि मोक्ष की साधना मे मन्दिर-निर्माण उपकारक है। इसलिए उनकी स्थापित्य रचनाए उनकी जन सख्या की तुलना मे अन्य धर्मो की अपेक्षा कही अधिक सख्या मे हैं।

पहली बात तो यह है कि इनके स्थापत्य मे विचित्रता बहुत पाई जाती है। वे अपने मन्दिर जगल भरी या अनुर्वर पहाडियो के ढलाव मे, और सजावट की जहा असीम क्षेत्र हो वैसे वियावान स्थानो मे बनाना ही पसन्द करते है। समुद्र सतह से 3000 से 4000 फुट ऊँचे शत्रु जय एव गिरनार पर्वतो के शिखर पर मन्दिरो के भव्य नगर सुशोभित हो रहे है। इस प्रकार मन्दिर नगर बनवाने की विशिष्टता का अन्य धर्मो की अपेक्षा जैनो ने ही विशेष रूप से अमल किया है।[2] "शत्रु जय के शिखर पर, विशेषतया, प्रत्येक दिशा मे सुवर्णमय और रग-बिरगी नक्शीदार मन्दिर खुले और मूक खडे है। उनमे चमकते प्रदीपो के बीच मे भव्य और शात तीर्थकरो की मूर्तियाँ है। इन प्रशात मुद्राओ के समूह वाली मन्दिरो की श्रेणिया और गगनचुम्बी गढो मे के देवदेवी यह सूचना करते मालूम पडते है कि ये सब स्मारक मानवी प्रयत्न से नही, अपितु किसी देवी प्रेरणा से ही निर्मित हुए है।"[3]

आकार और सरचना की इस विविधता के होते हुए भी, शत्रु जय और गिरनार के समूह दोनो ही, जूनागढ के पूर्व मे स्थित बावा प्यारा नाम से कहलाते आधुनिक मठ[4] और अनेक जैन गुफाओ के अतिरिक्त, कोई भी ऐतिहासिक उल्लेख या स्मारक नही है कि जिनकी सुगमता से खोज की जा सके। ऐसे कोई भी उल्लेख या स्मारक यदि वहाँ रहे होते तो भी "मुसलमान राज्यकाल की चार शताब्दियो मे प्राचीनता के अधिकाश चिन्हो को मिटा दिया होगा।"[5]

कल्पना की सुन्दरता और कला का धीर सस्कार दोनो ही दृष्टि से जैन ललितकला को प्रदर्शित करने वाले अद्वितीय स्मारको मे चित्तौड की कीर्ति और विजय स्तम्भ, एवम् आबू-पर्वत के जैन मन्दिर गिनाए जा सकते है।

---

1. गैरीनोट, ला रिलीजिया जैना, पृ 279। 2 फरग्यूसन, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, भाग 2, पृ 24। देखो स्मिथ, ए हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन, पृ. 11।

3 ईलियट, हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धीज्म भाग 1, पृ 121।

4. देखो बर्ग्यैस, आसवेइ, 1874-1875, पृ 140-141, प्लेट 19 आदि। "यहा बौद्ध लक्षणिकता का कोई स्पष्ट चिन्ह तक भी नही है। औरो की भाति ये भी सभवत जैनमूल के ही है।" —फरग्यूसन, वही, पृ 31।
5 वही।

तीर्थयात्रा का धाम आबू शिल्प की सूक्ष्म कोमलता एवं कलाविधान की विशिष्टता की दृष्टि से धैर्य और अत्यन्त श्रम व्यय करने वाले इस देश में भी अप्रतिम हैं। इसी प्रकार विवाद में आया सम्मेतशिखर या पार्श्वनाथ तीर्थ राजपूताने में सादड़ी मारवाड़ के निकटस्थ राणकपुर का भव्य मन्दिर, पटना जिले का पावापुरी का जल मन्दिर व थलमन्दिर[1] आदि का नाम बताया जा सकता है। परन्तु जैनों के कला के प्रति प्रेम प्रदर्शन करानेवाले स्थापत्य के ये उदाहरण जैन शिल्पकला के या तो प्रथम अथवा महान् युग के हैं जो कि ई 1300 अथवा उसके कुछ काल बाद तक चलता रहा था,[2] अन्यथा जैन स्थापत्य की मध्य शैली के हैं[3] कि जिसका पुनरुज्जीवन पन्द्रहवीं सदी में मेवाड़ वंश के अति शक्तिशाली राजाओं में से एक राणा कुम्भा के राज्यकाल में हुआ था कि जिसकी राजधानी चित्तौड़ थी। जैनों के इन सर्वांग सुन्दर स्मारकों से सम्बन्ध रखनेवाली स्थापत्यरचना, प्राचीनता और पौराणिकता की खोज करना रसप्रद और ज्ञान वर्धक हो सकता है परन्तु ऐसा करने के लिए हम अपने लक्ष्य से बाहर जाना होगा जो किसी भी तरह से उचित नहीं है।

स्थापत्य की तरह ही जैनों की चित्रकला के अवशेष में भी ऐसा कोई नहीं है कि जो हमारी काल मर्यादा में आ सकते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय ललितकला के नमूने जो कि जैनों के गम्भीर प्रभाव में विकसित हुए हैं, सचित्र हस्तलिखित ग्रन्थों में जैन दन्तकथा और परमार्थविद्या की रचनाओं में क्षमापना या विज्ञप्तिपत्रों में कि जो जैन श्रावक और श्रमण पड़ोस के आचार्यों को सम्वत्सरिका पर भेजने के लिए महान् परिश्रम और सजावट से तैयार करते थे देखे जा सकते हैं। परन्तु ये सब जैन रस सवंद कला के विशिष्ट नमूने ईसवी 12वीं सदी में प्रारम्भ होनेवाले मध्यकालीन गुजरात या जैन काल के हैं।[5]

हमारे ही निर्दिष्ट काल के जैन स्थापत्य और मूर्तिशिल्प के अवशेषों का विचार करने पर हम देखते हैं कि हमारे मुख्य साधन उदयगिरि और खण्डगिरि की उड़ीसा की गुफाएं, जूनागढ़ का गिरनार पर्वत मथुरा का कंकाली टीला और अन्य टेकरियां आदि की स्थापत्य हैं। परन्तु इनका विचार करने के पूर्व भारतीय ललितकला की कुछ साम्प्रदायिकता पर सामान्य रूप में कुछ प्राथमिक बातें कह देना आवश्यक है।

पहली बात जो इस सम्बन्ध में स्मरण रखने की है वह यह है कि भारतीय ललितकला का साम्प्रदायिक वर्गीकरण जैसा कि फरग्युसन ने माना है कुछ दोषयुक्त ही है। सच बात तो यह है कि स्थापत्य या मूर्तिशिल्प में बौद्ध जैन या हिन्दू शैलियां हैं ही नहीं। जो कुछ है वे हैं अपने युग की भारतीय शैली के बौद्ध, जैन और हिन्दू प्रयोग।[4] ये अवशेष कला के औपचारिक विकास में प्रान्तीय विभेद हो दिखाते हैं न कि विशुद्ध शैली में

---

1 थल मन्दिर पण्डों के अनुसार महावीर का निर्वाण हुआ उसी स्थल पर बना हुआ है और जल मन्दिर उनके दाहसंस्कार के स्थान पर —विडडिमप पृ 224। देखो वही पृ 72।

2 फरग्युसन वही पृ 59। 3 वही पृ 60

4 देखो मेहता, स्टडीज इन इण्डियन पेंटिंग पृ 1–2 पर्सी ब्राउन इण्डियन पेंटिंग, पृ 38 51।

5 स्मिथ ने मथुरा की गाथा के निर्वाण पाठ पर वर्णन करते हुए कहा है कि भारतीय ललितकला साम्प्रदायिक नहीं थी। बौद्ध, जैन और हिन्दू सब धर्मों ने अपने काल और देश की कला का उपयोग किया है और सब ने समान रूप से लाक्षणिक और रवाजी हथकण्डों व सामान्य कोश से प्रेरणा प्राप्त की है। स्तूप नक्काशी कटहरे पत्र आदि आदि जैनों बौद्धों और सनातन हिन्दुओं को धार्मिक या सजावट के रूप में समान रूप से प्राप्त थे। स्मिथ दी जैन स्तूप एण्ड अदर एन्टीक्विटीज आफ मथुरा, प्रस्तावना पृ 6। देखो बूलर एपी इण्डि पुस्त 2 पृ 322।

साम्प्रदायिक विभिन्नताओ हमे भारतीय कला के साम्प्रदायिक विभाजन या वर्गीकरण की ओर ललचाती है, परन्तु यह ठीक नही है ।[1] इसमे सदेह नही, जैसा कि हम आगे चल कर देखने ही वाले है, कि प्रत्येक धर्म की विविध अनिवार्य आवश्यकताओ का प्रभाव, विशिष्ट अभिप्राय के आवश्यक सरचना के स्वभाव पर पडता है, परन्तु फिर भी ललितकला कृतिया जिनमें स्थापत्य भी समाविष्ट है, उनकी भौगोलिक स्थिति और आयु की दृष्टि मे ही वर्गीकरण की जाना चाहिए न कि जिस धर्म की सेवा के लिए उनकी कल्पना की गई हो उसकी दृष्टि से ।[2]

इसलिए स्थापत्य या शिल्प की जैन शैली जैसी कोई भी बात नही है । यह बात इससे और भी स्पष्ट हो जाती है कि बौद्ध एवम् जैन दोनो ही के प्रमुख मूर्ति-शिल्प इतने तादृश है कि उन्हे ऊपरि दृष्टि से देखने वाला इस प्रकार वर्गीकरण कर ही नही सकता है कि अमुक-अमुक सम्प्रदाय का है और अमुक-अमुक सम्प्रदाय का । इस प्रकार का शीघ्र विवेक करने के लिए पर्याप्त और लम्बे अनुभव की आवश्यकता है ।[3]

भारतीय कला के अभ्यासी के लिए दूसरी महत्व की बात यह है कि यद्यपि सब भारतीय कला धार्मिक ही है[4] फिर भी भारतीयो को धार्मिक, सौन्दर्य, और वैज्ञानिक दृष्टि अवश्य ही विरोधात्मक नही है, और उनकी सभी कला कृतियो मे, चाहे वह गान-वाद्य की, साहित्यिक या भास्कर्य किसी की भी क्यो न हो, ये दृष्टिकोण कि जिन्हे आजकल इतनी स्पष्टता से व्यक्त किया जाता है, अपार्थक्यरूप मे मिले हुए होते है । यह नि सन्देह देखना ही शेष रह जाता है कि यह मर्यादा या अनुशासन शक्ति के श्रोत का काम देता है अथवा उसे उपदेशी अभिप्राय का दास बना देती है । फिर भी यद्यपि धार्मिक कथा, प्रतीक या इतिहास कलाकार को कार्य करने की प्रेरणा देते है, परन्तु वे ही उसको हाथ चलाने की प्रेरणा नही देते है । ज्यो ही वह काम करने लगता है, कला उन्मुख हो जाती है और वह इन तीनो ही से भाववही प्रेरणा प्राप्त करता रहता है । यही कारण है कि "नवजागृत इटली का प्रचण्ड धर्मोत्साह अपने समस्त चित्र प्रतीको सहित अपने कलाकारो को उपदेशक की अपेक्षा कुशल चित्रकार बनने से रोक नही सका था और वे धर्म-प्रचारक की अपेक्षा मण्डनकारो के प्रति ही निष्ठावान रहे थे । सिग्नोरेली, इसी कारण अपने पवित्र प्रसगो को वास्तविक जीवन से प्रेरित कला की अपनी खोजो के प्रमुख साधन रूप मे

---

1 देखो कुमारास्वामी, हिस्ट्री आफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेसियन आर्ट, पृ 106 । परन्तु, यद्यपि प्राय सब भारतीय कला धार्मिक हे, यह सोचना भ्रमपूर्ण है कि शैली धर्म पर निर्भर करती थी फरग्यूसन का आर्ष गन्थ हिस्ट्री आफ इण्डियन आर्किटेक्चर इस भ्रामक मान्यता से कि बौद्ध जैन और हिन्दू की स्पष्ट शैलियां विद्यमान थी, बुरी तरह भ्रष्ट हो गया है । स्मिथ, ए हिस्टी आफ फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन, पृ 9 ।

2 वही ।

3 जैन स्तूपआकृति मे बौद्ध स्तूप से कुछ भी भिन्न नही होते है और जैन वक्रीय शिखर हिन्दू मन्दिरो के शिखरो के समान ही प्राय. होते है । "—वही ।"...अत्यन्त सुशिक्षित व्यक्ति भी एक प्रकार की मूर्ति का दूसरी मूर्ति से विवेक नही कर सकते हैं ।" —राव, एलीमेंट्स आफ हिन्दू आइकोनोग्राफी, भाग 1, खण्ड 1, पृ 220 ।

4 देखो कुमारास्वामी दी आर्टस एण्ड क्राफ्ट्स आफ इण्डिया एण्ड सीलोन, पृ. 16 । नियाम याने शास्त्रानुसार (निर्मित मूर्ति) सुन्दर होती है, अन्य कोई भी निश्चय ही सुन्दर नही होती, कोई उसे सुन्दर (कहते है) जो (उनकी ही) अपनी कल्पनानुसार होती है, परन्तु वह जो शास्त्रानुकूल नही होती, जानकार मर्मज्ञो को वह असुन्दर (लगती है) । वही । हिन्दू सदा ही धार्मिक उदाहरण के व्याज से सौन्दर्य-विज्ञान के तत्व ही प्रस्तुत करते है । स्मिथ, वही पृ 8 ।

-यवहार किए बिना नहीं रह सका था और फा बरटानोम्मिग्रा के प्रशसको ने उनको सर्वोत्कृष्ट और अतीव आकर्षक सन्त सबास्टियन का प्रतिकृति का गिरजाघर की भीत पर स सबद उतार दिया था।"[1]

भारतीय कला विषयक इस सामान्य चर्चा के पश्चात् अब हम जनो के विशिष्ट कलावशेषों का विचार करें। इसम उडीसा की गुफाए हमारा ध्यान सब प्रथम आकर्षित करती है कि जो भारतीय गुफाओ मे अति रसप्रद और साथ ही विलक्षण है। वे गुफाए अधिकाश जैन ही है इसम शका हो नहीं की जा सकती है। कलिंगदेश म जनधर्म' शीर्षक अध्याय म इन गुफाओ मे पाई जाने वाली तीर्थकरो की प्रतिमाओ और उसमे भी पार्श्व की अनेक मूर्तिया एव उसके सप फरण लाछन की अनेक आकृतिया को लेकर उनका दिए प्रमुख स्थान आदि का निर्देश कर चुके ह। गुफाओ के निरीक्षण मे कोइ ऐस अवशेष उपलब्ध नही होते ह कि जो स्पष्टतया बौद्ध कहे जा सकते है। दागोबा बुद्ध या बोधीसत्व बौद्ध दतकथाओ म स्पष्टतया खोज निकाल जा सकने वाले दृश्य कोई भी वहा नही हैं। उन्मुक्त या नोकदार त्रिशूल, स्तूप, स्वस्तिक वध कटहर बाड लगे वृक्ष चक्र श्री देवी वहा अवश्य ही पाए जात ह पर तु ये प्रतीक तो जैनो मे भी इतने ही प्रचलित ह जितने कि अन्य धर्मों म।[2] फिर इस तथ्य को सभी मान्य विद्वानो ने सामान्य रूप से स्वीकार कर लिया है। पुरातत्वनो और शिल्पविशारदो जस कि ओ माल[3] मन मोहन चक्रवर्ती[4] ब्लाक[5] फरग्यूसन[6] स्मिथ,[7] कुमारास्वामी[8] आदि आदि ने।

इस प्रकार आज वतमान प्राचीनतम मूर्तिशिल्प के नमूने बताते ह कि अन्य धर्मो की भाति ही जनो ने भी अपने साधुओ के निवास के लिए गुफाए या भिक्षु गृह खुदवाए थ। पर तु उनके धम की व्यवहारिक आवश्यकताएँ पूरा करने जितनी ही उनके निर्माण की शली पर प्रभाव अवश्य ही पडा था। यह एक सामान्य नियम था कि जन मुनि बडी सख्या म एक साथ नही रहते थे और साथ ही उनके धम की प्रकृति के कारण भी उन्हे बौद्ध चत्या के से बडे बडे विहारो की आवश्यकता नही होती थी। जसा कि पहले ही हम देख आए है जन सम्प्रदाय के प्राचीनतम और अधिकतम इस प्रकार की प्राचीन गुफाए उदयगिरि नाम की पूर्व की ओर की पहाडी मे है। आधुनिक गुफाए पश्चिमी अश मे ह जो कि खण्डगिरि नाम स प्रख्यात है। उनके दिखाव की मान्यता उनके शिल्प और स्थापित की बारीकिया की लाक्षणिकता उनकी प्राचीनता स मिल कर उन्हे सूक्ष्म सर्वेक्षण के परम योग्यतम बना देती है।[9]

---

1 मोलामन, दी चाम आफ इण्डियन आर्ट पृ 86-87।

2 देखो चक्रवर्ती, मनमोहन, वही पृ 5 फरग्यूसन, वही पृ 11।

3 ओ माले बगाल डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, पुरी प 266।

4 अपनी यात्राओ म इन गुफाओ का सूक्ष्म निरीक्षण करने के पश्चात् मैं इस परिणाम पर पहुँचा हू कि सभी गुफाएँ जहा तक कि वतमान सामग्री कहता है जनो की कही जानी चाहिए न कि बौद्धो की। चक्रवर्ती मनमोहन, वही और वही स्थान।

5 गुफाओ बौद्धधम का कुछ भी नहा ह, परन्तु दृश्यत सब ही जनो की है, यह तथ्य प्राय सभी अधिकारी विद्वानो द्वारा मैं समझता हू कि सामान्यरूप म स्वीकृत है। देखो वही प 20।

6 बहुत थोडे ही दिनो पहले तक, फिर भी, भ्रम स बौद्ध मानी जाती रही ह हालाकि व एसी स्पष्टत कभी भी नही थी। फरग्यूसन वही भाग 1 पृ 177। 7 देखो स्मिथ वही पृ 84।

8 देखो कुमारास्वामी हिस्टी आफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेसियन आर्ट प 37।

9 फरग्यूसन वही भाग 2, प 9।

स्थपित की दृष्टि मे नही तो पुरातत्व की दृष्टि मे तो अवश्य ही हमारा ध्यान आकर्षण करनेवाली उदयगिरि की गुफाओ मे हाथीगुफा की गुफा है जो कि एक बडी प्राकृतिक गुफा है और उसका शैलप्रान्तलेख लिखने के उपयुक्त चिकना कर दिया गया प्रतीत होता है। इस लेख का विचार तो विस्तार से हम पहले कर ही चुके है। आज जिस रूप मे यह गुफा खडी है, उसमे शिल्प की विशिष्टता बहुत ही न्यून रह गई है। परन्तु इतना निश्चय तो है ही कि उसके प्राकृतिक होने के बावजुद, परन्तु उसके अभिलेख की महत्ता को देखते हुए हाथीगुफा कुछ कम महत्व की गुफा नही होना चाहिए। इसका यह कारण कि पहाडो के टोलो मे गुफा या मन्दिर खोदने की भावना शाश्वत पुण्य की आकाक्षा मे मे उद्भव होती है और वैसे स्थान या मन्दिर या स्मारक कठोर पाषाण पर्वत-खण्डो मे ही बनाए या खोदे जा सकते है क्योकि जब तक ये स्मारक खडे रहते है, वहाँ तक उनके निर्माता को पुण्य प्राप्त होता रहता है। फिर इस हाथीगुफा को कला की दृष्टि मे व्यापक कि याने और सुधारने गया था, यह इस बात से समर्थित होता है कि सामान्यता गुफा-खोदनेवाले ऐसी चट्टान ही इसके लिए पसन्द करते हैं कि जो ठोस होने के साथ ही दरार और सलवालो भी नही हो न कि प्राकृतिक खोह। इसका कारण यह है कि प्राकृतिक खोह का टोल पोला होता है और उसके कभी टुकडे टुकडे भी हो सकते है और इसलिए उसमे रहनेवालो को जीवन का भय सदा ही बना रहता है।

जैसा कि कहा जा चुका है, कला की दृष्टि से उदयगिरी टेकरी की रानी और गणेश गुफाए रोचक है। ये दोनो वेष्टनीवाली दुमजिली गुफाए है और इनके ऊपर एव नीचे की ओमारी मे अनेक भवन-द्वार है। रानी गुफा सब गुफाओ मे बडी और सुन्दर सजी हुई है।[1] उसकी भव्य नक्काशीदार वेष्टनिया मानवी प्रवृत्तियो के सुन्दर दृश्य प्रस्तुत करती है। इन उत्कीर्णित दृश्यो मे और गणेशगुफा मे बहुत-कुछ उनके ही पुनरावृत्ति के विषय मे जिला विवरणिका एवम् चक्रवर्ती आदि सुप्रसिद्ध विद्वानो के अनुसार पार्श्व के जीवन प्रसग प्रस्तुत किए गए हैं। इस बात का विचार हम पहले ही कर चुके है, अपितु हम इन वेष्टनियो के दृश्यो के विषय का भी विस्तार से कुछ कुछ विचार कर चुके है।

इन प्राचीन जैन अवशेषो के शिल्प के विषय मे हम देखते है कि, मथुरा शिल्प के नमूनो की ही भाति जिनका कि विचार हम आगे करने वाले है, इनमे भी स्त्रियो और पुरुषो के वस्त्र एवम् वेश-भूषा मे ग्रीक और भारतीय तत्वो का समिश्रण है। ई पूर्व युग की सदियो मे यवन भारतवर्ष मे बहुत भीतर तक प्रवेश कर गए थे, यह बात जहाँ स्वत प्रमाणित है वहाँ खारवेल के हाथी गुफा लेख से भी यह प्रमाणित होता है जिसमे यवनराज डिमेट्रियस को भारतवर्ष से पीछा हटा देने मे खारवेल के प्रभाव का वर्णन है। फिर इन दृश्यो के चित्र, मथुरा शिल्प की भाति ही, कुछ ऊचे उभरे खुदे है और इनमे की स्त्रिया बहुत मोटे साकले भी पैरो मे पहनी हुई है। उडीसा और अन्य जैन अवशेषो की यह विशिष्टता इस वक्तव्य की सत्यता का उचित ही समर्थन करती है कि "पृथ्वी भर के निवासियो मे शृगारिक भूषणो का आदान-प्रदान उसी समय मे चलता रहा होगा जब मे कि मनुष्य ने पहले पहले सज्जा रूपो का चेतन रूप मे पैदा करने लगा था। और यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि इस प्रकार के नकल किए भूषणो मे नकलकर्ताओ द्वारा प्रयोग करते समय अवश्य ही कुछ सस्कार हुए बिना नही रहा था। इस प्रकार की नकल और सस्कार की व्यापकता असीम है और ये भूषण अपने मूल स्थान मे अद्भुत रूप से परिवर्तित हुए वापिस भी पहुँच जाते है परन्तु बहुधा उनका पहचानना ही सभव नही होता है।"[2]

---

1 देखो कुमारास्वामी, वही, पृ 38।

2 एण्ड्रूज, द पल्यूएन्सेज आफ इण्डियन आर्ट, प्रस्तावना, पृ 11।

प्राक्-गंधार युग की भारतीय या जैन कला में विदेशी तत्वों के प्रवेश की इस बात के सिवा भी हमारी यह सम्मति है कि इस प्राचीन जैन शिल्प में विशिष्ट चारुता रही हुई है। भूषणों की प्रचुरता और कला की प्रवीणता के अतिरिक्त उसमें भावों की अद्भुत ताजगी और पुष्टि कारक आनन्द अज्ञातभाव वर्तमान है। ये उभरे भास्कर्य मानव प्रवृत्तियों के अनेक दृश्यों में यान आखेट लड़ाई नाच मद्यपान और प्रेम प्रदर्शन के दृश्य दिखाते हैं और फर्ग्यूसन के अनुसार इनमें 'धर्म अथवा प्रार्थना के किसी भी रूप के दृश्यों के सिवा'[1] और सभी कुछ दिखाए गए हैं। स्वस्थ्य प्रजा की यह ऊष्मा सभी उत्तम बौद्ध एवं जैन कला की विशिष्टता है और गांधार सम्प्रदाय की आप सीमा से वह अवश्य ही किसी अंश में दब गई कि जो बाद में सामने आई।

उड़ीसा के जैन अवशेषों की विशेष चर्चा यहाँ नहीं की जा सकती है फिर भी मथुरा के जैन अवशेषों का विचार करने के पूर्व कला विषयक जैन योगदान की दो विशिष्टताओं का उल्लेख करना आवश्यक है। पहली विशिष्टता है स्तूप के रूप में अवशेष पूजने की प्रथा और दूसरी जैनों में मूर्ति पूजा। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, हाथीगुफा शिलालेख की चौदहवीं पंक्ति से हमें पता लगता है कि मथुरा शिल्प-युग के बहुत पहले से ही बौद्धों की भांति जैनों में भी अपने गुरुओं के अवशेषों पर स्तूप या स्मारक खड़े करने की प्रथा प्रचार में थी। प्राचीनतम स्तूप निःसन्देह किसी धार्मिक सम्प्रदाय के प्रतीक नहीं थे। वे अग्निदाह के स्थान में भूमि में दबा देने की प्रथा के साथ-साथ मृतों के स्मारक मात्र थे।"[3] हो सकता है इस प्रकार की पूजा बौद्धों की भांति जैनों में इतना प्रचार नहीं पाई हो। परन्तु यह तो निश्चित है कि थोड़ी ही लोकप्रियता के पश्चात् वह अप्रचलित हो गई थी। परन्तु मथुरा के बौद्ध स्तूप से कि जो, जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं देव निर्मित था, हम यह देखता में कह सकते हैं कि जैनों में स्तूप पूजा भी कभी एक निश्चित स्थिति को पहुँच गई थी।

ऐसा कहने का मुख्य आधार यह है कि स्तूप मूलतः किसी नेता या धर्माचार्य की अस्थि पर मिट्टी के ऊँचे ढूह मात्र ही थे और उनकी रक्षा के लिए काष्ठ की बाड़ उनके चारों ओर लगा दी जाती थी। बाद में ये ही मिट्टी के अन्तरतम अंश सहित ईंट या पाषाण के बनाए जाने लगे और काष्ठ बाड़ भी पाषाण बाड़ में बदल गई।[4] मथुरा के बौद्ध एवं अन्य स्तूपों के दिखाव पर से उनका प्रारम्भिक रूप प्रगट नहीं होता है यह हम उनका स्तवन ही कह सकते हैं उनमें हम काष्ठ-बाड़ के स्थान में पाषाण की बाड़ पाते हैं और उसके बाह्य भाग को अत्यन्त सजाया हुआ भी देखते हैं।

दूसरी बात जिसका कि हम विचार करना है वह है जैनों का मूर्तिशिल्प। हाथीगुफा शिलालेख से हम जानते हैं कि जैनों में अपने तीर्थंकरों की मूर्तियाँ नन्दों के काल में भी बनती थीं। इसका किसी अंश में समर्थन मथुरा के अवशेषों से भी होता है। जिनसे हम जानते हैं कि इण्डो सिथिक काल में जैनों ने किसी प्राचीन मन्दिर के सामान का उपयोग मूर्तिशिल्प में किया था। स्मिथ के अनुसार यह इतना तो अवश्य ही प्रमाणित करता है कि मथुरा में ई. पूर्व 150 के पहले जैन मन्दिर कोई अवश्य ही था।[4] फिर जैनों के दन्तकथा साहित्य से भी हमें जानना पड़ता है कि महावीर के जीवन काल में भी, उनके माता पिता एवम् उस समय का जैनसंघ पार्श्वनाथ तीर्थंकर का पूजक थे। जैनों में मूर्तिपूजा निश्चित रूप से कब प्रवेश हुई थी इस प्रश्नों की मीमांसा करने की हम

---

1 फर्ग्यूसन वही, पृ 15।

2 फर्ग्यूसन, एंशेंट एण्ड मेडीवल आर्किटेक्चर आफ इण्डिया पृ 46।

3 बर्जेस, आर्कियोलोजिकल एण्टीक्विटीज आफ वेस्टर्न इण्डिया पृ 8।

4 स्मिथ, दी जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टीक्विटीज आफ मथुरा प्रस्तावना पृ 3।

आवश्यकता नही है, हालाकि यह तो निश्चित प्रतीत होता है, किसी न किसी रूप मे यह महावीर काल मे तो जैनो मे प्रचलित ही हैं।

मूर्तिपूजा का प्रश्न हमारा विचारणीय नही है, परन्तु मूर्ति-शिल्प का अवश्य ही विषय हमारे लिए विचारणीय है। पूजा के मुख्य पदार्थ तो चौबीस तीर्थ कर ही हैं, परन्तु, महायान बौद्धो की भाति ही, जैनो ने भी हिन्दू देवी-देवताओ का अस्तित्व स्वीकार कर लिया है, यही नही अपितु उन्हे अथवा उनमे से ऐसो को अपने मूर्ति-शिल्प मे स्वीकार कर लिया है कि जिनका सम्बन्ध उनके तीर्थ करो की कथाओ के साथ है। ऐसे ये देव-देवी हैं, इन्द्र, गरुड, सरस्वती, लक्ष्मी, गन्धर्व, अप्सरा आदि आदि। इनका एक अपना ही देवसमाज है जिसके उनने चार विभाग माने हुए है, यथा भवनाधिपति, व्यतर, ज्योतिष्क और वैमानिक।[1] जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है तीर्थ करो की पहचान उनके चिन्ह या लाछन द्वारा होती है कि जो उनकी मूर्ति के नीचे चिन्हित या अकित होता है। हमने यह भी देखा कि उडीसा की एक मे अधिक गुफाएँ लाछनवाली तीर्थ करो की मूर्तियो और कुछ उभरी खुदी बैठी मूर्तियो के लिए प्रसिद्ध है। इसी प्रकार की जैन तीर्थकरो की मूर्तिया मथुरा के अवशेपो मे भी प्राप्त हैं। वे मूर्तिया एक वर्ग रूप से दिगम्बर शैली की ही है।[2] इस प्रकार ऐतिहासिक रूप से भी चौबीस तीर्थकरो की चौवीसी की दृढ मान्यता प्रत्येक तीर्थकर के अपने ही लाछन या चिन्ह सहित, न केवल ईसवी युगे के प्रारम्भ मे अपितु उससे पूर्व से ही प्रचलित थी।

तीर्थकरो की मूर्तियाँ सामान्यत बुद्ध की मूर्ति के समान ही पालथी (पैर पर पैर रख कर बैठना) लगा कर बैठे आकार मे और शात, ध्यानमग्न अवस्था मे देखी जाती है। यदि उडीसा एवम् मथुरा दोनो ही मूर्ति-शिल्पो मे नर्तकियो की आकृतियाँ विकास की द्योतक है तो योगी मुद्रा मे बैठी जिन मूर्तियाँ उतनी ही विकास के प्रत्याहार और पूर्ण स्वातत्र्य की हृदयग्राही मूर्तियाँ हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि यह देहदमन का प्रतीक नहीं है। यह तो भारतीय विचारको द्वारा ध्यान के लिए स्वीकृत सब मे सुगम अनादि कालीन मुद्रा है। इसे अभिव्यजना-शून्य नही मान लेना चाहिए क्योकि वह वैयक्तिक विशिष्टता जिसे सामान्यतया अभिव्यजना प्रदर्शक माना जाता है, नही बताती है। पक्षान्तर मे रोथेनस्टीन के अनुसार, समाधि याने धार्मिक अन्यमनस्कता के नमनीय व्याख्या कला के इतिहास मे एक सर्वोच्च कल्पना है और इसके लिए समस्त ससार भारत को मनोपि-मस्तिष्क का ऋणि है। ध्यानस्थ दशा का यह मूर्त स्फटिकीकरण, 'वह विद्वान कहता है कि,' आकार मे इतना पूर्ण एवम् अनिवार्य विकसित हुआ कि 2000 वर्ष से अधिक होने पर भी वह मनुष्य निर्मित प्रतीको मे का अत्यन्त प्रेरक और सन्तोपकारक एक है।"[3]

अब हम मथुरा के जैन अवशेपो का विचार करे। यह नगर स्मरणातीत प्राचीन है। परन्तु जैनावशेप कटरा के आधा मील दक्षिण स्थित ककाली नामक टीले से और उसके आसपास की खुदाई मे प्राप्त हुए है। इसी को जैनी टीला भी कहा जाता है। भारतीय कला के इतिहास मे इन अवशेपो का महत्व दो कारणो से है। पहला तो यह कि ये प्राचीन और मध्ययुगीन भारतीय कला की शृ खला रूप है और दूसरा यह कि इनकी उस गधार सम्प्रदाय से अत्यन्त ही घनिष्टता है कि जिसका उत्तर-पश्चिमी सीमा का गधार क्षेत्र केन्द्र था और वही

---

1 देखो व्हूलर, इण्डियन सेक्ट आफ दी जैनाज, पृ 66 आदि।

2 देखो वोग्यल कैटेलोग आफ दी आर्कियालोजिकल म्यूजियम एट मथुरा, पृ 41। विशेप विवरण मथुरा सग्रहालय की तीर्थ करो की मूर्तियो के लिए देखो वही, पृ 41–43, 66–82।

3 रोथेनस्टीन, एक्जाम्पुल्स आफ इण्डियन स्कलपचर प्रस्तावना, पृ 8।

इस सम्प्रदाय की अनेक उत्कृष्ट कृतिया प्राप्त हुई हैं। "भौगोलिक दृष्टि से," स्मिथ कहता है कि, 'मथुरा उत्तर पश्चिम के गधार दक्षिण पश्चिम की अमरावती और पूव के सारनाथ स केन्द्र स्थानीय है। इसलिए यह आश्चय की बात नही ह कि वहाँ की कला म ऐसे मिश्र लक्षण दीख पडें कि जो एक ओर तो उसको गधार की यावनी कला स जोड देत हैं तो दूसरी ओर विशुद्ध अतर भारतीय कला सम्प्रदाय म।'[1]

यह गधार-मथुरा सम्प्रदाय सम्भवत ई पूव पहली सदी म उद्भूत हुई होगी और इ 50 से 200 तक क काल म पूरा विकसित रूप म चमकी होगी।[2] भारत की प्राचीन कला म यावनी नमूनो के स्वीकरण मे इसका उद्भव हुआ कि जो शनै शन उसकी ही आत्मा रूप हो गए।

'गधार सम्प्रदाय ' डॉ बार्येट कहता है कि, एक उपचित वाक्य है जो यह प्रकट करता है कि अनेक कलाकारो के विविध सामग्रियो म काम करती अनेक पीढियो मे विविध कला कौशल वाले परिश्रम का यह फल है। कभी कभी यावनी नमूना का अधानुकरण भी किया गया था और इस चतुराई पूर्ण नकल म उन्हे सफलता शायद ही प्राप्त हुइ है। सामान्य रूप स देखें तो उनन इससे भी अधिक किया था। म्लेच्छ कला की आकृतिया, वस्त्र, भावनाओ आदि का स्वीकार करत हुए उनने ग्रीक प्रभा और सुषुमा, सौंदय और सुसगति का भी आयात किया जिससे पुरानी कला की आकृतियाँ, कला की मानवीयता और सत्यता को निबल किए बिना उच्च स्तर को उठ गइ।[3]

भारतीय कला म इन विदेशी तत्वो का समावश और भारतीय कला का विदेशियो द्वारा स्वीकरण होना ही बाहरी दुनिया के साथ भारतीय राजनतिक एवम् व्यापारिक सम्बन्ध के आभारी ह। यही कारण है कि आज का भौगोलिक भारत भिन्न भिन्न जातियो का निवास स्थान है कि जिनका कला का आदश धम का आदश एकमा बिलकुल ही नही ह और जिनने, अधिकाश म परवर्ती ऐतिहासिक काल तक म परदेश से आए हुए होन स सुशासन कला के विदेशी तत्वों का प्रवश किया परन्तु जो उन परदेशियो की ही भाति यहाँ के ही हो गए ह यहा नही अपितु स्थानीय दृष्टिकोण भी उनने प्राप्त कर लिया है। फिर भी एन्ड्यूज के अनुसार, जलवायु और अन्य कारणो से उन देशो से कि जो भारतीय सम्पक से विशेष प्रभावित हुए थे कला-विषयक कोइ भी रोचक तथ्य प्राप्त नही किए जा सकत ह और इसीलिए 'कलाओ का हमारा अधिकाश ज्ञान उन पदार्थों के आभ्यतरिक साक्षियो मे ही सग्रहित किया जा सकता है कि जो जलवायु एव क्षमा धना की विनाशक शक्तियो से आज तक बचे रह गए ह।[4]

मथुरा सम्प्रदाय के विषय म सामान्य प्रस्ताविक विचार करने के बाद अब हम यहा के जन शिल्प के कुछ उदाहरणो का विचार करेंगे जो कि ककाली टीला मे प्राप्त हुए ह। कला देवी अपने भक्तो स जो निर्विवाद तन्मयता मागती है वह जन कलाविदो न कितने प्रमाण म साधी है और यवन तत्वों विशुद्ध आत्मीकरण करने म वे कहाँ तक सफल हुए ह इसका भी हम विचार करेंगे।

जिन कतिपय मथुरा शिल्प के नमूना का हम यहा विचार करने वाले ह उनम पहले हम आयागपटो का विचार कर कि जो बहुत रोचक और सुन्दर कलाकृतियाँ है। आयागपट', डा ब्हूलर कहता है कि एक शोभा

---

1 स्मिथ हिस्ट्री आफ फाइन आर्ट इन इंडिया एण्ड सीलान पृ 233। देखो याग्रल, वही पृ 19।

2 इस सम्प्रदाय की कला की यह पराकाष्ठा का काल ई 50 म ई 150 या 200 तक का कहा जा सकता है।" –स्मिथ, वही पृ 99।

3 बार्येट एण्टीक्विटीज आफ इण्डिया, प 253। 4 एण्ड्रूज, वही, प्रस्तावना पृ 12।

शिला है कि जिसमे जिन की प्रतिकृति या कोई अन्य पूज्य आकृति होती है। इस शब्द की यथाविहितरूप मे व्याख्या' पूजा या समर्पण की शिला की जा सकती है क्योकि ऐसी शिलाएँ मदिरो मे स्थापित कीजाती थी और जैसा कि उन पर के अनेक शिलालेखो से कहा हुआ है, 'अर्हतो की पूजा के लिए :'...इसका प्रयोग जैनो में बहुत काल पहले ही स्थगित हो गया था जैसा इन पर के लेखो के प्राचीन अक्षर अनिवार्यत प्रगट करते है, और जिनमे कही भी कोई तिथि नही दी गई है।[1]

प्राचीन जैन कला के आयागपट एकान्त नही अपितु प्रमुख लक्षण है। जैसा सामान्यत: देखा गया है, इन अति सवारे पटो के विषय मे भी जैन शिल्प का लक्ष्य 'सौन्दर्य की स्वतन्त्र कृति प्रस्तुत करना नही था। उनकी कला स्थापित स्मारको के सजावट की परतन्त्र कला ही थी।'[2] फिर भी यह कुछ भी आश्चर्य की बात नही है कि मध्य स्थान मे शोभती बैठी जिन की योगी-मुद्रा, विविध प्रकार के पवित्र प्रतीको सहित अत्यन्त सुशोभित त्रिशूल, उत्कृष्ट वक्रीयविमिण्डन, और ईरानी-अकीमीनी शैली मे मोटे मोटे स्तम्भ कला-प्रेमी दर्शक को आसानी मे यह विश्वास नही करने का पूर्वग्रही कर दे कि मथुरा शिल्प का प्रमुख ध्येय प्रतीक प्रदर्शन ही था और इसी ध्येय से 'इन पूजा की शिलाओ' पर शिल्पीने अपनी छेनी चलाई थी। पक्षान्तर मे, इन आयागपटो के सम्बन्ध मे तो अवश्य ही, एक कदम और आगे बढ कहा जा सकता है कि उनकी कृतियो की स्वतन्त्रता और सजीवता मे ही उनकी कला की उत्कृष्टता प्रगट हुई है, और इस प्रकार स्वयम् उत्साही कलाकार होने के कारण शिल्पीने धार्मिक विषयो को ही एक बहाना मात्र, न कि अपनी कृतियो का साधन और साध्य, रूप मे बहुधा प्रयोग किया ऐसा ही लगता है।

दो ही आयागपटो का वर्ण करना यहाँ पर्याप्त है— एक तो नार्तिक्क फगुयश[3] की पत्नि शिवयशा स्थापित, और दूसरा महाक्षत्रप शोडास के राज्यकाल के 42वे वर्ष मे उत्सर्गित आमोहिनी का जिसका उल्लेख पहले भी किया जा चुका है। पहले मे, स्मिथ के अनुसार, जैन स्तूप का एक सुन्दर दृश्य दिया हुआ है जिसके चारो ओर कटहरे द्वारा सुरक्षित एक भमती (परिक्रमा) है। उस भमती तक अति सुसज्जित तोरण द्वार मे हो कर पहुँचा जा सकता है और द्वार चार सोपान की चाढी से। द्वार के नीचे ही नीचे के शहतीर मे एक भारी माला लटक रही है। कमर मे कटिबन्ध स्वरूप परिच्छद और सामान्य अलकार याने कटिमेखला के अतिरिक्त सम्पूर्णतया नग्न नर्तिका द्वार के दोनो ओर कटहरे के ऊपर असभ्य रीति से खडी या टिकी है। विचित्र पाये वाले दो भारी स्तम्भ भी दिखाए गए है और कटहरे का कुछ भाग ऊपर की भमती को घेरा हुआ भी दीखता है।"[4]

इस सुन्दरता से तक्षित तोरण पर एक सक्षिप्त अर्पण-पत्रिका उत्कीर्णित है। स्मिथ के अनुसार इस लेख के अक्षर "ई पूर्व 150 लगभग के या सुगो के राज्यकाल की तिथि की भारहुत स्तूप के द्वार पर के धनभूति के लेख के अक्षरो मे कुछ अधिक प्राचीन है।"[5] डा ब्हूलर भी इसको 'आर्ष प्राचीन' के समूह मे ही गिनता है। परन्तु वह यह भी कहता है कि "यह कनिष्क से पूर्व समय का है।[6] इस आयागपट की कला के गुणो के विषय मे भावना से ही विचार करना आवश्यक नही है। वैयक्तिक पसदगी या अपसदगी अथवा विशिष्ट सिद्धान्तो के सिवा भी सर्व मान्य परीक्षाए है। विसेट स्मिथ को दो नर्तकी आकृतियो की भाव-भगिमा असभ्य प्रतीत हुई है।

---

1 ब्हूलर, एपी, इण्डि, पुस्त 2 प 314। 2 चन्दा, आसइ 1922-1923, पृ 106

3 देखो ब्हूलर, वही स 5 पृ 200।

4 स्मिथ दी जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टीक्विटीज आफ मथुरा, पृ 19, प्लेट 12।

5 स्मिथ, वही, प्रास्तावना पृ 3। 6. ब्हूलर, वही, पृ, 196।

उनने इसी प्रकार ग्र यत्र के कुछ कटहरा पर की स्त्री पुतलिया की नग्नाकृतिया ग्रमभ्य रूप म नग्न नहीं हैं ।[1] इस प्रकार के दृश्यो मे ऐसा लगता है कि निकट का ग्रथवा दृश्य विषय-तत्व ही मुख्य होता है कि जो वयक्तिक पसन्दगी या ग्रपसदगी को व्यक्त करता है ग्रौर कला का ग्रथ भी हमारे लिए उस निकट या दृश्य विषय मे ग्रधिक गहन नहीं रहता है ।

जसा भी हो शिवयशा के ग्रायागपट ग्रौर कुछ कटहरे के स्तम्भो पर की स्त्री ग्राकृतिया, चाहे वे विकृत वासना पर खडी हो, या किसी ग्रन्य भंगिमा म हो, ग्रच्छी या बुरी प्रवृत्तियो को उकसाना नहीं चाहिए क्योकि सभी कला जिसका कुछ भी सचेतन ग्रभिप्राय ह भाव प्रवण ही होता है । कला का यथार्थ नैतिक मूल्य उसकी ग्रनासक्ति ग्रौर दर्शनशक्ति के गुण म है । प्राचीन भारतीय कलाकार जिस प्रकाश मे नारी का परिदर्शन करते थे, वह गम्भीर प्रमायिक ग्रौर उदार होता था । पैरो म भारी सांकले यान लगर सूक्ष्म पतला वस्त्र, भारी कर्णफूल बाजूबन्द कण्ठहार ग्रौर मेखला सब विजयी एवम् ग्राकर्षक नग्नता गोपन नहीं ग्रपितु इसकी शोभा म ग्रभिवृद्धि करते ह । इस नग्नतचारी सौन्दर्य म ग्रश्लीलता ग्रथवा झूठी लज्जा की झिझक का लवलेश भी नहीं होता ह । नीच ग्रथवा सकुचित क्षेत्र म ही नहीं ग्रपितु उनकी ग्रात्मा के महलो म भी मथुरा के कलाकारो न जसा कि साची एवम् ग्रन्यत्र के कलाकारो ने किया ह नारि का स्मृति मन्दिर मे प्रतिष्ठित किया है । इसीलिए उनने उसकी मूर्ति को सब सौन्दर्य के ग्रमर प्रतीक ग्राकाश म ऊँची उठा कर चिरस्थायी पाषाण म जैसा कि उपयुक्त था छाप लिया है ग्रौर ग्राकाश की ग्रासमानी पृष्ठभूमि म खडा कर लिया ह ।

ग्रामोहिनी द्वारा स्थापित समर्पण शिला के विषय मे स्मिथ कहता है कि 'इस सुन्दर उत्सर्ग शिलाम जो निश्चय ही ग्रायागपट है, हालाकि उसे ऐसा कहा नहीं गया है । एक राजमहिषी तीन परिचारिका ग्रौर एक बालक सहित दिखाई गई है । हिन्दू पुरातन प्रथानुसार परिचारिकाएँ जो कि ग्राज तक स्मिथ भारत मे प्रचलित है, सिर से कमर तक नग्न हैं । एक ग्रपनी स्वामिनी पर छत्र किए हुए है ग्रौर दूसरी पखे से उसे हवा कर रही है तीसरी उसे ग्रर्पण करने को हाथ म हार लिए खडी है । यह कलाकृति सुस्पष्ट ह ग्रौर कला गुण से एकदम ही रहित नहीं है ।[2]

ग्रायागपटो के ग्रतिरिक्त हम यहा स्वेत निर्मित बौद्ध स्तूप के शिल्प का भी विचार कर लें । इस कलाकृति मे धर्म का पवित्र प्रतीक त्रिशूल पर टिका हुग्रा धर्मचक्र ह । त्रिशूल कमल पर टिका हुग्रा ह । धर्मचक्र जैन हिन्दू ग्रौर बौद्ध तीनो ही धर्मों म धर्म चिह्न या प्रतीक रूप म प्रयोग होता है ।[3] जो चक्र विशिष्ट इस कलाकृति में दिखाया गया ह बौद्ध ही नहीं ग्रपितु ग्रन्य जैन शिल्पो से एक बात म विभिन्न है क्योकि इसके शीर्ष पर कान के

---

1 कुमारास्वामी के ग्रनुसार य स्त्री ग्राकृतिया नर्तकिया भी नहीं हैं, जो कि स्मिथ न ग्रनुमान किया ह । उसकी राय म वे यक्षा देवता या वृक्ष का ग्रप्सराएँ ग्रौर वन देवियाँ ह ग्रौर लोक मान्यता या विश्वास क ग्रनुसार मम्य उवरता के शुभ प्रतीक ही मानी जानी चाहिए । कुमारास्वामी, वही, पृ 64 । देखो वार्षिक ग्राम 1909–1910, पृ 77 ।

2 स्मिथ, वही पृ 21 प्लेट 14 ।

3 यह ग्राश्चर्य की ही बात होगी कि स्तूपा पवित्र वृक्षा धर्मचक्रा ग्रादि की पूजा कि जिसके प्राय स्पष्ट चिह्न सभी धर्मों म ग्रौर शिल्प की प्रतीका म पाए जाते हैं एक ही धर्म का कारण हो न कि सुदूर प्राचीन काल से भारतीय एतिहासिक युग के प्रारम्भ से । उत्तराधिकार म प्राप्त सब धर्मों की प्रथा है । बूलर वही, पृ 323 ।

सदृश दोनो ओर आकृतियाँ है एवम् नीचे के कमल-पाद के सहारे दो शख भी खड़े किए हुए है।[1] कृति के दाईं ओर के पूजको के समूह मे चार स्त्रियाँ हाथो मे पुष्पहार लिये दिखाई गई है जिससे वे लेख निर्दिष्ट अर्हत् की पूजा करने की प्रत्यक्षत. इच्छुक प्रतीत होती है। पहली तीन आकृतियो मे से प्रत्येक दाएहाथ मे लम्बी डडीवाला कमल है, और चौथी जो कि सब से छोटी एवम् स्पष्ट ही न्यूनावस्था की लगती है, भक्तिभाव मे हाथ जोडे हुए खडी है। वह शिला के एक सिरे पर बैठे कठोर असीरियाई सिंह से कुछ आच्छादित है। डा ब्हूलर के अनुसार इन स्त्रियो की मुखाकृतियाँ चित्र[2] सी लगती है, और उनका वेश, जो कुछ अद्भुत सा है, समस्त शरीर को पैरो तक ढकनेवाला एक ही वस्त्र का बना हुआ है और वह कमर मे लपेटा हुआ है।

शिला के खण्डित अ श के विषय मे कुछ कठिनाई उपस्थित हो जाती है। धर्म चक्र के दाईं ओर की पुरुषाकृति, डा ब्हूलर के अनुसार, नग्न साधू की है जिसके दाए हाथ पर, सदा की भाति ही, एक वस्तु लटक रहा है। सम्भवतया लेख निर्दिष्ट अर्हत् यही है।[3] यह कहना कठिन है कि यह आकृति किसी नग्न साधू की ही है। स्मिथ के अनुसार शिला के दूसरे छोर पर खडे चार पुरुषो मे की ही यह एक आकृति है।[4] इस लेखक का मत यह है कि स्मिथ का कथन स्वीकार करना अधिक उपयुक्त है क्योकि तब यह समूचा ही शिल्प उस पर उत्कीर्ण लेख के अर्हत् की पूजा की तैयारी करते हुए स्त्री और पुरुष श्रावक-श्राविकाओ को प्रदर्शित करनेवाला समझा जा सकता है।

मथुरा शिल्प के इस नमूने का महत्व इस बात मे है कि यह देव-निर्मित बौद्ध स्तूप मे सम्बन्धित है। 'देवनिर्मित' शब्द के महत्व का विचार तो हम पहले ही कर चुके है। वह ई. पूर्व अनेक सदियो पहले निर्मित हुआ होगा क्योकि यदि वह उसी काल मे बनाया गया होता जबकि मथुरा के जैनी अपने दानो का लेख सावधानी मे रखते थे, तो इसके निर्माता का नाम भी उन्हे अवश्य ही ज्ञात होता। इसकी जैन दन्तकथा. जिसको स्मिथ ने उद्धृत किया है, इस प्रकार है:—यह स्तूप मूलत सुवर्ण निर्मित था और उस पर रत्न भी जडे थे। वह सातवें जिन याने तीर्थ कर सुपार्श्वनाथ के मान मे धर्मरुची और धर्मघोष नाम के दो साधुओ की प्रार्थना पर देवी कुबेरा ने बनाया था। तेईसवें जिन श्री पार्श्वनाथ के समय मे सुवर्णमय स्तूप को ई टो के स्तूप मे लिखा गया और बाहर मे एक पाषाण मन्दिर बना दिया गया।[5]

मथुरा शिल्प के इन कतिपय नमूनो के अतिरिक्त हम एक तोरण का भी वर्णन करना चाहेंगे कि जिसमे मानवो और देवो द्वारा पवित्र पदार्थो एवम् स्थानो के प्रति पूज्य भाव प्रदर्शन किया गया है। इन तोरणो का कलाकार किसी विशिष्ट दन्तकथा अथवा शास्त्र का चित्रण करना नही चाहता है। वह तो इतना भर दिखाना चाहता है कि देव और मानव तीर्थकरो, उनके स्तूपो और मन्दिरो का अभिवादन करने को कितने अधिक उत्सुक है। यही कारण है कि इस तोरण के दृश्य मे एक या अनेक जिन मन्दिरो की पूजा का और इसी लक्ष्य से की यात्राओ के सघो का प्रदर्शन किया गया है।

शिल्प के इन उदाहरणो मे एक ऐसा भी है जो दृश्यत पुरातत्विक अति महत्व का है। यह शिल्प एक तोरण का है कि जिसमे दो सुपर्णो (अर्ध-मनुष्य-अर्ध-पक्षी) और पाँच किन्नरो द्वारा स्तूप पूजा का दृश्य अकित है। पाँचो किन्नराकृतियो के सिर पर पगडी है जैसी कि बौद्ध शिल्पे मे अभिजात्यवर्ग के मनुष्यो के सिर पर बँधी बताई गई है। 'कुछ इसी जैसा दृश्य,' डा ब्हूलर कहता है कि, जहाँ सुपर्ण स्तूप की पूजा कर रहे है, साँची के

1. वही, पृ 321। बौद्ध शिल्प के उदाहरण के लिए देखो फरग्यूसन, ट्री एण्ड सर्पेंट वर्शिप, प्लेट 29 चित्र 2।
2 ब्हूलर, वही और वही स्थान। 3 वही। 4 स्मिथ वही, पृ 12। 5 वही, पृ 15।

उभर शिल्प म हम मिलता है ।[1] परन्तु यह भी स्पष्ट ह कि साची की आकृतिया ग्रीक राक्षसिया से अधिक मिलती हुई हैं जबकि इस शिल्प म आकृतिया असिरी और ईरानी शिल्प का पशाकृतिया जसी अधिक औपचारिक रीति की ह । हिन्दूधम कृतियों म स गरुड सुपर्णों का राजा की आकृति गुप्त सिक्का पर की तुलनीय है । गया और अन्य बौद्ध स्मारको पर जो किन्नरो की आकृतियाँ दखी जाती हैं व बहुत सम्भव है कि ग्रीक नमूना के अनुरूप ह । हमारे इस तोरण की शिला पर की आकृतिया ने जो विशेष दृष्टव्य बात ह कि वह है वृक्ष की एक शाखा द्वारा आकृति क उस भाग का आवृत होना कि जहा अश्व की जघा मनुष्य दह स जुडती है ।[3] प्राय पुरातत्वविद्या के निष्णात मरे साथिया से जहा तक मैं जान पाया हूँ म कहूँगा कि इस विशिष्टता को बताने वाला ग्रीक शिल्प कोई नहीं है ।[4]

इस शिल्प के दूसरी ओर की आकृतिया को विचार करने पर हम दखते ह कि तोरण के लट्टे म घरघोडे या जुलूस का अंश ही कि जो स्पष्टत किसी पवित्र स्थान को पहुँच रहा ह दिखाया गया है । इस जुलूस की गाडी आजकल की शिगराम जैसी ही है और सारथी भी जो डण्डा हाथ म ऊँचा किए हुए है उसी प्रकार बम पर बठा है जैस कि वह आज भी बठता है । कितने ही पशुओं का साज ठीक वसा ही है जसा कि साची के शिल्प म दिखाया गया है । परन्तु वहा इस प्रकार की शिगराम गाडी बिलकुल नही दीख पडती है जबकि उसके स्थान मे ग्रीक नमून क स घोडा के रथ[5] वहा दीखत ह ।[6]

अन्त म हम वह शोभा शिला लेत है कि जिसके सामने की ओर महावीर के नमस द्वारा गर्भापहार का दृश्य दिखाया हुआ ह और पीछे की ओर इस महा चमत्कार स हर्षित और उत्सव मनाती नर्तिकाएँ और गायिकाएँ दिखाई गई ह । इस शिल्प का देखने से हम फिर एक बार अनुभव हो जाता है कि धार्मिक कथा और नैतिक शिक्षा जिनके विज्ञापन का काय भारतीय कलाकारा का जब दिया जाता था तो य उसकी कला की पूर्ण अभिव्यक्ति म जरा भी बाधक नही होत थ । मथुरा का शिल्पी उस समय अत्यन्त सन्तोषकारक सुन्दर आकृतियाँ उत्कीर्ण करन म पूर्ण सफल हुआ प्रतीत होता है जबकि उसकी सवाओं की उसके साधू और राजा सरक्षको द्वारा प्रचार के लिए अत्यन्त ही माँग थी । विशेषत जब उस किसी सुप्रसिद्ध कथा या दन्तकथा के चित्रण का काम दिया जाता था तो वह अनुपात और हाव भाव के परम्परागत सिद्धान्तो का प्रयोग बहुत असाधारण रीति स कर सकता था और उनमे साम्य पदा करन के लिए वह सवशक्ति लगा देता था ।

महावीर क गर्भापहार की लोकप्रिय दन्तकथा प्रदर्शित करन वाली इस शिला के अतिरिक्त चार नष्ट भ्रष्ट पूतले भी ह जिन्ह कनिंघम ने प्रस्तर नक्स द्वारा मुद्रित कराया था । इनम स दो पूतल बठी हुई स्त्रियो के हैं । प्रत्यक का गोद म ध्यान म रखा हुआ एक शिशु ह । बाएँ हाथ स थाल सम्हाल रखा है परन्तु दायाँ हाथ ऊपर कधे तक उठा हुआ ह । दोनो ही स्त्रियाँ नग्न दीखती ह । दूसरे दो पूतल नेगमशी या नगमशी क ह और वे, डा ब्हूलर के

---

1 दखो फरग्यूसन वही प्लट 27, चित्र 1 ।

2 देखो फ्लाट कोल्म पुस्त 3, प्लाट 37, स्मिथ वएसो पत्रिका स 58 पृ 8० आदि, प्लट 6 ।

3 'एसा अन्य कोई भी उदाहरण नहा मिलता ह कि जहा अश्वासुर क अश्व और मनुष्य के सयोगस्थल को आवृत करन क लिए वस्त्र–पत्र का उपयोग किया गया हो ।'—स्मिथ हिस्ट्री आफ फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सालान, पृ 82 । 4 ब्हूलर वही, पृ 319 ।

5 फरग्यूसन वही प्लेट 33 वही, प्लेट 34 चित्र 1 ।

6 ब्हूलर वही आर वही स्थान ।

अनुसार, 'अजमुखी' उचित ही बनाए गए है जैसे कि दूसरे शिल्प की आकृति मे है। इस शिला[1] की आकृति की कनिंघम के चार पूतलो की आकृतियो से[2] तुलना करने पर डा. ब्हूलर, प्रख्यात् पौर्वात्यविद्, कहता है कि 'शिशु की स्थिति और उसे लिये स्त्री की भावभंगिमा का एकदम साम्य बिलकुल ही स्पष्ट है। और इस बात का नेगमेश-नेमेसो की निभ्रान्त आकृति के साथ विचार करते हुए, हम इस निष्कर्ष पर अनिवार्यत. पहुँचे बिना रही नही सकते है कि निर्दिष्ट दन्तकथा दोनो शिल्पो मे एक ही होना चाहिए।[3]

वास्तव मे उडीसा के और गुजरात के जूनागढ या गिरनार के गुहामन्दिर और निवास अपनी सूक्ष्म तक्षण-कार्य की वेष्टनियो सहित और छोटी से छोटी बात और सजावट मे परिपूर्ण, और मथुरा के अवशेषो के सुन्दरता से सजे तोरण व आयागपट हमारे समक्ष कला के अवशेष रूप मे ही नही अपितु उसके जीवित आप्तवचन है। उनमे सौन्दर्य, आदर्श और आध्यात्म का उत्तम समिश्रण भारतीय कला का निगुणादर्श प्रदर्शित होता है। देखने की अपेक्षा इसका अनुभव अच्छी तरह किया जा सकता है क्योंकि एक दूसरे मे भेद, विस्तृत कला-विज्ञान के क्षेत्र मे नहीं अपितु रूचि के अज्ञात प्रदेश मे प्रकट हो ही जाता है।

1 ब्हूलर वही, प्लेट 2, ए।
2 कनिंघम आसइ, पुस्त. 20, प्लेट 4।
3 ब्हूलर, वही, पृ 318।

उपसहार

नो मफल है वही चतुर है, यदि समार का यही नियम है तो उत्तर म अपन अनक प्रतिस्पर्धियो के होत हुए भी अपना अस्तित्व बनाए रखन म जैनधम की महान् विजय इस मान्यता को भ्रान्त प्रमाणित कर दती है कि जैनधम न उत्तर भारत म बौद्धधम की भाति अपनी जडे गहरी नही जमाई थी, और यह कि भारतीय इतिहास म जनयुग जस नाम का कोई युग कभी नही रहा था ।[1] एसी मान्यता रखने वाले विद्वानो का पूण सम्मान रखत हुए भी हम यह विश्वास रखन या करने का साहस करत हैं कि इन पृष्ठो म उत्तर भारत म जैनधम के किए अध्ययन से हालांकि वह अनेक बातो म अपर्याप्त ही है विपरीत बात की पर्याप्त साक्षी मिलती है । उत्तर भारत म जनधम की प्राचीनता चाहे जितनी भी हो इस बात से इन्कार किया ही नही जा सकता है कि ई पूव 800 यान पाश्व के समय स लेकर ईसवी युग क प्रारम्भ म सिद्धसन दिवाकर द्वारा महान् विक्रम के जनधर्मी बनाए जाने तक और किसी अश म कुषाण और गुप्त काल तक भी जैनधम उत्तर म अत्यन्त प्रभावशाली धम रहा था और इसके पर्याप्त निर्णायक प्रमाण बराबर प्राप्त हैं । एक हजार स अधिक वष के इस गौरवशील काल म उत्तर म एक भी राज्यवश एसा नही हुआ था चाहे वह महान् हो या लघु ही, कि जो किसी न किसी समय जनधम के प्रभाव म नही आया हो ।

यहाँ वहाँ की ऐतिहासिक महत्व की कुछ बातो को यदि हम छोड द तो इस ग्रन्थ के प्राय प्रत्येक अध्याय म एसी सामग्री मिलती है कि जिसकी खूब लम्बी खोज-परख हो चुकी ह, और अनेक मत उद्धृत कर दिए है । इस प्रकार अल्पाधिक हमारा प्रयत्न मान्य पण्डितो के परिश्रमो क परिणामो को रीतिसर सकलन करने का ही रहा ह कि जन इतिहास क अनभिलिखित युग पर पठनीय ग्रन्थ प्रस्तुत किया जा सके न कि जन पुरातत्व विषयक सूक्ष्म चर्चा का कोई ग्रन्थ । इस हेतु की साधना म जो भी अनुमान या तक किए गए हो उन्ह वसा ही माना जाए न कि एतिहासिक खोज । जहाँ तक सम्भव हुआ है, सूक्ष्म विवरण स दूर ही रह गया ह । फिर भी पुनरावतन जहाँ वह उत्तर-भारतीय जैनधम के इस युग की आवश्यक बातो और प्रमुख तथ्यो को स्पष्ट करन के लिए आवश्यक था, करने मे सकोच नही किया गया है ।

परन्तु जब तक अनेक जन शिलालेख और जैन ग्रन्थ जो उत्तर म स्थान-स्थान पर हैं, सग्रह किए जाकर अनुदित नही होत और जब तक पुरातत्वशोधो की योजना नही बन एवम् अकगणना नहीं की जाए वहाँ तक उत्तर भारत मे जनधम की सत्ता और विस्तार ही नही, अपितु उसक अस्तित्व-समय क उतार-चढावो की कुछ भी कल्पना करना निरथक है । यह काय हाथ म लिये जान का सवथा उपयुक्त है और यदि एसा सफलता से किया जाए तो भारतीय प्रजा क धार्मिक और कला विषयक इतिहास क आज उपलब्ध अपर्याप्त साधनो म अमूल्य वद्धि होगी, यह लखक का दृढ विश्वास है ।

---

1 स्मिथ आक्सफोड हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ 55 ।

सामान्य ग्रन्थ सूची

आधारभूत

1 पुरातात्विक और शिलालेखिक

एलन, जहान, कैटेलोग आफ दी काइन्स आफ दी गुप्ता डाइनेस्टीज एण्ड आफ शशाक, किंग आफ गौड । लन्दन, 1914 ।

एन्युअल रिपोर्ट आफ दी माइसोर आर्कियालोजिकल डिपार्टमेंट फार दी इयर 1923, पृ 10 आदि बगलोर, 1924 ।

कनिंघम, आत्येक्जैण्डर, इस्क्रिप्शन्स आफ अशोक, काइड, पुस्तक 1, 1879 ।

वही, आर्कियालोजिकल सर्वे आफ इण्डिया, 1871–1872, स. 3, 1873 ।

वही, वही 1878–1879, 14, 1882 ।

वही, काइन्स आफ मेडीवल इण्डिया, लन्दन, 1884 ।

वही, आर्कियालोजिकल सर्वे आफ इण्डिया, 1881–1882, स 17, 1884 ।

वही, वही ,1882–1883, स 20, 1885 ।

कोनोव, स्टयॅन, एपीग्राफी, आर्कियालोजिकल सर्वे आफ इण्डिया, 1903–1906, 1909, पृ 165 आदि ।

वही, टैक्सिला इस्क्रिप्शन्स आफ दी हायर 136 । एपी इण्डिका, स 14, 1917–1918, पृ 284 आदि ।

वही, दी अर इस्क्रिप्शन आफ कनिष्क 2य' दी इयर 41 । एपी इण्डि. स 14, 1917-1918, पृ 130 आदि ।

कोलबुक, एच टी , आन इस्क्रिप्शन्स एट ट्यैम्पुल्स आफ दी जैन स्यैक्ट इन साउथ विहार, मिमलेनियस एमेज, भाग 2, मद्रास, 1872, पृ 315 आदि ।

गार्डनर, परसी, कैटेलोग आफ इण्डियन काइन्स, ग्रीक एण्ड सिथिक लन्दन, 1886 ।

ग्रोजे, एफ एस , मथुरा इस्क्रिप्शन्स इण्डि एण्टी , स 6, 1877, पृ 216 आदि ।

चन्दा, रामप्रसाद, डेट्स आफ दी वोटिव इस्क्रिप्शन्स आन दी स्तूपाज आफ साची । मैमायर्स आफ दी आर्कियालोजिकल सर्वे आफ इण्डिया, स 1, 1919, पृ 1 आदि ।

वही, खारवेल, राएसो पत्रिका, 1919, पृ 395 आदि ।

वही, दी मथुरा स्कूल आफ स्कल्पचर । आमड, 1922–1923, पृ 164 आदि ।

चक्रवर्ती, मन मोहन, नोट्स आन दी रिमेन्स इन धौली एण्ड इन दी केव्ज आफ उदयगिरि एण्ड खण्डगिरि । कलकत्ता, 1902 ।

जायसवाल, काशीप्रसाद, हाथीगुफा इस्क्रिप्शन आफ दी एम्परर खारवेल (173–160 ई पूर्व) । बिउप्रा पत्रिका, स 3, 1917, पृ 425 आदि ।

वही, ए फरदर नोट आन दी हाथीगुफा इस्क्रिप्शन । बिउप्रा पत्रिका स 3, 1917, पृ 473 आदि ।

वही, हाथीगुफा इस्क्रिप्शन रिवाइज्ड फ्राम दी राक्स । विउप्रा पत्रिका स 4, 1918, पृ 364 आदि ।

वही, हाथीगुफा इस्क्रिप्शन आफ दी एम्परर खारवेल । विउप्रा पत्रिका स 13, 1927, पृ 221 आदि ।

वही, हाथीगुफा नोटस । बिउग्रा पत्रिका, स 14 1928 प 150 आदि ।

वही एन इन्स्क्रिप्शन आफ दी मुग डाइनस्टी । बिउग्रा पत्रिका स 10 1924, पृ 202 आदि ।

वही दी स्टेच्यू आफ अम इन्डियन एण्ड कुषाण क्रोनोलोजी । बिउग्रा पत्रिका, स 6, 1920 प 12 आदि ।

जिनविजय, मुनि, प्राचीन जैन लेख संग्रह भाग 1 भावनगर, 1917 ।

डौसन, ज ए दी ट इन्स्क्रिप्शन्स फ्राम मथुरा । राएसो पत्रिका स 5 (नई माला) पृ 182 आदि ।

नरसिंहाचार, आर इन्स्क्रिप्शन्स एट श्रवण बेलगोल । एपी कर्नाटिका 2 1923 ।

प्रिंसेप जेम्स नोट आन इन्स्क्रिप्शन्स एट उदयगिरि एण्ड खण्डगिरि इन कटक, दी लाट करेक्टर ।
बएसो पत्रिका स 6 1838 पृ 1072 आदि ।

वही ट्रासलेशन आफ इन्स्क्रिप्शन इन दी सोसाइटीज म्यूजियम-ब्रह्मेश्वर इन्स्क्रिप्शन फ्राम कटक ।
बएसो पत्रिका स 7 1838 प 557 आदि ।

वही फकसिमिलीज आफ एशेंट इन्स्क्रिप्शन्स । बएसो पत्रिका, स 7 1838 प 33 आदि ।

फलीट जे एफ रेकार्ड्स आफ सोमवशी किंग्ज आफ कटक । एपी इण्डि पुस्त 3, 1894 1895 प 323 आदि ।

वही दी हाथीगुफा इन्स्क्रिप्शन । राएसो पत्रिका, 1910 प 824 आदि ।

वही दी रूमिन्देह इन्स्क्रिप्शन एण्ड दी कनवर्शन आफ अशोक टू बुद्धीज्म । राएसो पत्रिका 1908 प 471 आदि ।

वही सस्कृत एण्ड ओल्ड कनरीज इन्स्क्रिप्शन्स । एपी इण्डि, स 7 1878 पृ 15 आदि, 33 आदि 101 आदि ।

वही इन्स्क्रिप्शन्स आफ दी अर्ली गुप्ता किंग्ज एण्ड देअर सक्सेसर्स । कोइइ स 3 1888 ।

बनरजी आर डी इन्स्क्रिप्शन्स इन दी उदयगिरी एण्ड खण्डगिरि केव्ज । एपी इण्डि, स 13, 1915–1916 पृ 159 आदि ।

वही, नोटस आन दी हाथीगुफा इन्स्क्रिप्शन आफ खारवेल । बिउग्रा पत्रिका स 3 1917 पृ 486 आदि ।

बेगलर जे डी टूर इन दी साउथ-ईस्टन प्राविन्सेज । आसइ स 13, 1882 ।

ब्लाच टी कन्सरवेशन इन बंगाल । आसइ 1902–1903 1904, पृ 37 आदि ।

ब्हूलर जी, न्यू जैन इन्स्क्रिप्शन्स फ्राम मथुरा । एपी इण्डि, पुस्त 1 1892 प 371 आदि ।

वही फरदर जैन इन्स्क्रिप्शन्स फ्राम मथुरा । एपी इण्डि पुस्त 1 1892 पृ 39 आदि ।

वही फरदर जैन इन्स्क्रिप्शन्स फ्राम मथुरा । एपी इण्डि पुस्त 2 1894 पृ 195 आदि ।

वही दी नानाघाट इन्स्क्रिप्शन्स । आस वे स 5, 1883 पृ 59 आदि ।

वही अशोकाज राक एडिक्ट्स अकार्डिंग टू दी गिरनार शहबाजगढ़ी कालसी एण्ड मन्सेहरा वर्शन्स । एपी इण्डि पुस्त 2 1894 पृ 447 आदि ।

वही, दी गिरनार एडिक्टस आफ अशोक । एपी इण्डि स 2, 1894 पृ 245 आदि ।

वही, दी पाली एडिक्ट्स आफ अशोक । इण्डि एण्टी स 7 1878 प 141 आदि ।

वही इण्डियन पालिओग्राफी । एनसाइक्लोपीडिया आफ इण्डो-आर्यन रिसर्च, प 1 आदि ।

वही स्पेसीमेन्स आफ जैन स्कल्पचर्स फ्राम मथुरा । एपी इण्डि स 2 1894 प 311 आदि ।

वही, दी बराबर एण्ड नागार्जुनी हिल केव इन्स्क्रिप्शन्स आफ अशोक एण्ड दशरथ । इण्डि एण्टी स 20 1891 पृ 361 आदि ।

वही, दी मधुवन कापर-प्लेट आफ हर्ष, डेटेड सवत् 25, एपी इण्डि . स 1, 1892, पृ. 67 आदि ।

वही, दी जैन इ स्क्रिप्शन्स फ्राम शत्रु जय । एपी इण्डि , सं 2. 1894, पृ. 34 आदि ।

वर्न्येस, जेम्स, केव्ज इन जूनागढ, एण्ड एक्सवेग्रर इन काठियावाड । आसर्व्येइं, काठियावाड एण्ड कच्छ, 1874–1875, 1876, पृ 139 आदि ।

भण्डारकर, रा गो , आन डा हरनोलीज वर्णन आफ ए नासिक इ स्क्रिप्शन एण्ड दी गाथा डायलेक्ट । इण्डि. एण्टी , स 12, 1883, पृ 139 आदि ।

भगवानलाला इन्द्रजी, पण्डित, दी हाथीगु फा एण्ड थ्री अदर इस्क्रिप्शन्स इन दी उदयगिरि केव्ज नीयर कटक । एक्टेस डु सिक्सीमे काग्रे इण्टरनेसनल डे ओरियटलिस्टेस, ट्राइसीमे पार्टी, विभाग 2, आयिन्ने. लीडे, 1885. पृ 133 आदि ।

वही दी कहाउ इ स्क्रिप्शन आफ स्कंदगुप्त । इण्डि एण्टी , स. 10, 1881, पृ 125 आदि ।

मजुमदार, आर. सी , हाथीगु फा इ स्क्रिप्शन । इण्डि. एण्टी , स. 47. 1918, पृ 223 आदि ।

वही सेकिण्ड नोट आन दी हाथीगु फा इ स्क्रिप्शन आफ खारवेल । इण्डि एण्टी , स 48, 1919, पृ 187 आदि ।

ल्यूडर्स, एच , ए लिस्ट आफ ब्राह्मी इ स्क्रिप्शन्स फ्राम दी अर्लियेस्ट टाइम्स टू अबाउट ए डी 400 एपी इण्डि , स 10, 1912, परिशिष्ट 1 ।

विलसन, एच एच . आन दी राक इ स्क्रिप्शन्स आफ कपूर दी गिरि धौली एण्ड गिरनार । राएसो पत्रिका, स. 12, पृ 153 आदि ।

वोग्यैल, जे पी एच , मथुरा स्कूल आफ स्कल्पचर । आसइं, 1909–1910, 1914, पृ. 63 आदि ।

वही, कैटैलोग आफ दी आर्कियालोजिकल म्यूजियम मथुरा । इलाहाबाद 1910 ।

शास्त्री, बैनरजी ए दी लोमस ऋषि केव फेकेड । भण्डारकर प्राच्य मन्दिर पत्रिका स 12, 1926, पृ 309 आदि ।

सेनार्ट्, ई , दी इ स्क्रिप्शन्स आफ पियदसी । इण्डि. एण्टी , स 20, 1891, पृ 229 आदि ।

स्मिथ, विंसेंट., दी जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टीक्विटीज आफ मथुरा । इलाहाबाद, 1901 ।

वही, इ स्क्राइब्ड सील आफ कुमार गुप्त । बएसो पत्रिका, स 58, 1889, पृ 84 आदि ।

वही, मलियापुण्डी ग्रांट आफ अम्मराज 2य । एपी इण्डि , स 9, 1907–1908. पृ 47 आदि ।

वही, इ स्क्रिप्शन्स आफ अशोक । को इ इ स 1 (नई माला), 1925 ।

वही, इ स्क्रिप्शन्स आन दी थ्री जैन कोलोसाइ आफ सदर्न इण्डिया । एपी, इण्डि स. 7, 1902-1903, पृ. 108 आदि ।

वही, टू इ स्क्रिप्शन्स फ्राम जनरल कनिंघम्स आर्कियालोजीकल रिपोर्ट्स । इण्डि एण्टी. स 11, 1882, पृ 309 आदि ।

2. साहित्यिक

महाभारत, वन पर्व । (गनपत कृष्णाजी) बम्बई, शाके 1798 ।

कालिकाचार्य-कथा । (देवचन्द लालाभाई) बम्बई, 1914 ।

ब्रह्मपुराण (आनन्दाश्रम ग्रन्थमाला), 1895 ।

अभयदेवसूरि, औपपातिकसूत्र, टीका सहित (आगमोदय समिति) । बम्बई, 1916 ।

वही   नाताधम कथाग (सुधमा का), टीका सहित (आगमोदय समिति) बम्बई 1919 ।

वही   भगवती-सूत्र (सुधर्मा का) भाग 1 स 3 आगमोदय समिति बम्बई 1918–1921 ।

वही,   स्थानांग, सुधमा का भाग 2 आगमोदय समिति बम्बई 1920 ।

एजगटर फ्रैंकलीन, विक्रम्स एडवेंचस, भाग 1 हारवर्ड ओरियन्टल सीरीज स 26 कम्ब्रिज, 1926 ।

कन गच बृहत्संहिता आफ वाराहमिहिर कलकत्ता, 1865 ।

वही,   दी बृहत्संहिता, आर कम्प्लीट सिस्टम आफ नच्युरल एस्ट्रालाजी आफ वराहमिहिर ।
राएसा पत्रिका, स 6 (नई सिरीज), पृ 36 आदि 279 आदि ।

कोवल, ई बी और गोफ ए ई, सवदशनसंग्रह आफ माधवा चाय (लोक सस्करण) लन्दन 1914 ।

कौवल इ बी और नील आर ए दी दिव्यावदान । कम्ब्रिज 1886 ।

गीगर विल्हम दी महावश लन्दन 1908 ।

गरीनोट ए, एस जी बिब्लिओग्राफी जना । परिस 1906 ।

ग्रिफिथ राल्फ टी एच, हिम्स आफ दी ऋग्वेद भाग 2 2य सस्करण बनारस 1897 ।

घोषाल शरत चन्द्र द्रव्यसग्रह आफ नमिचन्द्र । सबुज, पुस्तक 1 1917 ।

चक्रवर्ती ए पचास्तिकायसार आफ कुन्दकुन्दाचाय । सबुजे, पुस्तक 3, 1920 ।

चन्द्रप्रभसूरि, प्रभावकचरित, भाग 1, बम्बई, 1909 ।

चन्द्रसूरि निरयावलिका-सूत्र, सटीक (आगमोदय समिति) बम्बई 1922 ।

वही, सग्रहणीसूत्र बम्बई, 1881 ।

चतुरविजय, मुनि रत्नप्रभसूरी की कवलयमाला कथा, जैन आत्मानन्द सभा भावनगर, 1916 ।

जरेट, एच एस, दी आइन ए अकबरी आफ अबुल फज्ल । कलकत्ता, 1891 ।

जयसिंहसूरि कुमारपाल भूपाल-चरित महाकाव्य, बम्बई, 1926 ।

जैन बनारसीदास, जन जातकाज, लाहौर 1925 ।

जैनी, जगमदरलाल, तत्त्वार्थाधिगमसूत्र आफ उमास्वामी सबुज, पुस्तक 2, 1920 ।

झवेरी, मोहनलाल भगवानदास निर्वाण-कलिका आफ पादलिप्ताचाय, बम्बई, 1926 ।

जिनभद्रगणि विशेषावश्यकभाष्य, बनारस, 1918 ।

जोली जे प्रयशास्त्र आफ काटिल्य । लाहोर 1923 ।

टानी, सी एच दी कथाकोश लन्दन 1895 ।

वही, मरुतुगस प्रबधचिंतामणि, कलकत्ता 1901 ।

तैलांग काशीनाथ त्रिम्बक, दी भगवद्गीता विथ दी सनत्सुजातीय एण्ड दी अनुगीता । सेबुई पुस्तक 8, 1882 ।

द्विवेदी, महामहोपाध्याय सुधाकर, दी बहत्संहिता आफ वराहमिहिर, 1, 2, बनारस 1895 ।

धनेश्वरसूरि शत्रुजय माहात्म्य, जामनगर 1908 ।

धर्मदासगणि, उपदेशमाला (जनधर्म प्रसारक सभा) भावनगर ।

ध्रुव का ह, सांदुस्वप्न 1म सस्करण अहमदाबाद, 1916 ।

पनसीकर शास्त्री ब्रह्मसूत्र-भाष्य, 2य सस्करण बम्बई 1927 ।

पटरसन, पी, रिपार्ट आफ आपरेशन्स इन सच आफ संस्कृत मन्युस्क्रिप्ट्स इन दी बाम्बे सर्कल, भाग 4 (1886–1892) । लन्दन, 1894 ।

पेजर, एन एम , टानीज सोवेवेल्स कथासरित्सागर, भाग 1, लन्दन, 1924 ।
प्रेमी, नाथूराम, देवसेन का दर्शनसार, बम्बई, 1918 ।

वही, विद्वद्रत्नमाला भाग 1, बम्बई, 1912 ।

फासवोल, वी , दी जातक, भाग 3 और 4, लन्दन, 1883, 1887 ।
फोअर, एम , लीआ, सयुत्तनिकाय, भाग 2, लन्दन 1888 ।
वार्न्येट, एल डी , अ तगडदसाओ एण्ड अणुत्तरोववाइयदसाओ, लन्दन, 1907 ।
बेचरदास, पण्डित सुधर्मा का भगवतीसूत्र, भाग 1 और 2, जिनागम प्रकाशन सभा, बम्बई, 1918 ।
बेल्वलकर, एस के , दी ब्रह्मसूत्राज आफ बादरायण, पूना, 1923 ।
ब्हूलर, जी , दी लाज आफ मनु, सेबुई, पुस्तक 25, लन्दन 1886 ।
ब्हूलर, जी , वाशिष्ठ एण्ड बोधायन, सेबुई, पुस्तक 14, 1882 ।
भण्डारकर, रा जे , रिपोर्ट आन दी सर्च आफ सस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स इन दी बोम्बे प्रेसीडेन्सी ड्यूरिंग दी इयर 1883–1884 । बम्बई, 1887 ।
मलयगिरि, आचार्य राजप्रश्नीय उपाग, आगमोदय समिति, बम्बई, 1925 ।
मुनिभद्रसूरि शातिनाथ महाकाव्यम्, बनारस, 1911 ।
मेयोर, ज्हान जेकब, हिन्दू टेल्स, लन्दन, 1909 ।
मेरतु ग, विचार श्रेणी, हस्तप्रति स 378 (1871–1872 की) भण्डारकर प्राच्य मन्दिर, पूना ।

वही, विचारश्रेणी । जैन साहित्य सशोधक, भाग 2, 1903–1925, परिशिष्ट ।

मोतीलाल लधाजी, तत्वार्थाधिगमसूत्र सभाष्य, उमास्वातिवाचक का, पूना, 1927 ।

वही, हेमचन्द्र की स्याद्वादमजरी, पूना, 1926 ।

याकोबी, हरमन, स्थवीरावली चरित और परिशिष्टपर्वन् आफ हेमचन्द्र, कलकत्ता, 1891 ।

वही, समराइच्चकहा आफ हरिभद्र । कलकत्ता, 1926 ।
वही, कल्पसूत्र आफ भद्रबाहु, लेप्जिग, 1879 ।
वही, दी आचारागसूत्र एण्ड दी कल्पसूत्र, सेबुई, पुस्तक 22, 1884 ।
वही, दी उत्तराध्ययनसूत्र एण्ड दी सूत्रकृतागसूत्र, सेबुई, पुस्तक 45, 1895 ।
वही, डास कालकाचार्य-कथानकम् (जैड्डीएमजी) स 34, 1880, पृ 247 आदि ।

ह्निस डेविड्स, टी डब्ल्यू , बुद्धीस्ट सूत्ताज । सेबुई, पुस्तक 11, 1881 ।

वही, डायालोग्स आफ दी बुद्धभाग 1, सेबुई पुस्तक 2, 1899, और भाग 2, सेबुई 3, 1910 ।
वही, और ह्निस डेविड्स, सी ए एफ , डायालोग्स आफ दी बुद्ध, भाग 3, सेबुई पु 4, 1921 ।
वही और ओल्डनवर्ग, हरमन, विनिय ट्येक्स्ट्स, भाग 1, सेबुई पुस्तक 13 1881, और भाग 3 सेबुई पुस्तक 20, 1885 ।
वही, श्रीमती दी बुक आफ किड्येड सेइग्स, भाग 1, लन्दन, 1917 ।

लक्ष्मीवल्लभ, उत्तराध्ययन-दीपिका, (रायधनपतसिंह सस्करण), कलकत्ता, 1880 ।
वारन, हेनरी क्लार्क बुद्धीज्म इन ट्रासलेशन । हारवर्ड ओरियन्टल सिरीज, 3, कैम्ब्रिज, 1909 ।
विद्याभूषण, सतीशचन्द्र, न्यायावतार आफ सिद्धसेन दिवाकर, आरा, 1915 ।

विनयचन्द्रसूरि मल्लिनाथचरित्रम् बनारस 1912।
विनयविजयगणि, कल्पसूत्र सुबोधिका–टीका। (देवचन्द लालभाइ), बम्बइ 1923।
विल्सन एच एच विष्णु पुराण, लन्दन, 1840।
वैद्य पी एल, सूयगडांग, पूना 1928।
व्यबर, ए फ्रागमेंट डर भगवती बरलिन, 1866।
शाकटायनाचार्य, स्त्री मुक्ति केवली मुक्ति। जैन साहित्य संशोधक, भाग 2 1923–1924, परिशिष्ट 2।
शान्त्याचार्य, उत्तराध्ययन शिष्यहिता, बम्बई 1916।
शार्पेंटियर जाल, दी उत्तराध्ययन भाग 1 और 2, उपसल 1922।
शीलंकाचार्य, सुधर्मा का आचारांगसूत्र आगमोदय समिति, बम्बई 1916।
वही सुधर्मा का सूत्रकृतांग, आगमोदय समिति बम्बई 1917।
सुखलाल, संघवी और बेचरदास दोशी, सम्मतितर्क सिद्धसेन का, भाग 3 अहमदाबाद, 1928।
सोनी पन्नालाल, भावसंग्रहादि, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई।
स्टीवन्सन दी रेवरण्ड, ज दी कल्पसूत्र एण्ड नव तत्व लन्दन 1848।
हरनाली रुडाल्फ ए एफ उवासगदसाओ भाग 1 और 2 कलकत्ता 1888 1890।
वही ट्र पट्टावलीज आफ दी सरस्वतीगच्छ आफ दी दिगम्बर जनाज इण्डि एण्टी पु 20 1891 पृ 341 आदि।
वही थ्री फरदर पट्टावलीज आफ दी दिगम्बराज इण्डि एण्टी पु 21 1892, पृ 57 आदि।
हरिभद्रसूरि सुधर्मा का आवश्यकसूत्र (आगमोदय समिति) बम्बई, 1916–1917।
वही, षडदर्शनसमुच्चय बनारस, 1905।
हीरालाल रायबहादुर कटलोग आफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मन्यूस्क्रिप्टस इन दी सन्ट्रल प्रोविन्सेन एण्ड बरार नागपुर 1926।
हेमचन्द्र अभिधान चिंतामणि।
वही त्रिषष्टि-शलाका पुरुष-चरित पर्व 9 10 जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर 1908, 1909।
वही योगशास्त्र हस्तप्रति स 1315 1886-1892 की भण्डारकर प्राच्य मन्दिर पूना।
वही योगशास्त्र सटीक, भावनगर 1926।
वही प्राकृत व्याकरण सम्पा कृपाचन्द्रजी सूरत 1919।
हेमविजयगणि पार्श्वनाथचरितम् बनारस 1916।

3 यात्रा विवरण आदि

बील सम्युअल, सी यू-की, भाग 1 और 2, लन्दन, 1906।
वही दी लाइफ आफ ह्यू एनत्सांग। लोक संस्करण, लन्दन, 1914।
मैक्क्रिण्डल, ज डब्ल्यू एंशट इण्डिया इज डिस्क्राइब्ड बाइ मेगस्थनीज एण्ड अरियन, लन्दन 1877।
वही, इनवेजन आफ इण्डिया बाइ एलेक्जेण्डर दी ग्रेट। व्यस्टमिंस्टर 1893।
सचाऊ, एडवर्ड सी, एलबरूनीज इण्डिया, भाग 1 और 2, लन्दन, 1910।
वाटस, टामस आन युआन च्वांग्स ट्रैवल्स इन इण्डिया, भाग 2 लन्दन 1905।

साहित्य

1. ग्रन्थ

आचार्य, प्रसेन कुमार, इण्डियन आर्किटेक्चर अकार्डिंग टू मानसार-शिल्पशास्त्र। आक्सफोर्ड, 1927।
आयंगर, कृष्णास्वामी, समकाण्ट्रीब्यूशन्स आफ साउथ इण्डिया टू इण्डियन कल्चर। कलकत्ता, 1923।
आयगर, रामस्वामी, और राव, शेषगिरि, स्टडीज इन साउथ इण्डियन जेनीज्म, मद्रास, 1922।
ईलियट, चार्ल्स, हिन्दूज्म एण्ड बुद्धीज्म, भाग 1, लन्दन, 1921।
ओझा, पण्डित गौ ही, राजपूताना का इतिहास, 1ली जिल्द, अजमेर, 1916।

वही, भारतीय प्राचीन लिपिमाला, अजमेर 1918।

ओ माले, एल एस एस बेंगाल डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, पुरी। कलकत्ता, 1908।

वही, बिहार एण्ड उरीसा गजेटियरर्स, पटना। पटना, 1924।

कजन्स, हैनरी, दी आर्किटेक्चरल एण्टीक्विटीज आफ व्यैस्टर्न इण्डिया। लन्दन, 1926।
कनिंघम, एशे ट ज्योग्राफी आफ इण्डिया। (सम्पा मजुमदार) कलकत्ता, 1924।
कन्नोमल, लाला, दी सप्तभंगी न्याय। आगरा, 1927।
कर्न, एच, मैन्युअल आफ इण्डियन बुद्धीज्म। एनाइक्लोपीडिया आफ इण्डो-आर्यन रिसर्च, पृ 1 आदि।
कुटे, एन एम, दी विसिसीट्यूड्स आफ आर्यन सिविलाइजेशन इन इण्डिया। बम्बई, 1880।
कुमारास्वामी, आनन्द के, दी आर्ट्स एण्ड क्राफ्ट्स आफ इण्डिया एण्ड सीलोन। लन्दन, 1913।

वही, हिस्ट्री आफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेसियन आर्ट। लन्दन, 1927।

ग गूली, चनो मोहन, उरीसा एण्ड जर रिमेन्स एशे ट एण्ड मैडीवल। कलकत्ता, 1912।
गैरीनोट, ए, ला रिलीजीया इजैना, पैरिस, 1926।
ग्लैसन्यप, हेलमुथ वी, डेर जैनिस्मस, बरलिन 1925।
जैनी जगमदरलाल, आउटलाइन्स आफ जैनीज्म। कैम्ब्रिज, 1916।
टाड, कर्नल जेम्स, ट्रैवल्स इन व्यैस्टर्न इण्डिया। लन्दन, 1839।
टीले, सी, पी, आउटलाइन्स आफ दी हिस्ट्री आफ रिलीजन, 3य सस्करण, लन्दन 1824।
थामस, एडवर्ड, जैनीज्म, आर दी अर्ली फेथ आफ अशोक। लन्दन 1877।
डुबुइल, जी जोविओ, ए शे ट हिस्ट्री आफ दी डेकन। पाण्डीचेरी, 1920।
दत्त, रमेशचन्द्र, ए शे ट इण्डिया, कलकत्ता, 1890।
दासगुप्ता, सुरेन्द्रनाथ, ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलोसोफी। भाग 1। कैम्ब्रिज, 1922।
दे, नन्दलाल, दी ज्योग्राफिकल डिक्शनेरी आफ ए शे ट एण्ड मैडीवल इण्डिया। लन्दन 1927।
नरीमान, जी के, लिट्रैरी हिस्ट्री आफ सस्कृत बुद्धीज्म, 2य सस्करण। बम्बई 1923।
पार्जीटर, एफ ई, ए शेट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रैडीशन लन्दन, 1922।

वही, दी पुराण ट्यौट्स आफ दी डाइनेस्टीज आफ दी कली एज। आक्सफोर्ड, 1913।

पोसिन, एल डी ला वाल्ली, दी वे टू निर्वाण। कैम्ब्रिज, 1917।
प्रधान, सीतानाथ, क्रोनोलोजी आफ ए शेट इण्डिया। कलकत्ता, 1927।
फरग्यूसन, जेम्स, ट्री एण्ड सर्पेट वर्शिप। लन्दन, 1868।

वही हिस्ट्री ग्राफ इण्डियन एण्ड ईस्टन ग्रार्किटेक्चर भाग 1 ग्रौर 2। ल दन 1910।
वहा ग्रौर वर्ग्यैस जेम्स दी केव यम्पुल्स ग्राफ इण्डिया। 1880।

फारकूहर, ज एन एन ग्राउटलाइन ग्राफ दी रिलीजस लिटरचर ग्राफ इण्डिया। ग्राक्सफोड, 1920।
फ्रेजर ग्रार ड्ब्ल्यू, ए लिट्ररी हिस्ट्री ग्राफ इण्डिया। ल दन 1920।
वड जम्स हिस्टोरीकल रिसर्चेज। वम्बई 1847।
वराडिया उ डा हिस्ट्री एण्ड लिटरेचर ग्राफ जनीज्म। वम्बइ 1909।
वारयट, लायानल डी, एण्टीक्विटीज ग्राफ इण्डिया। ल दन, 1913।
वाथ ए, दी रिलीजन्स ग्राफ इण्डिया। लदन, 1882।
वेरवलकर एस व, ग्रौर रानाडे, ग्रार डी, हिस्ट्री ग्राफ इण्डियन फिलोसाफी, भाग 2 पूना, 1927।
वनी प्रसाद दी स्टट इन एशेंट इण्डिया। इलाहावाद, 1928।
ब्राउन, परसी, इण्डियन पेंटिंग (हेरीटेज ग्राफ इण्डिया सिरीज), कलकत्ता।
व्हूलर, जी दी इण्डियन स्यैक्ट ग्राफ दी जनाज। लदन, 1903।

वही ग्रान दी ग्रोरिजिन ग्राफ दी इण्डियन ब्राह्मी एल्फैबट। स्ट्रासवग 1898।
वही इण्डियन स्टडीज। स 3। वीयन 1895।
वहा उन्नर डाम लेवेन डेस जैन माघसेस हेमचन्द्र, वीएन 1889।

भण्डारकर, रा गा, ए पीप इन टू दी ग्रर्ली हिस्ट्री ग्राफ इण्डिया। वम्बइ 1920।
मजुमदार ग्रक्षय कुमार दी हिन्दू हिस्ट्री। कलकत्ता 1920।
महता नि वि, स्टडीज इन इण्डियन पेंटिंग। वम्बई 1926।
मित्रा राजेन्द्रलाल दी एण्टीक्विटीज ग्राफ उरीसा भाग 1 ग्रौर 2। कलकत्ता 1880।

वही दी सस्कृत बुद्धीस्ट लिटरेचर ग्राफ नेपाल। कलकत्ता, 1882।

मुकर्जी राधाकुमुद ग्रशोक (गायकवाड व्याख्यानमाला), लन्दन, 1928।

वही हर्ष ग्राक्सफोड 1926।

मकालिफ, मक्स ग्रारथर, दी सिक्ख रिलीजन, भाग 5 ग्राक्सफोड, 1909।
मकडायल, ए ए इण्डियाज पास्ट ग्राक्सफोड, 1927।
मक्फेल, जम्स एम ग्रशाक (दी हैरीटेज ग्राफ इण्डिया सिरीज) कलकत्ता।
मानाहन एफ जे दी ग्रर्ली हिस्टी ग्राफ वगाल। ग्राक्सफोड 1925।
राग्रो गोपानाथ टी ए, एलीमटस ग्राफ हिन्दू ग्राइकोनोग्राफी, भाग 1 खण्ड 1, मद्रास, 1914।
राधाकृष्णन, सव, इण्डियन फिलोसाफी भाग 1 लदन 1923।
राइस, ई पी कनरीज लिटरचर, दी हैरीटज ग्राफ इण्डिया सिरीज 2य सस्करण, कलकत्ता 1921।
राइस, ल्यूइस वी माइसोर एण्ड कुग फ्राम दी इस्क्रिप्शन्स। लन्दन, 1909।
राकहिल, डब्ल्यू वुडविल्ल दी लाइफ ग्राफ दी वुद्धा। लन्दन, 1884।
रायचौधरी, हमचन्द्र पालीटिकल हिस्ट्री ग्राफ एशेंट इण्डिया, 2य सस्करण कलकत्ता, 1927।
रालिन्सन ज्याज, पार्थिया (दी स्टोरी ग्राफ दी नेशन्स) लन्दन 1898।
राल्सन, डब्ल्यू ग्रार एस, शीफ्नास टिबेटन टेल्स। लन्दन, 1882।
ह्रिस डेविड्स, टी डब्ल्यू, बुद्धीस्ट इण्डिया। 5 वाँ सस्करण। लन्दन, 1917।

लाठे, ए वी इट्रोडक्षन टू जैनीज्म। बम्बई 1905।
लाहा, विमल चरण, दी लाइफ एण्ड वर्क ग्राफ बुद्धघोष। कलकत्ता और शिमला, 1923।
वही, सम क्षत्रिया ट्राइब्स ग्राफ एशेंट इण्डिया। कलकत्ता, 1924।
लाहा, नरेन्द्रनाथ, ग्रस्पैक्ट्स ग्राफ एशेंट इण्डियन पोलिटी। ग्राक्सफोर्ड, 1921।
लिली; डब्ल्यू एस, इण्डिया एण्ड इट्स प्राब्लम्म। लन्दन, 1902।
वारैन हर्बर्ट, जैनीज्म, 1य सस्करण ग्रारा, 1916।
विद्याभूषण, सतीशचन्द्र, हिस्ट्री ग्राफ इण्डियन लोजिक। कलकत्ता 1921।
वही; हिस्ट्री ग्राफ मैडीवल स्कूल ग्राफ इण्डियन लोजिक। कलकत्ता, 1909।
विजयराजेन्द्रसूरि, ग्रभिधानराजेन्द्र, भाग 2, रतलाम, 1910।
विल्बरफोर्स-व्यैल, कैप्टिन एच, दी हिस्ट्री ग्राफ काठियावाड। लन्दन, 1926।
विलसन, एच एच, हिज वर्क्स, भाग 1, लन्दन 1862।
विर्टर्निट्ज, एम गैशिशिप्ट डेर इण्डीशन लिटरेतूर, भाग 2, लैप्जिग, 1920
वैद्य, चि वि, हिस्ट्री ग्राफ मैडीवल हिन्दू इण्डिया, भाग 3। पूना, 1926।
शीफनर, एण्टन, तारानाथम् गेशीष्ट-बुद्धीज्मस। सेंट पीटर्सबर्ग, 1869।
श्रीनिवासाधारी, सी एस, और ग्रायगर, एन एम, रामास्वामी, ए, हिस्ट्री ग्राफ इण्डिया भाग 1। मद्रास, 1927।
समद्दार, जा नाथ, दी ग्लोरीज ग्राफ मगध। पटना 1927।
सोलोमन, गलैडस्टन डब्ल्यू ई, दी चार्म ग्राफ इण्डियन ग्रार्ट। लदन, 1926।
स्टीवन्सन, श्रीमती, सिंक्लेग्रर, दी हार्ट ग्राफ जैनीज्म। ग्राक्सफोर्ड, 1915।
स्मिथ, विसेंट ए, दी ग्रर्ली हिस्ट्री ग्राफ इण्डिया। ग्राक्सफोर्ड (1म सस्करण), 1904, 3य सस्करण 1914, (4थ सस्करण) 1924।
वही, दी ग्राक्सफोर्ड हिस्ट्री ग्राफ इण्डिया, ग्राक्सफोर्ड, 1925।
वही, ग्रशोक। ग्राक्सफोर्ड (1म सस्करण) 1901, (3य सस्करण) 1919।
स्मिथ, विंसेंट ए, ए हिस्ट्री ग्राफ फाइन ग्रार्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन। ग्राक्सफोर्ड, 1911।
हर्टल, जे. ग्रान दी लिटरेचर ग्राफ दीश्वेताम्बर जैन्स ग्राफ गुजरात। लैप्जिग, 1922।
हाप्किस, ई डब्ल्यू, दी रिलीजन्स ग्राफ इण्डिया। लन्दन, 1910।
हीरालाला हसराज, एशेंट हिस्ट्री ग्राफ दी जैन रिलीजन। भाग 1। जामनगर, 1902।
हेव्यल, ई बी, दी एशेंट एण्ड मैडीवल ग्रार्किटेक्चर ग्राफ इण्डिया। लन्दन, 1915।

2 लेख, निबंध ग्रादि

एण्ड्रूज, एफ एन, इट्रोडक्षन, दी इफ्लूएसेज ग्राफ इण्डियन ग्रार्ट। दी इण्डियन सोसाइटी, लन्दन, 1925
कामता प्रसाद जैन, दी जैन रेफरेंसेज इन दी बुद्धीस्ट लिटरेचर। इडिक्वा, स 2, 1926, पृ 698 ग्रादि।
केतकर, एस वी, जैनीज्म। मराठी विश्वकोश, भाग 14, पूना, 1925, पृ 319 ग्रादि।

कोलबुक एच टी, ग्रब्जर्वेन्स ग्रान दी स्पक्ट ग्राफ जनाज । मिसनेनियस एसज भाग, 1 मद्रास, 1872 पृ 191 ग्रादि ।

वही, ग्रान दी फिलासोफी ग्राफ दी हिन्दूज । मिसनेनियस एसज, भाग 1, मद्रास, 1872, पृ 227 ग्रादि ।

कुक डब्ल्यू, बगाल । एनसाइक्लोपेडिया ग्राफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग 2 1909 पृ 479 ग्रादि ।

क्लाट जोहनेस, एक्सट्रेक्टम फ्राम दी हिस्टोरिकल रेकार्ड स ग्राफ दी जनाज । इण्डि एण्टी पुस्त 11 1882, पृ 245 ग्रादि ।

जायसवाल, का प्र, दी शैशुनाग एण्ड मौर्य क्रोनोलोजी एण्ड दी डेट ग्राफ बुद्ध निर्वाण । बिउप्रा पत्रिका ग 1, 1915 पृ 67 ग्रादि ।

वही, दी एम्पायर ग्राफ बिन्दुसार । बिउप्रा पत्रिका ग 2, 1916 पृ 79 ग्रादि ।

वही डिमेट्रियस खारवेल एण्ड दी गग-सहिता । बिउप्रा पत्रिका ग 14 1928, पृ 127 ग्रादि ।

जिनविजय मुनि कुवलयमाला जसास ग 3 पृ 169 ग्रादि ।

टरनूर ज्याज, एल एक्जामिनेशन ग्राफ दी पाली बुद्धीस्टिक एनाल्स ग 5 । बगएसो पत्रिका 7 1838 पृ 991 ग्रादि ।

टामस एडवर्ड, जनीज्म । इण्डि एण्टी ग 8 1869 पृ 30 ग्रादि ।

टामस, एफ डब्ल्यू पालीटिकल एण्ड सोशल ग्रार्गेनिजेशन ग्राफ दी मौर्य एम्पायर सध्या 19 कहिइ भाग 1 1922 पृ 467 ग्रादि ।

वही चन्द्रगुप्त दी फाउण्डर ग्राफ दी मौर्य एम्पायर । सध्या 18 कहिइ भाग 1 1922, पृ 467 ग्रादि ।

[illegible], नन्दी लाल नोटस ग्रान एशेंट एण्ड ग्रार दी हिस्ट्रीज ग्राफ भागलपुर । बएसो पत्रिका नई सिरीज ग 10 1914, 1918, पृ 317 ग्रादि ।

पाठक के बी दी डेट ग्राफ महावीर निर्वाण एज फिक्स्ड इन ग्राबे 1175 । इण्डि एण्टी ग 12 1883, पृ 21 ग्रादि ।

पार्जीटर एफ ई एशेंट इण्डियन जीनियालोजीज एण्ड क्रानोलोजी । राएसो पत्रिका 1910 पृ 1 ग्रादि ।

फ्लीट, जे एफ निर्गोध एण्ड गुप्त । इण्डि एण्टी ग 12 1883 पृ 99 ग्रादि ।

वही महावीर चन्द्रगुप्त एण्ड श्रवणबेलगोल । इण्डि एण्टी ग 21 1892 पृ 156 ग्रादि ।

वही [illegible] ग्राफ इण्डियन सिटीज एण्ड स्टेट्स । राएसो पत्रिका 1907 पृ 64 ग्रादि ।

वही [illegible] ग्राफ कुमार ग्रार्कियालाजिकल सर्वे ग्राफ इण्डिया वार्षिक रिपोर्ट, 1905–1906 की रॉयल पत्रिका 1910 पृ 240 ग्रादि ।

बरुग्रा वनीमाधव [illegible] ग्राजीवकाज जर्नल ग्राफ [illegible] ग्राफ [illegible] कलकत्ता ग 2 1920 पृ 1 ग्रादि ।

[illegible] बी एम [illegible] एण्ड दी [illegible] [illegible] पत्रिका नई सिरीज ग 3 1929 पृ 44 ग्रादि ।

बार्नेट, एल डी , दी अर्ली हिस्ट्री आफ सदर्न इण्डिया । अध्या 24, कैंहिइ, भाग 1, पृ. 593 आदि ।

बर्येस, जे , पेपर्स आन शत्रुजय एण्ड दी जैनाज । इण्डि एण्टी , स 2, 1874, पृ 14 आदि, स 13, 1884, पृ 191 आदि, 276 आदि ।

व्हूलर, जी , पुण्यमित्र और पुष्यमित्र ? इण्डि एण्टी , स 2, 1874, पृ. 363 आदि ।

वही, दी दिगम्बर जैनाज । इण्डि एण्टी. स 7, 1887, पृ 28 आदि ।

भगवानलाल इन्द्रजी, पण्डित, सम कंसीडरेशन्स आफ दी हिस्ट्री आफ बंगाला इण्डि एण्टी., स. 13, 188 पृ 411 आदि ।

मारशल, जे एच , दी मान्य मेट्स आफ एशेंट इण्डिया । अध्या 26, कैंहिइ. भाग 1, पृ 612 आदि, 19 ।

मेयेर, एडुअर्ड डिमेट्रियस । एसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, 11वां सस्क पुस्त. 7, 1910, पृ. 982 आदि ।

वही, युक्रेटाईडेस । वही. 11वां सस्करण, पुस्त. 9, 1910 पृ 980 आदि ।

मुकरजी, आसुतोश, हिस्टोरिकल रिसर्चेज इन विहार एण्ड उडीसा । विउफ पत्रिका, सं 10, 1924 पृ. 1 आदि ।

मैक्डोनल्ड, ज्यार्ज, दी हैलेनिक लिंगडम आफ सिरिया, बैक्ट्रिया एण्ड पार्थिया, अध्या. 17, कैंहिइ भाग 11, 1922, पृ 612 आदि ।

याकोबी, हरमन, आन महावीर एण्ड हिज प्रेडीसेसर्स । इण्डि. इण्टी . स 9, 1880, पृ 158 आदि ।

वही, दी डेट्स आफ दी फिलोसोफिकल सूत्राज आफ दी ब्राह्मन्स । अमओसो पत्रिका, स 31. 1909–1910, पृ 3 आदि ।

वही, इटामिक थीओरी (इण्डियन) । एसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, पुस्तक स 2, 1909, पृ 199 आदि ।

वही, उवेर डीएएटशटेहुग डेर श्वेताम्बर उंड दिगम्बर सेक्टेन । जेडडीएमजी स 38, 1884, पृ. 1 आदि ।

राइस. ल्यूइस, भद्रवाहु एण्ड श्रवण वेलगोल । इण्डि एण्टी , स 3, 1874, पृ. 153 आदि ।

रेप्सन, ई जे., दी सिथियन एण्ड पार्थियन इनवेडर्स, अध्या 23, कैंहिइ, भाग 1 1922, पृ 563 आदि ।

वही, इण्डियन नेटिव स्टेट्स आफ्टर दी पीरियड आफ दी मौर्यन एम्पायर. अध्या 21, कैंहिइ भाग 1. 1922, पृ 514 आदि ।

वही, दी पुराणज, अध्या 13, कैंहिइ, भाग 1, 1922, पृ 296 आदि ।

रेप्सन, ई जे , ए पीपुल्स एण्ड लैंग्वेजेज, वी सोर्सेज आफ हिस्ट्री, अध्या. 2 कैंहिइ भाग 1 1922, पृ 37 आदि ।

ह्रिसडेविड्स, टी डब्ल्यू , दी अर्ली हिस्ट्री आफ दी बुद्धीस्ट्स, अध्या 7 कैंहिइ, भाग 1, 1922, पृ 171 आदि ।

रोथेनस्टीन, विलियम, इण्ट्रोडक्शन । एक्जाम्पुल्स आफ इण्डियन स्कल्पचर्स इन दी ब्रिटिश म्युजीयम, पृ. 7 आदि, दी इण्डिया सोसाइटी, लन्दन, 1923 ।

सासेन पपस ग्रान नतु जय एण्ड नी जैनाज। इण्डि एण्टी स 2, 1874, पृ 193 ग्रादि, 258 ग्रादि।

सायमन, ई वेयीट्रगन हेर जना-लिटरेटूर ज ग्रान्ते निटरेतूरकृमन इण्डियेन्स। ग्रानटेस ड सिक्सी एम ग्रान्ग्रेम ट्रियमी में पार्टी, सवान, 2, ग्रार्येन्ट सीरे, 1885, पृ 467।

साग रवरेंड जे नाटम एण्ड क्वेरीज सजस्टड बाइ ए विजिट टू उडीसा इन जनुग्ररी 1859। बएसो, पत्रिका स 28, 1859, पृ 185 ग्रादि।

विजयधमसूरि, जनतरवड्डा, भण्डारकर कमोमरेशन वाल्यूम, पूना 1917, पृ 139 ग्रादि।

विलफोड, मप्टेन, ग्रान दी किंग्ज ग्राफ मगध दयर क्रोनोलोजी एशियाटिक रिसर्चेज, पुस्त 9 1819, पृ 82 ग्रादि।

विल्सन, एच एच एन एसे ग्रान दी हिंदू हिस्ट्री ग्राफ काश्मीर। एशियाटिक रिसर्चेज पुस्तक 15, 1825 पृ 1 ग्रादि।

वेबर, ए सक्रेड लिटरेचर ग्राफ दी जनाज। इण्डि एण्टी न 17 1888 पृ 279 ग्रादि 339 ग्रादि न 18 1889, पृ 181 ग्रादि, 269 ग्रादि, स 19 1890, पृ 62 ग्रादि न 20 1891 पृ 18 ग्रादि 170 ग्रादि, 365 ग्रादि, स 21, 1892 प 14 ग्रादि 106 ग्रादि, 177 ग्रादि, 210 ग्रादि 293 ग्रादि, 327 ग्रादि 369 ग्रादि।

❋ समाप्त ❋

- शुद्धि पत्रक :-

[टीप० मुद्रण अशुद्धियों को प्रदर्शनी रूप इस पुस्तक की उन साधारण अशुद्धियों का शुद्धिकरण-यहां नही किया गया है जिन्हें कि सामान्य पाठक गण स्वयं के विवेक से ही सही पढ लेंगे ।]

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
0	4	जसिद्	जयद
	2	,	,,
	1	धम	धम
5	12	जन धम	जैन धम
7	7	को	की
	10	अकारथ	अकाय
	10	खेलो	खोजो
	13	अवस्थित	अव्यवस्थित
10	10	मानी जाना	माने जाने
12	17	इत	ज्ञात
13	13	अचौय	अचौय
	14	वस्तुओ	वस्तुओ का
15	15	गणधर	गणधर
	23	कर्मवेश	कमवेश
	31	जैन रिलीजन भाग	जैन रिलीजन भाग2
16	13	सुधर्मो	सुधर्मा
17	15	अमप्राय	अभिप्राय
	17	हैं कि	है
20	12	की प्रजा और	पर पहिले
23	12	ऐसी	ऐसे
	22	राजो	राजाओ
24	3	करने में	करने मे कि
	12	या	था
	12	शांति	जाति
26	3	क्षत्रियो मे	क्षत्रियों के प्रधानत्व
29	18	का अवेलक	को अचेलक
30	6	माता	ज्ञाता
32	7	विद्वानो	विद्वानो ने
34	1	विद्वानो ने	विद्वान
	6	वधमाण	वद्ध मान
35	1	प्रतिमा	प्रतिमा
36	2	कि	कि जिसकी
	7	कोई नही	कोई नई नही
37	2	भो	ही
	6	को	के
	15	स्वम्	स्वय
	24	वास्त	वारेन
39	2	वाधना	वाचना
	9	बंब	धन
40	8	अनतदशन अनत	अनन्तदशन अनन्त
	30	बद में	वे दशन कहते हैं जैसे मैं
43	16	धीरा	धीमा
45	3	प्रगल्भ	प्रगल्भ
46	23	प्रतिकूल भुकाना	प्रति झुकाना
50	9	सामयिक	सामायिक
	14	करेमियते	करेमिसंते
	23	सवभाव	समभाव
51	27	पदाथ	पदार्थ मे
52	20	सोयिक	से मायिक
53	16	अतिरेक	अतिरेक
54	4	तत्वेना	तत्वज्ञो
55	9	प्रतिद्वन्द्वी	प्रतिद्वन्द्वी
	12	प्रतिद्वन्द्वता	प्रतिद्वन्द्वता
	19	ने सहस्रपुत्र मे	मे सहस्रपुत्र ने

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
56	16	सब ये	ये सब
59	13	प्रारुप	पौरुप
60	5	486	496
	9	पास	पास से
	10	नाना	नाना के पास
61	20	जनसान का	जनसान था
	29	कि गारधगिरि	कि गोरधगिरि
63	7	पूण्य	पूज्य
65	21	कर	कह
67	12	250	520
	25	मार्श्व	पार्श्व
68	15	की	का
	16	मूर्ति मजको	मूर्ति भजको
	18	इसको	इसके
69	11	भेद के कारण वढ	भेद वढ
	15	अनुयायो	अनुयायियो
	15	एक रूप	एक निगम रूप
	18	अप बाहर	अपने से बाहर
	26	भीमल	भीनमाल
	33	श्रावको	श्रावको का
	35	इसको	इसका
70	22	प्राप्त	प्राप्त हे
	23	जैन	जन
	29	ने...परिसीमग्रो	अपेक्षाकृत तग परिसीमाग्रो
	30	भारत	भारत मे
71	4	अपवर्त्तित	अपरिवर्त्तित
	14	वैमस्य	वैमनस्य
72	9	जैनो का	जैनो के
	10	विभाग का	विभाग की
	15	ईक्ष्राकु	ईक्ष्वांकु
73	22	कठिस	कठिन
	24	फिर	और
73	26	निर्मल	निर्मूल
	29	उल्लेखो	उल्लेखो से
74	8	रोहिल ग्वण खण्ड	रोहिलखण्ड
75	26	उपलव्ध	अवध
76	31	ऐतिहामिक	ऐतिहासिक उल्लेख किये हैं परन्तु इनको मसार के इतिहास
	32	ज्ञात का	ज्ञात
77	8	और	फिर
	26	अन्धकारो	अधिकारो
79	4	थे राजज्योतिपि नाम	थे । राजपि नमि
	26	नदनी	लदनी
80	1	यह स्पष्ट पश्चात्	पश्चात्
	1	ग्रीरा	ग्रीस
	5	त्रिशला	त्रिशला लिच्छवी
	8	पालना	पालता
81	9	को वीतमय	के वीतमय
	28	म्भवतया	सभवतया
	31	सौ वीर को पश्चिक	सौ वीर पश्चिम
82	18	के अनहिज	को अनहिल
86	3	मृगावती और	और मृगावती
	11	सानीक	ससानीक
	13	2य	द्वितीय
89	17	दीएक	दीपक
91	18	राजो केसा	राजाओ के साथ
93	8	की	का
94	4-5	यही का	का यही
	8	वडा	वाडा
	24	घनपद	जनपद
95	4	सम्वन्ध	सम्वद्ध
96	24	अन्यायियो	अनुयायियो
104	2	सन्देह	सन्देश
	4	अभिलिखित	अच्छी अभिलिखित
	30	श्रेणिक का	श्रेणिक को

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
144	7	वर्षंको से	वर्षा को ने
147	4	मगध को	मगध का
	8	जिम विजयजी	जिन विजयजी
	8	को	की
	11	को	के
	20	विहारो का	विहारो को
	20	भिक्षुम्रो को	भिक्षुम्रो का
149	2	सु गवश का	सु गवश की
	5	ती	तो
	26	को	का
150	2	को	के
	9	प्रदेश	प्रवेश
	12	2म	प्रथम
	26	या	था,
151	2,6	1म	प्रथम
	7	को	के
	11	सुदू	सुदूर
	14	को	का
	17	इसे	इसके
152	3	को खोने	के होने
	13	जयहिन्द	चिन्ह
	25	प्रकार	प्रकार की
	32,33	वर्द्ध	चक्र
153	5	अ श	अन्धा
	16	2य	द्वितीय
	23	ही दिगम्बर	दिगम्बर ही
154	26	खडें	खड़े
	29	ममती	भमती
155	5	को	का
	29	को	की
156	14	ही	यही
	16	परिणाम	परिमाण
157	3	उदारता	उदारता से
	6	पूर्वग्रहो	पूर्वाग्रही

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
158	22	गर्दीमल्ल	गर्दभिल्ल
159	3,9	गर्दीमल्ल	गर्दभिल्ल
	20,36	गर्दीमल्ल	गर्दभिल्ल
160	4	गर्दीमल्ल	गर्दभिल्ल
	8	मरूच	भरुच
	9	जैन साधू ..द्वारा	वादी आर्य खपुट नामक जैन साधु द्वारा
	10	स्थापनयावसाह।	स्थापना या वसाहट
	12	महान को	महान के
161	3	पदालिप्त	पादलिप्त
		होना	होनी
	6	सम्यात्व सप्तति	सम्यक्त्व सप्तति
	16	परोक्ष	परीक्षा
	20	सेवारा	द्वारा
162	5	को	के
	19	अजमानादि	अपमानादि
163	28	पादलिप्त	पादलिप्त
164	6	कबीलो	कबील
	14	सह	सब
	15	प्रतिष्ठार्थक लिए	प्रतिष्ठार्थ
	20,23	भण्डो	इण्डो
165	8	सत्रपो	क्षत्रपो
	18	1म...माह सत्रप	प्रथम और स्ट्रेटो द्वितीय की नकल कर क्षत्रप और महाक्षत्रप
166	6	1म काल की	प्रथम काल के
	25	समूह	समूह भी
		कि भी	कि
		कि जो	जो
167	2	विभिन्नडता	विभिन्नता
	4	को जैन पाद पीठ को	के जैन पाद पीठ का
	30	करना	करना सम्भव

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
169	3	श्राविक	श्राविका
	26	92	62
	27	दानोल्लेखश	दानोल्लेखांश
	28	लेखे	लेख्य
170	2	असिलिखित	अभिलिखित
	22	इण्डोसिलिक	इण्डोसिथिक
	24	को	के
171	26	गर्दभ ल्लो	गर्दभिल्लो
172	12	त्य	द्वितीय
	14	राजो को	राजाओं की
173	1	को	का
	3	के	को
	8 12	1म	प्रथम
	17 27	1म	प्रथम
	25	प्रत्यलोक	मत्यलोक
175	15	का इसके	का
176	3	यहा	पहा
	6	यद्याभाय	यदाभाय
177	2	मूल	भूल
	20	युवान वाग	युआनच्वाग
178	10	होना	होने
	21	को कोई	का कोई
	24	के	को
179	1	या	था
	3	पाया	पाडा (डाला)
	14	को ही	का
	17	ने	से
182	10	स्त्रोत	स्तोत्र
	19	विद्वानां	जिनानों
184	1	पहण्ण	पइण्णा
	9	यादेसासुयस्कध	या दसासुय स्कध
	12	उत्तरउभयण	उत्तरज्भयण
	14	दो सूत्र	दो चूलिका सूत्र
184	19	साधुआ	साधुओं को
	25	अश	अङ्ग
	29	को	से
186	7 8	साक्षी प्राचीन लिपिक	प्राचीन लिपिक साक्षी
	8	को	के
	17	को हैं	के निष्णात को भी य सिद्धात ग्रथ वैसे ही लगते है।
	20	से प्रयुक्त से	से
187	12	ग्रथ के	ग्रथ
	17	दृष्टि	दृष्टि द्वारा
189	4	यत्र तत्र	यत्र तत्र
	12	में	मैं
	15	विषय	विजय
	16	चितौनी	चेतावनी
	21	चिकटी	चिमटी
192	16	जाने	जाने का
193	11	सूर्यासदेव	सूर्याभदेव
	14	कैसी	केशी
194	15	पहण्णो	पयन्ना
	17	भूण	भ्रूण
195	15	मूल पाठा	मूल पाठ
196	7	दृष्टुति	दृष्टान्त
	11	शयम्भव	शयभव
	17	य पवित्र	पवित्र
	24	म	में
	27	पवित्रमण	पडिक्कमण
197	9	मगधी	मागधी
	11	अथ मागधी	अध मागधी
	11	बहुश्राण	बहुर्तांग
	13	सीमा पर	सीमा पार
	23	को	की

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
197	24	विद्द्यवभोग्य	विद्वद्भोग्य
		स्त्रोत	स्तोत्र
198	2	पिण्ड ओर	पिण्ड और
	5	कम	कभी
	10	सूत्रकृताक	सूत्रकृताङ्ग
	14	को	के
	26	इसमे	इससे
199	2	समयमयी	समसमयी
	3,6,7	स्त्रोत्र	स्तोत्र
	21	कास	उस
	21	सम्प्रदायो से	सम्प्रदायो मे
202	12	विद्वद्यभोग्य	विद्वद्भोग्य
204	4,6	स्थापित (त्य)	स्थापत्य
	18	समूह दोनो ही	दोनो ही समूह
	24	को	के
205	1	धाम	धाम
	2	विवाद	बिहार
	9	करवा	करना
	11	स्थापितो	स्थापत्यो
	19	को	का
	26	मथुरी	मथुरा
	30	नही दो थी	नही थी
206	1	विभिन्नताओ हमे	विभिन्नताओ के साथ साथ विद्यमान था। यही विभिन्नता हमे
	4	उनकी	उनका
	5	की	किया
207	29	गुफाओ	गुफाओ मे
208	1	स्थपित	स्थापत्य
	5	वावजुद परन्तु	वावजूद
	9	कि याने और सुधारने	किया और सुधारा
	28	मनुष्य ने पहले	मनुष्य पहिले
	29	पहले सज्जा	पहिल सज्जा
208	29	रूपो का	रूपो को
209	15	सिवा	सिवाय
	6	स्वस्थ्य	स्वस्थ
	30	प्रश्नो	प्रश्न
210	3	अवश्य ही विपय	विपय अवश्य ही
	22	को	के
211	19	यहा नही	यही नही
	26	तत्वो	तत्वो का
212	4	स्थगित	स्थापित
213	1	नही	कही
	10	मग्नता	नग्नता
	11	.. ठी	भू ठी
	25	शिष्यो	शिल्पो
	27	यक्षो	यक्षणिया
214	9	वस्तु	वस्त्र
	31	शिल्पे	शिल्पो
215	5	है कि वह है	है वह है
	31	को	का
219	8	1838	1837
223	6	1924	1925
	31	इज	एज
224	23	1824	1884
225	18	महता नि वि	मेहता ना. चि.
226	27	हीरालाला/...भाग 1	हीरालाल/... भाग 2
227	1	स्पेक्ट/...भाग 1	स्पेक्ट/...भाग 2
229	6	जैनतत्त्वज्ञन	जैन तत्त्वज्ञान
	12	269	369

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
105	2	वल	काल
	3	मम्पत्ति	सम्मति
	3	कारावास में	कारावास म उसन
	14	जाते	चाहते
	19	मुण	मेरी
	20	उम पव	उसके पूव
	28	दुर्भाग्यपूरा	दुर्भाग्यपूर्ण
	30	शास्त्र मतभेद	शास्त्रपोमतभेद
	31	भरक्स	भरसक
	32	धर्माचाय	धर्माचार्यों
106	2	वुद्ध मनु	(युद्ध मनु)
	16	यु क्त	उपयु क्त
107	4	मूत	भूल
	6	मास	मास
109	26	सीफ	सिफ दो
110	26	1म	प्रथम
112	6	वँदराज	नदराज
	16	इसका समथ इसका समथन	इसका समथन
113	35	मदा	मद्रा
114	16	150	155
115	1	बिदुसार मथन	बिन्दुसार
116	17	मनय	समय
	24	पुष्यमित्र	पुष्यमित्र
		स्थापन	स्थापित
117	2	आचाय	आचाय थ
	13	होता	होत है
		दक्षिण	दक्षिण
	19	जोवम क	जीवन के कहा
	23	मुनि की	मुनि क
123	4	श्रमणा के	श्रमणा को
	13	मलीक	मलीक म
125	7	जाता	जाता
126	8	विनय	विजय
127	9	जन धम का	जैन धम क
	23	प्राय	प्राय
129	14	भी निम्न आज	आज भी
	27	स्थपित	स्थापत्य
130	22	गूफी	गुफा
	25	प्रणा	परो
131	12	स्त्रिया	शासन दविया
	15	द्वितीय	अद्वितीय
	19	कुरती	कुर्सी
132	20	रानीकूर स	रानीकूर
133	18	खुदी हुयी	खुदा हुआ
135	27	कष्ठ	काष्ठ
137	15	स्वर्गी पडितजी की	स्वर्गीय पण्डितजी का
	17	ते	तो
	34	था । ही	था ही ।
138	10	पत्ति केश का	पत्ति का
139	8	मातय	माध्य
	15	नातिया	भिक्षो
	18	था	था था
140	7 8	1म	प्रथम
	11	राज	राजा
	1	या पारावतन	यह पुनरावतन
		इतिहासना	इतिहासक
	13	राज्य का प्रारम्भ	राज्य क आठवें वर्ष म यान लगभग
	20	प्रथय	प्रथम
	30	पद परमष्ठिन	पद परमष्टि
141	17	विरुद्ध	विरुद्ध
	27	आर्यिकाग	गमा आर्यिकाग
142	10	विषय	विदम
	14	गारदन	गारदन
143	26	उद्धरण	उदन्य
144	6	इस ओर	इस ओर